काल में अस्तित्व-नास्तित्व होने से यह (सहानवस्थान लक्षण) विरोध होना संभव नहीं है। यदि इन (अस्तित्व और नास्तित्व) में काल भेद हो तो जिस काल में जीव वस्तु में अस्तित्व हो, उस काल नास्तित्व नहीं होगा, तब सब ही वस्तुयें एक जीवस्वरूप ही ठहरेंगे तथा यदि नास्ति के काल में अस्तित्व न माना जावे तो बंध मोक्ष आदि का व्यवहार नहीं हो सकेगा; अत: सहानवस्थान लक्षण विरोध भी संभव नही है तथा **प्रतिबंध्य प्रतिबंधक रूप विरोध** फल के और टहनी के है। जब तक संयोग है, तब तक फल लगा होने पर भी गिरता नहीं है; क्योंकि टहनी फल की प्रतिबंधक है, फल को गिरने नहीं देती। ऐसा विरोध भी अस्तित्व नास्तित्व में नहीं है। अस्तित्व है वह नास्तित्व के प्रयोजन को रोकता नहीं और न ही नास्तित्व अस्तित्व के प्रयोजन को रोकता है। इन दोनों के प्रयोजन अलग-अलग हैं; अत: इनमें कथन मात्र विरोध है, वह विरोध को सिद्ध नहीं करता है,ऐसा जानना।

इस तरह चौथे अध्याय में चार निकाय के देवों के स्थान भेद सुख आदि जघन्य उत्कृष्ट स्थिति लेश्या आदि का निरूपण किया।

।। छप्पय ।।

देव चारि परकार भेदयुत भाषे स्वामी।
तिनके बीस निवास अधो मध्य ऊरध नामी।।
तिन दुति सुख पर अपर आयु परभाव अवधि फुनि।
लेश्या भाव विच्यारि आदि नीकै आगम सुनि।।
अध्याय तुरिय इम उच्चग्रो जानि जिनेश्वर सेवकूं।
सरधो भलैं तजि मिथ्यात्व कुटेव कूं।।

इस प्रकार जिसमें तत्त्वार्थ का अधिगम है - ऐसे मोक्षशास्त्र में चतुर्थ अध्याय पूर्ण हुआ।

पंचम अध्याय

दोहा

सकल द्रव्य पर्याय कूं जाने तजे रुषराग।
अद्भुत अतिसै जिन धरैं नमूं ताहि बडभाग ।।१ ।।

जिन्होंने सकल द्रव्य पर्यायों को जाना है, राग-द्वेष को तज दिया है तथा अद्भुत अतिशय को धारण किया है, उन जिनदेव को मैं नमन करता हूँ।

इस प्रकार मंगल करके पंचम अध्याय की वचनिका लिखते हैं। सर्वार्थसिद्धि नामक संस्कृत टीका के कर्ता (आचार्य पूज्यपाद) कहते हैं कि सम्यग्दर्शन के विषयभावों में जो जीव आदि पदार्थ कहे, उनमें से जीव पदार्थ का व्याख्यान तो हो चुका। अब आगे अजीव नामक पदार्थ क्रम में विचार के लिये प्राप्त हुआ है, उसका नाम तथा भेद कहने के लिये सूत्र कहते हैं -

।। अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गला: ।। ५-१ ।।

अर्थ : धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल - ये अजीव काय हैं। यहाँ काय शब्द शरीर के अर्थ में है, फिर भी उपचार से यहाँ इसका अध्यारोपण किया है। जैसे शरीर पुद्गल द्रव्य के प्रचय अर्थात् समूह है, वैसे धर्म आदि द्रव्य भी प्रदेशों के समूह रूप है; अत: इनको भी काय की तरह काय नाम से कहा गया है तथा इन्हें जीव रहित होने के कारण अजीव कहा गया है। यहाँ विशेषण विशेष का संबंध है; अत: कर्म धारय समास है।

यहाँ **कोई पूछता है** - नीलाकमल इत्यादि में विशेषण विशेष्य का योग होने भी व्यभिचार है। नीली तो अन्य वस्तुएँ भी होती हैं; अत: व्यभिचार के प्रसंग के कारण कर्मधारय समास हो जाता है। यहाँ अजीव काय में क्या व्यभिचार है (इनके अतिरिक्त और कौनसी वस्तुयें अजीव काय होती हैं, जो कर्मधारय समास किया है) ?

उससे कहते हैं - अजीव शब्द कायरहित काल द्रव्य में भी वर्तता है (काल द्रव्य भी अजीव है) तथा जीव भी काय सहित है; अत: यहाँ यह समास बन जाता है।

फिर पूछते हैं - काय शब्द किस अर्थ में है ?

उससे कहते हैं - प्रदेशों का बहुत्व बताने के लिये है, धर्म आदि द्रव्यों के प्रदेश बहुत हैं।

कोई पूछता है - आगे जो सूत्र कहेंगे उसमें धर्म, अधर्म, एक जीव के असंख्यात प्रदेश बताये

हैं, उस सूत्र से प्रदेशों के बहुत्व को बताया है, इस सूत्र में किसलिये कहा ?

उससे कहते हैं – यह तो सत्य है; परन्तु वहाँ तो प्रदेशों की संख्या का नियम बताया है कि इनके प्रदेश असंख्यात ही हैं संख्यात या अनंत नहीं हैं और यहाँ बहुत्व सामान्य बताने के लिये काय शब्द जोड़ा है। पहले बहुत्व बताया और वहाँ उनकी संख्या बताई है अथवा यहाँ काल द्रव्य के प्रदेश प्रचय का अभाव बताने के लिये काय शब्द जोड़ा है। आगे बतावेंगे कि कालद्रव्य बहुप्रदेशी नहीं है, जैसे पुद्गल परमाणु एक प्रदेशी है, उसके दूसरे आदि प्रदेश (एक से अधिक प्रदेश) नहीं है, अत: उसे अप्रदेशी कहा जाता है, उसी प्रकार काल के परमाणु भी एक प्रदेशी है, अत: उसे भी अप्रदेशी कहते हैं।

तथा उन धर्म आदि द्रव्यों को सामान्य रूप से अजीव कहा जाता है, उन्हें यह संज्ञा जीव लक्षण से रहित होने के कारण प्रवर्तती है और धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल – ये उनके विशेष नाम है, जो इनमें जैसा विशेष गुण है उसका संकेत अनादि से सर्वज्ञों द्वारा किया है, उस संकेत के कारण प्रवर्तती है तथा ये संज्ञायें (नाम) सार्थक है। समस्त ही गमन करते जीव पुद्गलों को उस काल गमन में सहकारी होने रूप लक्षण को धारण करने के कारण धर्म संज्ञा है तथा इसके विपरीत जो जीव पुद्गल को उस काल स्थान सहकारी (रुकने में सहकारी) होने से धर्म का लक्षण धारण नहीं करने के कारण अधर्म संज्ञा है तथा समस्त ही द्रव्य जिसमें एक काल में (एक साथ) अवकाश (स्थान) पावें तथा स्वयं भी स्वयं को अवकाश रूप होने से आकाश संज्ञा है तथा प्रतिसमय पूरे (मिले) तथा गले (टूटे) वे पुद्गल हैं। इस तरह इनके नाम भी सार्थक है।

यहाँ **अन्यवादी सांख्य** कहता है – अजीव तो एक प्रधान ही है, जिसे प्रकृति कहते हैं।

पर ऐसा कथन प्रमाण से बाधित है; क्योंकि भिन्न-भिन्न लक्षण वाले अलग-अलग बहुत से अजीव हैं, एक ही हो इसकी सिद्धि नहीं है।

तथा जो पुरुष अद्वैत को मानते हैं, वे अजीव तत्व कहते (मानते) ही नहीं हैं, उनका मत तो प्रत्यक्ष ही विरुद्ध है। पुद्गल आदि नाना अजीव पदार्थ प्रत्यक्षसिद्ध हैं तथा यदि इनको अनित्य देखकर अवस्तु बताया जाता है तो जीव भी अनित्य ही दिखता है, वह भी अवस्तु ठहरेगी तब सर्व का ही लोप होगा।

यहाँ अदृष्ट की कल्पना करके एक ब्रह्म ही कहते हैं तो जीव पदार्थ के बिना उसको देखेगा कौन ? देखने वाला यदि अवस्तु है तो अवस्तु का देखा सत्य कैसे होगा ? यदि उसे आगम के कथन मात्र से माना जावे तो आगम भी अवस्तु आगम को मानने वाला भी अवस्तु। तब अदृष्ट (एक ब्रह्म ही है) कल्पना मात्र ही हुआ। इत्यादि युक्तियों से पुरुष के अद्वैत की सिद्धि नहीं होती है।

तथा पृथ्वी, अप, तेज, वायु, मन, दिशा, काल, आकाश – ऐसे अजीव पदार्थ के भेद नैयायिक वैशेषिक (मत वाले) मानते हैं। वह भी प्रमाण बाधित है; क्योंकि पृथ्वी, अप, तेज, वायु, मन – ये तो पुद्गल द्रव्य ही है, अलग कोई जाति नहीं है। भेद संघात से स्कंध रूप में मिलते टूटते हैं एवं दिशा है वह आकाश ही का भेद है, कोई अन्य द्रव्य नहीं है। आकाश के प्रदेशों की पंक्ति में सूर्य के उदय आदि के वश पूर्व आदि दिशा कही जाती है तथा बौद्धमती एक स्कंध मात्र को अजीव मानता है, वहाँ स्कंध तो पुद्गल द्रव्यमय है ही। यहाँ धर्म आदि द्रव्य अलग बताये, इनका समर्थन आगे होगा।

आगे पूछते हैं – सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य इत्यादि सूत्र में द्रव्य शब्द कहा वे द्रव्य कौन है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। द्रव्याणि ।। ५–२ ।।

अर्थ : धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल – ये जो अजीव काय बताये हैं, इनको द्रव्य भी कहते हैं; क्योंकि ये द्रव्य है। जो अपना जैसा स्वरूप है, उससे पर्यायों को द्रवति अर्थात् प्राप्त हो अथवा वे पर्यायें जिनको प्राप्त हों वे द्रव्य है।

यहाँ **अन्यवादी** कहता है – द्रव्यपने के योग अर्थात् संबंध से द्रव्य है यह बनता नहीं। ऐसा कहने पर द्रव्यत्व की तथा द्रव्य की ही सिद्धि नहीं होती है। जैसे दण्ड और पुरुष दोनों भिन्न-भिन्न सिद्ध है, जब इनका संयोग होता है तब दण्डी पुरुष कहा जाता है, उस ही प्रकार द्रव्यत्व और द्रव्य अलग अलग दिखाई नहीं देते, जिनसे द्रव्यत्व के संबंध (योग) से द्रव्य सिद्ध हो। यदि अलग अलग सिद्ध हुये बिना भी संबंध कहा जावेगा तो आकाशकुसुम असिद्ध है, उसके और आकाश के भी संबंध ठहरेगा तथा स्वभाव से तो पुरुष मस्तक सहित है ही उसके दूसरे मस्तक का संबंध ठहरेगा। इस ही प्रकार द्रव्य तो द्रव्यत्व रूप है ही उसके दूसरे द्रव्यत्व का संबंध ठहरेगा अथवा आकाश के फूल के और कल्पित पुरुष के मस्तक का भी योग हो वह होता नहीं।

अथवा द्रव्य और द्रव्यत्व को अलग-अलग ही माना जावे तो द्रव्य तो अलग है ही। उसके द्रव्यत्व का योग है अत: द्रव्य की कल्पना का कोई प्रयोजन नहीं है तथा कोई कहता है – गुणों का सद्भाव अर्थात् समुदाय है, वह द्रव्य है, तब इस प्रकार भी यदि गुणों के और समुदाय के कथंचित भेद माना जावेगा तो द्रव्य का कोई अलग नाम नहीं ठहरेगा। यदि गुणों के समुदाय ही कहा जावे तो द्रव्य क्या ? तथा यदि भेद माना जावे तब भी पूर्वोक्त दोष आते हैं, समुदाय तो अलग ठहरा ही। गुणों का समुदाय क्यों कहना ? तथा वादी कहता है कि तुम भी कहते हो कि जो गुणों को प्राप्त हो तथा गुण जिसे प्राप्त करे वह द्रव्य। ऐसा कहने पर तुमने जो गुणों के समुदाय में दोष बताया वही तुम्हारे भी आवेगा?

उससे कहते है – हमारे यह दोष नहीं आवेगा; क्योंकि हम कथंचित भेद और कथंचित अभेद

मानते हैं; अत: द्रव्य के व्यपदेश अर्थात् नाम की सिद्धि होती है। यहाँ गुण और द्रव्य अलग-अलग दिखाई नहीं देते, अत: अभेद है।

तथा संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन आदि के भेद से (द्रव्य और गुणों में) भेद हैं। द्रव्य शब्द के साथ जो बहुवचन का प्रयोग है वह धर्म आदि बहुत द्रव्य है; अत: समान आधार का योग है।

यहाँ **कोई कहता है** – आपने संख्या की अनुवृति लेकर बहुवचन कहा है; पर लिंग की अनुवृति होनी चाहिये थी, पिछले सूत्र में धर्म आदि के पुरुष लिंग का बहुवचन है। यहाँ नपुंसक लिंग क्यों ?

उससे कहते हैं – यहाँ द्रव्य शब्द है, वह नपुंसक लिंग ही है जो अपने लिंग को नहीं छोड़ता है; अत: नपुंसक लिंग ही युक्त है। इस तरह धर्म आदि द्रव्य हैं।

यहाँ **कोई कहता है** – द्रव्य, गुण, पर्याय-ये तीन कहे वे भिन्न-भिन्न हैं।

ऐसा नहीं है। इनमें प्रदेश भेद तो नहीं है; पर संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन आदि से भेद भी कहा जाता है।

आगे कहते हैं – धर्म आदि से लगता (के तुरंत बाद) ही द्रव्याणि सूत्र कहा है, इससे ये चार ही द्रव्य हैं, ऐसा प्रसंग आ सकने के कारण अन्य भी द्रव्य हैं ऐसा सूत्र कहते हैं –

।। जीवाश्च ।। ५-३ ।।

अर्थ : जीव भी द्रव्य है। जीव शब्द का अर्थ (लक्षण) तो पहले कह आये हैं वही जानना तथा बहुवचन है वह कथन किये गये जीव के भेदों को बताने के लिये है तथा च शब्द द्रव्य संज्ञा को ग्रहण कराता है। इस तरह अर्थ यह होता है कि जीव है वे भी द्रव्य है तथा आगे ऐसा कहेंगे कि कालद्रव्य सहित (कुल) छह द्रव्य हैं तथा द्रव्य का लक्षण भी गुणपर्ययवत् द्रव्यं है ऐसा कहेंगे। इस लक्षण से धर्म, अधर्म, आकाश, जीव, पुद्गल, काल-इन छहों को द्रव्य नाम से कहा जाता है। यहाँ इनकी गिनती से कुछ अर्थ नहीं है तथा गिनती है वह भी नियम के लिये है कि द्रव्य छह ही हैं। अन्यवादियों द्वारा कल्पित पृथ्वी आदि नव द्रव्यों का निषेध (इससे) होता है; क्योंकि पृथ्वी, अप, तेज, वायु, मन – ये सब तो रूप, रस, गंध, स्पर्श वाले हैं; अत: पुद्गल द्रव्य में गर्भित है।

यहाँ **कोई कहता है** – वायु मन के रूप आदि का योग दिखाई नहीं देता है।

उससे कहते हैं – वायु तो स्पर्श वाली है; अत: रूप आदि से अविनाभावी है। जहाँ स्पर्श होता है, वहाँ रूप आदि होते ही होते हैं, यह नियम है जैसे घट आदि हैं उसी प्रकार।

यहाँ **वह कहता है** – नेत्रों से तो वायु का रूप दिखता नहीं है।

उससे कहते हैं – इस प्रकार तो परमाणु भी नेत्रों से नहीं दिखता है उसके भी स्पर्श आदि का अभाव ठहरेगा। इस ही प्रकार जल भी स्पर्श वाला है; अत: पृथ्वी की तरह गंधवान अवश्य है तथा

अग्नि भी स्पर्शवान है; अत: रंग गंधवान है तथा मन है वह दो प्रकार का है – द्रव्यमन भावमन। इनमें से भावमन तो ज्ञान ही है, जो जीव का गुण है; अत: आत्मद्रव्य में गर्भित हुआ। एवं द्रव्यमन है वह रूप आदि के योग से पुद्गल द्रव्य का विकार (विशेष कार्य) है और यह ज्ञानोपयोग के लिये निमित्त है, अत: नेत्र इन्द्रिय की तरह रूप आदि सहित ही कहा (माना) जाता है।

यहाँ **तर्क :** शब्द मूर्तिक है जो ज्ञान के लिये कारण है, उसी प्रकार मन भी रूप आदि रहित अमूर्तिक ज्ञान के लिये कारण है, तब मूर्तिक साधन में, हेतु में व्यभिचार हुआ।

समाधान : ऐसा नहीं है। शब्द भी पुद्गलजन्य ही है; अत: मूर्तिक ही है।

अन्यवादी **तर्क** करता है – एक परमाणु का रूप आदि सहित कार्य देखा जाता है, अत: रूपादि वाला कहा जाता है, पर वायु मन का उस प्रकार रूप आदि सहित कार्य देखा नहीं जाता।

समाधान : वायु और मन के भी रूपादि कार्यों की प्राप्ति बनती है, क्योंकि परमाणु मात्र सब ही के रूपादि कार्य सहितपना है। ऐसा तो है नहीं कि किसी पृथ्वी से उत्पन्न जाति विशेष के परमाणु अलग ही हों। सब ही परमाणुओं का पलटना देखा जाता है। पृथ्वी से जल हो जाता है, जल से पृथ्वी हो जाती है, अग्नि से पृथ्वी हो जाती है, काष्ठ आदि पृथ्वी से अग्नि हो जाती है, इस तरह परस्पर जाति का संकर (पलटना) देखा जाता है। अत: वायु और मन के परमाणु कुछ अलग प्रकार के तो हैं नहीं, सभी पुद्गलद्रव्य के विकार (विशेष कार्य) हैं।

तथा दिशा का आकाश में अन्तर्भाव होता है। सूर्य के उदय आदि की अपेक्षा आकाश के प्रदेशों में पूर्व दिशा आदि का व्यवहार होता है।

यहाँ **बौद्धमती** कहता है – चैतन्य क्षणिक है उसकी सन्तान कल्पना की गयी है, उसे जीव कहते हैं। तथा चार्वाकमती कहता है – पृथ्वी आदि के समुदाय से चैतन्य उत्पन्न होता है, उसे जीव कहते हैं इत्यादि प्रकार की कल्पानायें करते हैं उनका निराकरण जीवद्रव्य कहने से होता है; क्योंकि द्रव्य है वह गुणपर्याय सहित है। उनमें गुण तो सत् से अन्वयरूप है और पर्यायें व्यतिरेक रूप हैं एवं द्रव्य दोनों सहित हैं ऐसा जानना।

आगे जो द्रव्य कहे हैं उनका विशेष बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। नित्यावस्थितान्यरूपाणि ।। ५–४ ।।

अर्थ : कहे गये द्रव्य नित्य है, अवस्थित है और अरूपी है। नित्य तो ध्रुव को कहा जाता है, क्योंकि नि धातु के ध्रुव अर्थ में नित्य शब्द को उत्पन्न किया है। ये धर्म आदि द्रव्य है वे गति हेतुत्व आदि विशेष लक्षणों से तथा अस्तित्व आदि सामान्य लक्षणों से द्रव्यार्थिक नय के आदेश (की दृष्टि) से किसी भी काल में व्यय अर्थात् नाश को प्राप्त नहीं होते, अत: नित्य है। आगे सूत्र के द्वारा नित्य

का लक्षण तद्भावाव्ययं नित्यं ऐसा कहेंगे। तथा ये द्रव्य इतने (छह) ही हैं। इस संख्या को नहीं छोड़ते, अत: अवस्थित कहे जाते हैं, धर्मादि द्रव्य छह ही हैं, इस संख्या का उल्लंघन नहीं करते। यहाँ भी सामान्य विशेष लक्षण रूप द्रव्यार्थिक नय का ही कथन समझना तथा जिनके रूप विद्यमान नहीं है, उन्हें अरूपी कहते हैं। यहाँ रूप का निषेध होने से उसके सहचारी जो रस गंध स्पर्श है, उनका भी निषेध जानना; अत: ये द्रव्य अरूपी अर्थात् अमूर्तिक हैं।

यहाँ **प्रश्न :** नित्य और अवस्थित इन शब्दों का अर्थ विशेष जानने में नहीं आया।

तब कहते हैं – द्रव्य में अनेक धर्म हैं, वे द्रव्यपने से सदा विद्यमान है यह तो नित्य शब्द का अर्थ है तथा द्रव्य में विशेष लक्षण हैं उनको नहीं छोड़ते हैं। चेतन से अचेतन नहीं हो जाता, अमूर्तिक से मूर्तिक नहीं हो जाते, इसलिये द्रव्यों की संख्या निश्चित है – यह अवस्थित शब्द का अर्थ है।

इस सूत्र से अन्यमती जो वस्तु को एकान्त से क्षणिक ही मानते हैं अथवा सत्ता मात्र एक ही वस्तु मानते हैं, उनका निराकरण हुआ। तथा कुछ अन्यमती कहते हैं कि द्रव्य सर्वगत होता है, वहाँ अमूर्तिक कहने से उसका निराकरण है; क्योंकि जिसमें रूप आदि पाये जाते हैं यह मूर्तिक का लक्षण है। ऐसा मूर्तिकपना जिसमें न हो वह अमूर्तिक है ऐसा जानना।

आगे नित्यावस्थितान्यरूपाणि यह सूत्र सामान्य से कहा है, इससे पुद्गल के भी अरूपीपने का प्रसंग आता है (पुद्गल भी अरूपी भासित होता है) इसके निषेध के लिये विशेष सूत्र कहते हैं –

।। रूपिण: पुद्गला: ।। ५–५ ।।

अर्थ : पुद्गल हैं वे रूपी है। रूप शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। पर यहाँ रूपादि का अर्थ आकार रूप मूर्तिक है। जिसके रूप होता है वह रूपी ऐसा अर्थ होने पर मूर्तिमान रूपी हुआ। अथवा रूप एक गुण का नाम है, अत: जिसमें रूप गुण हो उसे रूपी कहा जाता है। ऐसे रूप में अविनाभावी रस गंध स्पर्श भी गर्भित हुये। तथा पुद्गला: यहाँ बहुवचन है सो पुदगल के भेद बहुत है यह ज्ञान कराने के लिये है। (उसके भेद) स्कंध परमाणु आदि है यह आगे कहेंगे। यदि सांख्यमती जिस प्रकार प्रकृति को अरूपी एक मानते हैं उस ही प्रकार मान लिया जावे तो समस्त लोक में मूर्तिक कार्य (वस्तुयें एवं उनके कार्य) देखे जाते हैं, अत: उनसे विरोध प्राप्त होगा।

आगे पूछते हैं कि धर्म आदि द्रव्य हैं वे पुद्गल की तरह भिन्न अनेक हैं क्या ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। आ आकाशादेकद्रव्याणि ।। ५–६ ।।

अर्थ : धर्म, अधर्म, आकाश ये (तीन) तो एक द्रव्य हैं। यहाँ आङ् उपसर्ग है वह अभिविधि अर्थ में है अत: सूत्र में धर्म, अधर्म, आकाश कहें है उनमें आकाश तक के तीनों द्रव्यों को ग्रहण

करना चाहिये तथा एक शब्द है वह द्रव्य का विशेषण है; अत: एक द्रव्य है ऐसा कहा।

यहाँ **तर्क :** यदि ऐसा है तो द्रव्य शब्द के बहुवचन अयुक्त (ठीक नहीं) है।

समाधान : धर्म, अधर्म, आकाश ये तीन है, इस अपेक्षा बहुवचन है। एक शब्द में अनेक अर्थों की प्रतीति उपजाने की सामर्थ्य होती है।

यहाँ पुन: **तर्क :** तब एक एक ऐसा शब्द क्यों नहीं कहा ? जिससे सूत्र में अक्षर कम होते और द्रव्य का ग्रहण अनर्थक होता।

समाधान : यहाँ द्रव्य की अपेक्षा एकत्व कहना है, अत: द्रव्य का ग्रहण है। क्षेत्र और भाव की अपेक्षा असंख्यात अनंत भेद हैं; क्योंकि जीव पुदगल की तरह इन तीन द्रव्यों के बहुतपना नहीं है। ऐसा अर्थ सूत्र से प्रसिद्ध होता है।

आगे अधिकार रूप किये (कथन में चल रहे) धर्म, अधर्म, आकाश इन तीनों द्रव्यों का विशेष बताने के लिये सूत्र कहते हैं।

।। निष्क्रियाणि च ।। ५-७ ।।

अर्थ : ये तीनों द्रव्य क्रिया से रहित हैं। बाह्याभ्यंतर इन दोनों (प्रकार के) निमित्त के वश से द्रव्य के एक क्षेत्र से अन्य क्षेत्र में गमन करने का कारण उत्पन्न जो अवस्था विशेष रूप पर्याय वह क्रिया है। यहाँ दोनों निमित्त कहे हैं। उनमें अभ्यंतर (निमित्त) तो क्रियापरिणाम शक्ति से युक्त होना है और बाह्य परद्रव्य की प्रेरणा अथवा टक्कर आदि हो - ऐसे ये दोनों (प्रकार के) निमित्त है। यहाँ निमित्त कहा होने से द्रव्य के स्वभाव का निषेध है (अर्थात् अर्थ यह है कि क्रिया इन द्रव्यों का सदा वर्तमान स्वभाव नहीं है)। यदि क्रिया स्वभाव ही हो तो निरंतर क्रिया ही होती रहे; अत: (क्रिया को इनका वर्तमान) स्वभाव नहीं मानना तथा क्रिया को द्रव्य की ही अवस्था कही है इसलिये ऐसा जानना कि क्रिया गुण से भिन्न नहीं है तथा (क्रिया को) देशान्तर की प्राप्ति का कारण कहा, इससे इसे गुणरूप नहीं जानना। इस परिस्पंदन रूप क्रिया से रहित हों उन्हें निष्क्रिय कहते हैं।

यहाँ **तर्क :** यदि धर्मादि द्रव्य क्रिया रहित हैं तो इनके उत्पाद नहीं होगा, क्योंकि परिस्पंदनरूप क्रियापूर्वक ही घट आदि का उत्पाद देखा जाता है और जब उत्पाद नहीं होगा तो नाश (व्यय) भी नहीं होगा और तब सभी द्रव्यों के उत्पाद-व्यय -ध्रौव्य इन तीनों रूपों की मान्यता नहीं रहेगी (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्तं सत् यह सिद्धांत इनमें घटित नहीं होगा)।

समाधान : ऐसा नहीं है। उत्पाद आदि क्रिया निमित्त से ही हों (ऐसा नहीं है) इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार भी होते हैं। उनमें उत्पाद दो प्रकार का है - स्वनिमित्त, परनिमित्त। उनमें अगुरुलघुगुण के परिणमन से उत्पाद हो उसे तो स्वभावान्त (स्वभावनिमित्तक) कहा जाता है। अगुरुलघुगुण

परिणाम अपेक्षा अनंत है तथा षटस्थानपतित हानि-वृद्धि से रहित[1] है तथा आगम प्रमाण से माना (जाना) जाता है। इस ही प्रकार (षटस्थानपतित हानि वृद्धि से) व्यय भी होत्रा है तथा परनिमित्त उत्पाद व्यय है वह गाय घोड़ा आदि के प्रतिदिन की गति स्थिति अवगाहन में ये द्रव्य निमित्त है और प्रतिक्षण इन गति आदि में भेद (परिवर्तन) है, अत: इनके हेतुओं में भिन्नपना माना जाता है। इस तरह परनिमित्त उत्पाद व्यय माने गये है।

यहाँ **तर्क :** धर्म आदि द्रव्य क्रिया रहित है; अत: जीव पुद्गल को गति आदि में कारण नहीं हो सकते। जल आदि क्रियावान हैं, वे ही मत्स्य (मछली) आदि को गति आदि के निमित्त देखे जाते हैं।

समाधान : यह दोष यहाँ नहीं है। ये धर्म आदि द्रव्य जीव पुद्गल को गति आदि में निमित्त है, वह बलाधान निमित्त है, जैसे नेत्र पुरुष के लिये रूप देखने में निमित्त है। जिस पुरुष का चित्त अन्य पदार्थों में लगा हो, वह रूप को नहीं देखता। जब पुरुष का चित्त रूप देखने की तरफ हो तब नेत्र भी निमित्त होते है। इसी प्रकार यहाँ भी है। जीव पुद्गल गमन करे तब धर्मद्रव्य निमित्त होता है और जब स्थिर हो तब अधर्म द्रव्य निमित्त है। जब अवगाहे (स्थान प्राप्त करे) तब आकाश निमित्त है। ये प्रेरक निमित्त नहीं है तथा सूत्र में जो च शब्द है वह पिछले सूत्र में कहे उन तीन ही द्रव्यों के संबंध के (उन ही तीन द्रव्यों को ग्रहण करने के) लिये है। जीव और पुद्गल क्रियावान हैं।

यहाँ **कोई अन्यमती कहता है** – आत्मा सर्वगत है; अत: क्रिया रहित है। क्रिया के लिये कारण जो संयोग, प्रयत्न गुण है, उनके समवाय से पर (अन्य) में क्रिया का कारण है।

उससे कहते हैं – जो द्रव्य अन्य के लिये क्रिया का कारण होता है, वह स्वयं भी क्रियावान ही होता है, जैसे पवन स्वयं चलता है, वही अन्य को चलाता है; उसी प्रकार आत्मा भी क्रिया की शक्तियुक्त है। जब वीर्यान्तराय ज्ञानावरण कर्म का क्षय क्षयोपशम अंगोपांग और विहायोगति नामकर्म के उदय सहित हो, तब शक्ति प्रकट होकर गमन क्रिया रूप प्रवर्तन होता है। इस ही प्रकार आत्मा को हाथ आदि चलाने की क्रिया के लिये निमित्त संयोग प्रयत्नयुक्त होता है। नि:क्रिय आत्मा के संयोग प्रयत्न इन दो गुणों के संबंध ही से हाथ आदि का चलना बनता है नहीं। यहाँ दृष्टांत – जैसे दोनों अंधों के मिलने पर देखना संभव नहीं है, उसी प्रकार आत्मा की निष्क्रियता और गुण भी निष्क्रिय दोनों निष्क्रिय मिलकर अन्य में क्रिया कैसे करा सकते हैं ?

यहाँ **कोई पूछता है** – धर्म आदि द्रव्य क्रिया रहित हैं, उन्हें जीव-पुद्गल के लिये क्रिया के कारण कैसे कहते हो?

समाधान : धर्म आदि प्रेरक निमित्त नहीं कहे गये हैं, बलाधान निमित्त माने गये हैं तथा आत्मा

---

१. यहाँ ढूढारी प्रति में **रहित** शब्द ही छपा है, किन्तु **सहित** शब्द होना उचित प्रतीत होता है।

को सर्वगत कहा, वह सर्वथा सर्वगत भी नहीं है। संकोच विस्तार शक्ति के कारण असर्वगत भी है। इन इत्यादि युक्तियों से आत्मा कथंचित क्रियावान है एवं पुद्गल तो क्रियावान प्रसिद्ध ही है। धर्म, अधर्म, आकाश ये (तीनों द्रव्य) क्रिया रहित है। तथा आगे जिस काल द्रव्य का कथन करेंगे, वह भी क्रिया रहित है।

आगे पहले कहे गये अजीवकाया सूत्र में काय शब्द से प्रदेशों के अस्तित्व मात्र का तो ज्ञान कराया; परन्तु प्रदेश कितने-कितने हैं ऐसा नहीं बताया; अत: प्रदेशों की संख्या निश्चय करने (बताने) के लिये सूत्र कहते हैं –

।। असंख्येया: प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम् ।। ५-८ ।।

अर्थ : धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और एक जीव द्रव्य (इन तीनों में से) प्रत्येक के असंख्यात प्रदेश हैं। असंख्यात गणना मान के तीन भेद हैं – १. जघन्य, २. मध्यम, ३. उत्कृष्ट। इनमें से यहाँ मध्यम असंख्यात ग्रहण करना है। तथा एक अविभागी पुद्गल परमाणु जितने आकाश क्षेत्र को रोकता है, उतने आकाश को एक प्रदेश कहते हैं। धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, एक जीव द्रव्य – इन तीनों द्रव्यों के प्रदेश सब समान हैं और असंख्यात-असंख्यात है तथा धर्म द्रव्य व अधर्म द्रव्य ये दोनों तो क्रियारहित हैं और सर्व लोकाकाश में व्याप्त हुये स्थित हैं तथा जीव है वह (प्रदेशों की गिनती की अपेक्षा) उनके बराबर प्रदेशों वाला है एवं यह संकोच विस्तार स्वभाव वाला है; अत: कर्म के कारण रचित छोटे अथवा बड़े शरीर प्रमाण होकर रहता है तथा जब लोकपूरण केवलसमुद्घात होता है, तब सुमेरु पर्वत के नीचे चित्रा पृथ्वी के वज्रमय पटल के मध्य जीव के मध्य के आठ प्रदेश तो निश्चल स्थित होते हैं और अन्य प्रदेश ऊर्ध्व अध: तिर्यक समस्त लोक में व्याप्त हो जाते हैं।

आगे पूछते हैं – आकाश के कितने प्रदेश हैं ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। आकाशस्यानन्ता ।। ५-९ ।।

अर्थ : आकाश द्रव्य के प्रदेश अनंत हैं। जिसका अन्त न हो, उसे अनंत कहते हैं। इस तरह गणनामान में आकाश के प्रदेश अनंत हैं।

यहाँ **प्रश्न :** इस अनंत के प्रमाण को सर्वज्ञ जानते हैं अथवा नहीं ? यदि जानते हैं तो अनन्त कैसे कह सकते हो? और यदि नहीं जानते तो उन्हें सर्वज्ञ कैसे कह सकते हो ?

समाधान : सर्वज्ञ का ज्ञान क्षायिक है, सातिशय है; अत: उसे जानकर ही अनंत कहा है। उनके ज्ञान में तो सान्त ही है पर गणना करने पर अनंत है अथवा सभी मत वाले गणना में अनंत को मानते है। कोई कहता है लोक धातु अनंत है। कोई कहता है – दिशा, काल, आत्मा, आकाश अनंत है। कोई कहता है – प्रकृति और पुरुष को अनंतपना है। अत: ऐसा नहीं कहना चाहिये कि अनंतपना वह

है जिसको जाना न जा सके और जिसे जाना जा सके उसे अंत सहित कहें।

यहाँ **अन्यमती** कहता है – आकाश सर्वगत है; अत: निरंश है।

उससे कहते हैं – यह अयुक्त है; क्योंकि ऐसा नियम नहीं है कि जो सर्वगत हो वह निरंश भी हो। परमाणु असर्वगत है वह भी निरंश होता है तथा जैसे बड़े वस्त्र को गज आदि से नापने पर एक ही वस्त्र बहुत गज का कहा जाता है, तब वह अंश सहित भी हुआ और निरंश भी हुआ तथा उसी वस्त्र में अलग अलग अनेक स्थानों पर अलग अलग वस्तुयें देखी जाती हैं, तब प्रकट रूप से अलग अलग अंश देखे जाते हैं। उसी प्रकार आकाश के सर्वगत होने पर भी परमाणु द्रव्य से नापने पर अनंत अंश होते हैं; अत: उसे अनंत प्रदेशी कहते हैं। तब अनेक घट, मंदिर, ग्राम, नगर आदि जिसमें बसे हो, वहाँ घट का आकाश, ग्राम का आकाश, नगर का आकाश ऐसा देखा (कहा) जाता है। इसलिये एक ही आकाश द्रव्य नय से एक है, निरंश है और वही पर्याय नय से अंश सहित है।

यहाँ **वह कहता है** – यह तो कल्पना है, कल्पित अंश है।

उससे कहते हैं – सर्वथा कल्पित ही कहा जावे तो अनंत वस्तु के संबंध वाले अलग-अलग नहीं हो सकते, जहाँ घट का आकाश कहा जावेगा वहाँ सर्व वस्तुओं का उतना ही आकाश ठहरेगा। इस प्रकार तो बडा दोष आवेगा तथा गऊ आदि एक क्षेत्र में हो वहाँ से अन्य क्षेत्र में जावे तब ऐसा कहा जाता है कि गऊ यहाँ से अन्य क्षेत्र में गया, वह भी नहीं बन सकेगा। यदि आकाश सर्वथा एक निरंश ही हो तो अन्य क्षेत्र कैसे कहा जा सकता है ? कल्पना मात्र में ऐसी अर्थक्रिया होती नहीं है, कल्पित अग्नि से (भोजन) पकना आदि होता नहीं है, ऐसा जानना।

आगे कहते हैं कि अमूर्तिक द्रव्यों के प्रदेशों का प्रमाण तो बताया, अब मूर्तिक द्रव्य के प्रदेशों का प्रमाण बताना चाहिये, उसे बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ।। ५-१० ।।

अर्थ : पुद्गल द्रव्य के प्रदेश संख्यात भी हैं, असंख्यात भी हैं और च शब्द कहने से अनंत भी हैं। यहाँ च शब्द से पिछले सूत्र में अनंत शब्द था उसे ग्रहण करना। कोई कोई पुद्गल द्रव्य तो दो आदि अणु के स्कंध हैं, वे तो संख्यात प्रदेशी है। कुछ पुद्गल द्रव्य असंख्यात प्रदेशी स्कंध है तथा कुछ स्कंध अनंत प्रदेशी हैं। अनंतानंत प्रदेशों वाले स्कंध अनंत सामान्य कहा उनमें गर्भित है; क्योंकि अनंत के तीन भेद कहे गये हैं – परीतानंत, युक्तानंत, अनंतानंत।

यहाँ **प्रश्न :** लोक तो असंख्यात प्रदेशी है, उसमें अनंत प्रदेश वाले स्कंध कैसे रह सकते हैं ?

समाधान : यहाँ यह दोष नहीं है। परमाणुओं के सूक्ष्म परिणमन तथा अवगाहन शक्ति के योग से एक-एक आकाश प्रदेश में अनंतानंत परमाणु रह सकते हैं। आकाश के प्रदेशों में ऐसी अवगाहन

शक्ति है तथा परमाणु में ऐसी सूक्ष्म परिमाण (परिणमन) शक्ति है, अत: इसमें विरोध नहीं है। अल्प आधार में बहुत का अवस्थान (होना) देखा जाता है। जैसे एक चंपा की कली में होने वाले सुगंध के परमाणु सूक्ष्म परिणाम से संकुचित होकर रहते हैं तथा जब वे सुगंध परमाणु फैलते हैं, तब सर्व दिशा में व्यापक हो जाते हैं, उसी प्रकार यहाँ भी जानना। सूक्ष्म परिणाम से एक प्रदेश में स्थित परमाणु बादररूप परिणमें तब बहुत प्रदेशों को घेर लेते हैं।

आगे उपरोक्त सूत्र में कहा है कि पुद्गलों के बहुप्रदेश हैं। तब सामान्य पुद्गल कहने में परमाणु को भी बहुप्रदेशत्व का प्रसंग आता है। उसके निषेध के लिये सूत्र कहते हैं –

।। नाणो: ।। ५–११ ।।

अर्थ : परमाणु के बहुत प्रदेश नहीं है। यहाँ अणु के प्रदेश नहीं हैं, ऐसा कहा है।

यहाँ **कोई पूछता है –** परमाणु के प्रदेश मात्र क्यों नहीं है ?

उत्तर : परमाणु एक प्रदेश मात्र का है। जैसे आकाश के एक प्रदेश के भेद का अभाव है; अत: अप्रदेशपना कहा जाता है। उसी प्रकार परमाणु के प्रदेश मात्र होने से प्रदेश के भेद का अभाव है; क्योंकि परमाणु से अन्य छोटा परमाणु नहीं है इससे छोटा अन्य कुछ हो तो वह प्रदेश का भेद करे।

यहाँ **कोई कहता है –** परमाणु को अप्रदेशी कहा है; अत: इसके एक भी प्रदेश नहीं है।

उससे कहते हैं –एक भी प्रदेश न हो तो द्रव्य ही नहीं होगा; अत: द्रव्य माना जाता है तो एक प्रदेश भी मानना योग्य है। प्रदेश न हो तो अवस्तु हो जावे।

यहाँ तक अजीव तथा जीव इन पांच अस्तिकायों का कथन किया, उनके प्रधानरूप से द्रव्यत्व, नित्यत्व, अवस्थितत्व, अरूपत्व, एक द्रव्यत्व, निष्क्रियत्व स्वभाव बताये। गौण रूप से पर्यायत्व, अनित्यत्व, अनवस्थितत्व, सरूपत्व अनेक द्रव्यत्व स्वभावी भी है, उन्हें बिना कहे भी गम्यमान (ज्ञान में) जान लेना। ऐसा द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नय से सिद्ध होता है।

ऊपर कहे धर्म आदि द्रव्यों के प्रदेशों का परिमाण तो कहा, अब उनका आधार कहने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। लोकाकाशेऽवगाह: ।। ५–१२ ।।

अर्थ : ऊपर कहे जो धर्म आदि द्रव्य हैं, उनका अवगाह (स्थान) लोकाकाश में ही है, बाहर नहीं है।

यहाँ **कोई पूछे –** धर्म आदि द्रव्यों का आधार लोकाकाश है तो आकाश का आधार क्या है ?

उत्तर : आकाश स्वयं के ही आधार से है, इसका अन्य कुछ आधार नहीं है।

पुन: **प्रश्न :** आकाश को स्वयं ही के आधार कहते हो तो धर्म आदि को भी स्वयं ही के आधार

से क्यों नहीं कहते ? और यदि धर्म आदि के अन्य आधार है तो आकाश को भी अन्य आधार होना चाहिये ? तब अनवस्था दोष आवेगा।

उत्तर : यह दोष नहीं है; क्योंकि आकाश सबसे बड़ा है, परिमाण में इससे अधिक अन्य कोई नहीं है, जिसके आधार आकाश को कहा जावे। सभी तरफ आकाश अनंत है, इसलिये आकाश को धर्म आदि का आधार कहते हैं, सो यह व्यवहार नय से कहा जानना तथा एवंभूत नय से (की अपेक्षा) तो सब ही द्रव्य अपने अपने आधार से हैं। जैसे कोई पूछता है –तू कहाँ बैठा है ? तब उसका यह कहना – मैं मेरे आत्मा में बैठा हूँ – यह एवंभूत नय का कथन है; क्योंकि धर्म आदि द्रव्य लोकाकाश के बाहर नहीं है, इतना मात्र बताना ही यहाँ आधार आधेय भाव का कथन करने का फल (प्रयोजन) है।

यहाँ कोई **तर्क** करता है – पहले पीछे हो उनमें आधार आधेय भाव देखा जाता है, जैसे कूंडे में स्थान है। अत: आकाश पहले हो बाद में उसमें धर्म आदि द्रव्य रखे जावें तब आधार आधेय भाव कहा जावे। पर ऐसा है नहीं, अत: व्यवहार नय से भी आधार आधेय भाव कहना ठीक नहीं है।

समाधान : यह दोष नहीं है। एक काल में हो उनमें भी आधार आधेय भाव देखा जाता है। जैसे घट में रूप आदि हैं, शरीर में हाथ आदि हैं, ऐसा लोक में देखा जाता है तथा यदि पूछा जावे – लोक क्या ? जिसमें धर्म आदि द्रव्यों का अवगाह हो। वहाँ कहा जाता है – जिसमें धर्म आदि द्रव्य देखे (पाये) जाते हैं, वह लोक है। इस तरह लोक शब्द के अधिकरण साधन सन् प्रत्यय है। इस तरह आकाश के दो भेद हुये – लोकाकाश, अलोकाकाश। लोक (छह द्रव्य) जिसमें है वह तो लोकाकाश है और इससे बाहर अलोकाकाश है जो सभी ओर अनंत है। इस तरह लोक और अलोक का विभाग धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय (इन दोनों) के सद्भाव अथवा अभाव से है। यदि धर्मास्तिकाय न हो तो पुद्गलों और जीवों के गमन के नियम के कारण के अभाव में लोक और अलोक का विभाग नहीं होगा और यदि अधर्मास्तिकाय न हो तो स्थिति के आश्रय के निमित्त के अभाव से स्थिति का अभाव होगा (वस्तु गमन ही करती रहेगी) तब भी लोक और अलोक के विभाग का अभाव होगा; अत: इन दोनों के सद्भाव से ही लोक अलोक के विभाग की सिद्धि होती है।

आगे लोकाकाश में जिनका अवगाह है, उनके अवस्थान में विशेष है, उसका ज्ञान कराने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। धर्माधर्मयो: कृत्स्ने ।। ५–१३ ।।

अर्थ : धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य इन दोनों का अवगाह (फैलाव – निवास) समस्त लोकाकाश में है। यह कृत्स्न शब्द है वह इनकी सर्वलोकाकाश में व्याप्ति को बताता है। जैसे घर में घट होता है वैसे ये धर्म और अधर्म द्रव्य लोक में नहीं स्थित हैं। जैसे तिलों में तेल व्याप्त होता है, वैसे व्यापक

हैं तथा इनके अवगाहन की सामर्थ्य के योग से परस्पर इनके प्रदेशों के प्रवेश से व्यवधान नहीं होता है; क्योंकि ये अमूर्तिक हैं। एक पात्र में जल, भस्म, धूल डाली जावे तो इनके मूर्तिक होने पर भी परस्पर व्याघात नहीं होता है, तो इन अमूर्तिकों के (आपस में व्याघात) कैसे हो ? तथा अनादि से संबंध (इसी प्रकार चला आ रहा है) अत: विरोध भी नहीं है।

आगे मूर्तिक पुद्गल द्रव्य के एक प्रदेश से लेकर संख्यात, असंख्यात, अनंत प्रदेशों तक के स्कंध हैं, उनके अवगाह का विशेष बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। एक प्रदेशादिषु भाज्य: पुद्गलानाम् ।। ५–१४ ।।

अर्थ : पुद्गल द्रव्य का अवगाह लोकाकाश के एक प्रदेश से लेकर असंख्यात प्रदेशों तक एक दो आदि से विभाजित प्रदेशों में है। यहाँ एक प्रदेशादिषु इसका समास अवयव से किया है; अत: समुदाय अर्थ समझना तथा एक प्रदेश को भी ग्रहण करना। वही बताते हैं – आकाश के एक प्रदेश में एक परमाणु का भी अवगाह है तथा दो आदि संख्यात, असंख्यात, अनंत परमाणु वाले स्कंध सूक्ष्मरूप से परिणमें हो, उनका भी अवगाह (हो सकता) है तथा दो खुले अथवा बंधे परमाणुओं का दो प्रदेशों में अवगाह है तथा तीन आदि संख्यात, असंख्यात, अनंत परमाणुओं के स्कंधों का भी (उन दो प्रदेशों में) अवगाह है तथा तीन प्रदेशों में तीन परमाणुओं का खुली अथवा बंधी अवस्था में अवगाह है तथा (उन्हीं तीन प्रदेशों में) चार आदि संख्यात, असंख्यात, अनंत परमाणुओं वाले स्कंधों का अवगाह है। ऐसे चार प्रदेशों से लेकर संख्यात[1] तक लोकाकाश के प्रदेशों में भाज्यरूप पुद्गलों का अवगाह जानना।

यहाँ **प्रश्न :** अमूर्तिक द्रव्यों का तो एकक्षेत्र में अविरोधरूप से अवगाह हो सकता है; पर मूर्तिक द्रव्यों का वहाँ अविरोधरूप अवगाह कैसे हो ?

समाधान : इन मूर्तिक द्रव्यों में भी अवगाहन शक्ति है। तथा उनका ऐसा सूक्ष्मपरिणमन होता है; अत: विरोध नहीं है। जैसे एक घर में अनेक दीपकों का प्रकाश समा जाता है, वैसे ही जानना तथा आगम प्रमाण से जानना।

यहाँ अन्य ग्रंथ से गाथा है, उसका अर्थ इस प्रकार है –

यह लोकाकाश अनंतानंत अनेक प्रकार के सूक्ष्म और बादर पुद्गल द्रव्यों से सर्व प्रदेशों मे ठसाठस भरे वैसे संचयरूप भरा है। द्रव्य स्वभाव ऐसा ही है और स्वभाव में तर्क नहीं होता। तथा यहाँ कपासपिंड का दृष्टांत भी है।

आगे पूछते हैं – जीवों का अवगाह कैसे है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। असंख्येयभागादिषुजीवानाम ।। ५–१५ ।।

१. यहाँ ढूढारी प्रति में **संख्यात** शब्द ही छपा है, जो कि **असंख्यात** होना चाहिये।

अर्थ : लोक के असंख्यातवें भाग से लेकर (लोकपर्यन्त) जीवों का अवगाह है। यहाँ लोक शब्द की तो अनुवृति है। इस लोक के असंख्यात भाग करने पर उनमें से एक भाग को असंख्यातवां भाग कहा जाता है। उससे लेकर लोक पर्यन्त (जीवों का अवगाह) है। वही बताते हैं – असंख्यातवें एक भाग में जीव रहता है, ऐसे दो भाग, तीन भाग, चार भाग इत्यादि असंख्यात भागों में संपूर्ण लोक तक एक जीव का अवगाह जानना। संख्यात के संख्यात भेद हैं (असंख्यात के असंख्यात भेद हैं) अत: असंख्यातवें भाग में भी असंख्यात ही प्रदेश समझना तथा नानाजीव अपेक्षा तो संपूर्ण लोक है ही।

यहाँ **प्रश्न :** असंख्यातवें एक भाग में एक जीव रहता है तथा द्रव्य प्रमाण से जीवराशि अनंतानंत है, वे सब इस लोक में शरीर सहित कैसे रह सकते हैं ?

समाधान : सूक्ष्म बादर के भेद से जीवों का अवस्थान (निवास) जानना। उनमें बादर जीव तो परस्पर प्रतिघात कर सकने वाले शरीरों सहित है अर्थात् जिनके शरीर परस्पर रुकते (रोकते) हैं। तथा सूक्ष्म हैं वे शरीर सहित हैं, फिर भी सूक्ष्म भाव से एक निगोद जीव द्वारा अवगाहने (रोकने) योग्य क्षेत्र में साधारण शरीर सहित अनंतानंत जीव बसते हैं, जो परस्पर भी और बादर जीवों से भी व्याघात रूप नहीं होते; अत: अवगाहन में कोई विरोध नहीं समझना।

आगे **प्रश्न :** एक जीव लोकाकाश के प्रदेशों जितना असंख्यात प्रदेशी है, तब वह सर्व लोक में व्याप्त होना चाहिये। उसका अवगाह लोक के असंख्यातवें भाग आदि में कैसे कहा ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ।। ५–१६ ।।

अर्थ : एक जीव के प्रदेश लोक के बराबर हैं, तथापि संकोच विस्तार करके दीपक की तरह जैसा आधार हो उतने क्षेत्र में निवास कर लेते हैं। आत्मा अमूर्तिक है, तथापि कर्म के अनादि संबंध से एक हो रहा है, अत: कथंचित मूर्तिक भी कहा जाता है तथा कार्मणशरीर सहित है। उसके वश छोटे बड़े शरीर में निवास करता है। उसके वश प्रदेशों का संकोच विस्तार रूप स्वभाव है; अत: उस शरीर प्रमाण होते हुये भी लोक के असंख्यातवें भाग में रहना बनता है। जैसे दीपक को खुले में रखा जावे तो प्रकाश अमर्यादित फैलता है तथा किसी बर्तन, घट, घर आदि में रखने पर आवरण के वश उतने ही प्रमाण में प्रकाश फैल पाता है। यहाँ संकोचन के संबंध में सूखे चमड़े का दृष्टांत भी है और फैलने के संबंध में जल में तेल का दृष्टांत है।

यहाँ **प्रश्न :** यदि इस प्रकार संकुचित हो फैले तो अनित्य हुआ ?

उत्तर : पर्याय नय से अस्तित्व (अनित्य) माना ही जाता है।

यहाँ पुन: **प्रश्न :** संकोच होते प्रदेश घट (कम हो) जाते होंगे और विस्तार में प्रदेश बढ जाते होंगे।

समाधान : आत्मा का स्वभाव अमूर्तिक है, जिसे वह छोड़ता नहीं है। आत्मा के प्रदेश लोक प्रमाण असंख्यात[1] है, उतने ही रहते हैं। स्याद्वाद नय से सभी अविरोध रूप से सधते हैं।

यहाँ कोई आशंका करता है –जब संकुचता फैलता है तो किसी काल में परमाणु के बराबर भी हो जाता होगा ?

समाधान : ऐसा नहीं है, शरीर प्रमाण ही होता है। सूक्ष्म निगोदिया जीव की जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग है उसके भी असंख्यात प्रदेश हैं। उस प्रमाण से छोटा कभी नहीं होता क्योंकि संकोच विस्तार कर्म के निमित्त ही होता है।

आगे **कोई कहता है** – धर्म आदि द्रव्य प्रदेश अपेक्षा परस्पर मिल रहे हैं, अत: उनके पलटकर आपस में एकता होती होगी ?

उससे कहते हैं – एकता नहीं होती परस्पर मिले रहने पर भी वे अपने अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते।

यहाँ अन्य ग्रंथ[2] की गाथा है, जिसका अर्थ इस प्रकार है –

ये छहों द्रव्य परस्पर आपस में प्रवेश करते अवकाश (स्थान) देते हैं, परस्पर मिले रहते हुये भी अपने–अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं।

यहाँ **प्रश्न :** यदि इनमें स्वभाव भेद है तो इनके अपने–अपने स्वभाव बताओ ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकार: ।। ५–१७ ।।

अर्थ : जीव और पुद्गल इन दोनों के धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य के (क्रमश:) दो उपकार गति अर्थात् गमन और स्थिति अर्थात् रुकना है। द्रव्य के एक क्षेत्र से अन्य क्षेत्र में गमन करना तो गति है और गमन करते रुक जाना स्थिति है। ये दोनों उपकार (क्रमश:) धर्म और अधर्म द्रव्य के हैं। धर्म द्रव्य का उपग्रह (उपकार) गति है और अधर्म द्रव्य का उपग्रह स्थिति है।

यहाँ **कोई पूछता है** – यदि ऐसा है तो उपकार शब्द को द्विवचन में कहना चाहिये।

उससे कहते हैं –यह दोष नहीं है। सामान्य कथन किया है; अत: प्राप्त संख्या को शब्द छोड़ता नहीं है; अत: एकवचन ही है। जैसे साधुपुरुष का कार्य तप करना, शास्त्र पढना है यहाँ दोनों कार्यों को सामान्य रूप से एक कहते हैं इस ही प्रकार यहाँ भी जानना। यहाँ ऐसा अर्थ है कि गमन करते जीव पुद्गल द्रव्य को गमन के उपकार में साधारण आश्रय धर्मद्रव्य है, जैसे मत्स्य को गमन में जल है तथा इसी प्रकार ठहरते जीव पुद्गल को स्थिति उपकार में अधर्म द्रव्य साधारण आश्रय है जैसे घोड़े आदि को ठहरते पृथ्वी है।

---

१. यहाँ ढूढारी प्रति में 'संख्यात लोक प्रमाण' छपा है। २. पंचास्तिकाय, गाथा–७

यहाँ कोई **तर्क** कहता है – उपकार शब्द तो कहा ही है, तब सूत्र में उपग्रह शब्द निष्प्रयोजन है।

समाधान : यहाँ धर्म द्रव्य का उपकार गति में सहकारी और अधर्म द्रव्य का स्थिति में सहकारी ऐसा यथासंख्य (यथाक्रम) है। यदि उपग्रह वचन न कहा जावे तो जीवों को धर्म द्रव्य गति सहकारी और पुद्गलों को अधर्म द्रव्य स्थिति सहकारी है ऐसी यहाँ भी यथाक्रम की प्राप्ति का प्रसंग आवेगा। अत: इसके निषेध के लिये उपग्रह शब्द कहा है। यहाँ उपकार तो सामान्य कथन हुआ और उसका विशेष उपग्रह शब्द हुआ। तब ऐसा भी समझा जा सकता था कि धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य को गति स्थिति कराने का उपकार तो है नहीं और उपग्रह मात्र है। यहाँ उपग्रह और उपकार ये दोनों शब्द कर्मसाधन हैं। उनमें उपकार तो सामान्य वचन है और उपग्रह विशेष वचन है।

यहाँ पुन: **तर्क** – गति और स्थिति को धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य का उपकार कहा, पर आकाश सर्वगत है उसी का उपकार क्यों नहीं कहा ?

उससे कहते हैं – यह युक्त नहीं है। आकाश का उपकार सर्वद्रव्यों को अवगाह देना है। यदि एक आकाश ही के दो उपकार माने जावेंगे तो लोक और अलोक के विभाग का अभाव हो जावेगा।

पुन: **वह कहता है** – भूमि, जल, आदि पदार्थ ही गति, स्थिति आदि उपकार में समर्थ हैं, धर्म, अधर्म द्रव्यों से क्या प्रयोजन ?

तब कहते हैं – भूमि जल आदि तो किसी किसी द्रव्य को एक एक प्रयोजन में क्रम से समर्थ है तथा धर्म अधर्म द्रव्य हैं, वे तो सर्व ही जीव पुद्गलों को एक काल में गति स्थिति में साधारण रूप से आश्रय (निमित्त) है। तथा एक कार्य के लिये अनेक कारण होना दोष नहीं है।

पुन: **तर्क :** धर्म और अधर्म द्रव्य दोनों समान बल वाले हैं। जब धर्म द्रव्य गति करावे उसी काल अधर्म द्रव्य गति करते को रोके, तब विरोध हुआ। दोनों एक काल में हो सकते नहीं हैं।

समाधान : ये प्रेरक निमित्त नहीं हैं, बलाधान निमित्त हैं। जीव पुद्गल गमन अथवा स्थिति करे तो निमित्त हो न करें तो निमित्त नहीं हो।

पुन: **तर्क :** धर्म और अधर्म द्रव्य की उपलब्धि नहीं है, किसी के देखने में आये नहीं हैं; अत: ये हैं ही नहीं।

समाधान : ऐसा नहीं है। ये परोक्ष हैं तथा सभी मतों में प्रत्यक्ष और परोक्ष पदार्थ माने गये हैं। प्रत्यक्ष दिखाई न देने से इनका अभाव माना जावेगा तो अन्य मतों जो परोक्ष वस्तुयें मानी गयी है, उनका भी अभाव मानना होगा। तथा हम स्याद्वादियों के मत में सर्वज्ञ इन्हें प्रत्यक्ष भी देखते हैं ऐसा (शास्त्रों में) कथन है। अत: ये प्रत्यक्ष भी हैं उनके उपदेश से परोक्ष वस्तुओं का ज्ञान भी होता है। अत: ये हेतु हमारे मत में असिद्ध है।

आगे पूछते हैं – धर्म और अधर्म द्रव्य अतीन्द्रिय है, इनका निश्चय उपकार के संबंध से किया जाता है, तो साथ ही जो अतीन्द्रिय है, ऐसे आकाश द्रव्य को किस उपकार से जाना जाता है ? ऐसा पूछने पर उत्तर के लिये सूत्र कहते हैं –

।। आकाशस्यावगाहः ।।५–१८।।

अर्थ : आकाश द्रव्य का उपकार सर्व द्रव्यों को अवगाह देना है। यहाँ उपकार शब्द की अनुवृत्ति है। जीव पुद्गल आदि जो द्रव्य अवगाह लेने वाले हैं, उनको अवकाश (स्थान) देना आकाश का उपकार है।

यहाँ **तर्क :** जीव और पुद्गल द्रव्य तो क्रियावान हैं, वे अवगाह लेने वाले हैं, उनको अवकाश देना तो युक्त है, परन्तु धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य तो निष्क्रिय है और नित्य संबंध वाले हैं, उनको किस प्रकार (आकाश द्रव्य) अवगाह देता है ?

समाधान : यहाँ उपचार से अवकाश देना कहना प्रसिद्ध है। जैसे आकाश को सर्वगत कहते हैं जो नित्य और निष्क्रिय है, कहीं जाता नहीं है, फिर भी उपचार से सर्वगत कहा जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी जानना।

यहाँ **तर्क :** यदि आकाश का स्वभाव अवकाश देना है, तो वज्र आदि से पाषाण आदि का तथा दीवार आदि से गऊ आदि का व्याघात अर्थात् रुकना नहीं होना चाहिये, पर व्याघात देखा ही जाता है, अत: आकाश का अवकाश देना नहीं बनता है।

समाधान : यहाँ यह दोष नहीं है। वज्र लोष्ट आदि स्थूल हैं, उनके परस्पर व्याघात है। इससे आकाश के अवकाश देने में बाधा नहीं आती। जिन अवगाह करने वालों ही के व्याघात हो, वे ही परस्पर अवगाहन करते हैं, अत: यह आकाश का दोष नहीं है। तथा जो सूक्ष्म पुद्गल है, वे भी परस्पर अवकाश दान करते हैं।

यहाँ **प्रश्न :** यदि ऐसा है तो सूक्ष्म पुद्गल भी परस्पर अवकाश देते हैं, तब अवकाश देना आकाश का असाधारण लक्षण नहीं कहा जा सकता।

समाधान : ऐसा नहीं है। सभी पदार्थों को साधारण युगपत अवकाश देना आकाश का असाधारण लक्षण है; अत: दोष नहीं है।

वह **पुन: कहता है –** अलोकाकाश में कोई अवगाह लेने वाला नहीं है, तब अवकाश दान भी नहीं है (अत: आकाश का यह लक्षण कैसे हो सकता है) ?

समाधान : द्रव्य का स्वभाव है और द्रव्य उसका त्याग नहीं करता है। यहाँ जीव और पुद्गल जो क्रियावान हैं वे आकाश में अवगाह लेते है उनकी अपेक्षा तो अवकाश दान मुख्य है और धर्म

आदि नित्यसंबध वाले निष्क्रिय द्रव्य है उनकी अपेक्षा (अवकाश दान लक्षण) गौण है।

तथा कुछ वादी तो आकाश को अनावरण मात्र अवस्तु कहते हैं। दीवार आदि का आवरण दूर होने पर शेष भी परोक्ष वस्तु होती है तथा कुछ आकाश का गुण शब्द कहते हैं। यह भी अयुक्त है। शब्द इन्द्रियगोचर है जो मूर्तिक पुद्गल द्रव्य की पर्याय है तथा आकाश अमूर्तिक है और अमूर्तिक का गुण मूर्तिक हो नहीं सकता तथा कुछ वादी अवगाह को प्रधान का परिणाम कहते हैं। यह भी अयुक्त है क्योंकि प्रधान के विकार घट आदि को अनित्यपना असर्वगतपना और मूर्तिकपन है। वैसे आकाश के नहीं है, अत: प्रधान का धर्म नहीं है। इत्यादि युक्तियों से आकाश को अवगाह धर्म वाला कहा वह ही प्रमाण से सिद्ध है।

आगे कहते हैं – आकाश का उपकार तो बताया, अब इससे निकट ही जो पुद्गल द्रव्य है, उसका उपकार क्या है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। शरीरवाङ्मन: प्राणापाना: पुद्गलानाम ।। ५–१९ ।।

अर्थ : शरीर वचन मन प्राण अर्थात् उश्वास अपान अर्थात् नि:श्वास ये पुद्गल द्रव्य के जीव के प्रति उपकार है।

यहाँ **तर्क :** पुद्गल का उपकार पूछा था आपने पुद्गल का लक्षण बताया शरीर आदि तो पुद्गलमय हैं ही तब यह सूत्र कहना युक्त नहीं है।

समाधान : यह अयुक्त नहीं है (युक्त है)। पुद्गल का लक्षण तो आगे बतावेंगे। यहाँ तो पुद्गलों का जीव के प्रति उपकार कहने के लिये यह सूत्र है तथा यहाँ उपकार ही का प्रकरण है तथा औदारिक आदि शरीर तो कर्म की प्रकृति रूप है, वे तो सूक्ष्म हैं; अत: इन्द्रियगोचर प्रत्यक्ष नहीं हैं तथा उनके उदय से हुये नोकर्म संचय रूप हैं, उनमें से कुछ तो इन्द्रिय गोचर प्रत्यक्ष है और कुछ इन्द्रियगोचर प्रत्यक्ष नहीं हैं। उनके लिये कारण रूप जो कर्म प्रकृतियां हैं, उनका भी यहाँ शरीर में ग्रहण हुआ समझ लेना।

ये शरीर पुद्गलमय है ही और ये जीवों के होते ही है; अत: पुद्गल का उपकार कहा है। यहाँ उपकार शब्द का अर्थ केवल भला करना ही मत समझना, विविध कार्यों के लिये निमित्त हो उसको उपकार कहते हैं।

यहाँ **कोई पूछता है –** कार्मणशरीर तो आकार रहित है अत: पुद्गलमय नहीं है। आकारवान हो उसको पुद्गलमय कहना युक्त है।

उससे कहते हैं – यह कहना ठीक नहीं है। कार्मण शरीर भी पुद्गलमय ही है। उसका उदय है वह मूर्तिवान के निमित्त से पचकर उदयरूप प्रवर्तता है। जैसे तंदुल है वे जल आदि के संबंध से पकते

है, वे दोनों पुद्गलमयी है, उसी प्रकार कार्मण शरीर भी गुड, कंटक, मूर्तिक द्रव्य से पकता है। गुड, बोर, झडी आदि से मदिरा बनती है, उसको पीने पर चित्त विभ्रम रूप होता है, वहाँ ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय कर्म का उदय आया जाना जाता है। तथा गुड़ खाने पर सुख होता है वहाँ सातावेदनीय का उदय आया कहा जाता है। कांटा लगने पर दु:ख होता है, तब असाता वेदनीय का उदय आया कहा जाता है इत्यादि प्रकार बाह्यमूर्तिक द्रव्य के संबंध से पककर उदय में आता है; अत: कार्मण शरीर पुद्गलमयी है।

वचन दो प्रकार के है – द्रव्यवचन, भाववचन। उनमें वीर्यान्तराय मति श्रुत ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के होने पर अंगोपांग नामक नामकर्म के उदय से आत्मा के बोलने की सामर्थ्य होना तो भाववचन है। यह पुद्गल कर्म के निमित्त से हुआ अत: पुद्गल का कहा जाता है तथा उस बोलने की सामर्थ्य सहित आत्मा के द्वारा कंठ, तालुवा, जीभ आदि स्थानों से प्रेरित किये गये जो पुद्गल वचन रूप परिणमित हुये, वे पुद्गल ही हैं। ये श्रोत्र इन्द्रिय का विषय हैं अन्य इन्द्रियों के ग्रहण योग्य नहीं हैं। जैसे घ्राण इन्द्रिय का विषय गंध है, उस घ्राण इन्द्रिय के द्वारा रस आदि ग्रहण के योग्य नहीं है, उसी प्रकार (वचन श्रोत्र इन्द्रिय के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों से ग्रहण के योग्य नहीं है)।

यहाँ कोई **अन्यमती** कहता है –वचन मूर्तिक है यह कहना युक्त नहीं है।

समाधान : वचन मूर्तिक इन्द्रिय के तो ग्रहण में आता है तथा मूर्तिक वस्तुओं से रुक जाता है। मूर्तिक वस्तुओं से बिगड़ जाता है। मूर्तिक के धक्के से तिरस्कृत होता है अन्य दिशा से अन्य दिशा में चला जाता है; अत: अमूर्तिक नहीं है; मूर्तिक ही है।

तथा मन दो प्रकार का है – द्रव्यमन, भावमन। उनमें ज्ञानावरण वीर्यान्तराय कर्मों के क्षयोपशम से प्राप्त गुण दोषों का विचार करने और स्मरण रखने की शक्तिरूप लब्धि (की प्राप्ति) तथा उपयोग है, वह तो भावमन है यह तो पुद्गल कर्मो के क्षयोपशम से हुआ अत: पुद्गल का कहा जाता है तथा उस भावमन सहित आत्मा के अंगोपांग नामक नामकर्म के उदय से उन गुण दोष के विचार और स्मरण के लिये उपकारी जो मन रूप परिणमित पुद्गल है वे पुद्गलमयी हैं ही।

यहाँ कोई **अन्यमती** कहता है – मन तो अलग द्रव्य है रूप आदि परिणामों से रहित है अणुमात्र है उसे पुद्गलमयी कहना युक्त नहीं है।

उससे कहते हैं – ये (पुद्गलमयी) कहना युक्त है तथा उससे पूछते हैं – तुमने मन को अलग द्रव्य कहा, वह इन्द्रियों से तथा आत्मा से संबंधित है या असंबंध रूप है ? यदि असंबंध रूप है तो आत्मा का उपकारी कैसे हो ? तथा इन्द्रियों का मंत्रीत्व कैसे करे ? तथा संबंध है तो इसे आपने अणुमात्र बताया तब आत्मा के तथा इन्द्रिय के एक प्रदेश में रहता अन्य प्रदेशों में उपकार नही

करेगा। यदि यह कहो कि आत्मा के अदृष्ट गुण के वश इसका आलातचक्र की तरह सर्व प्रदेशों में परिभ्रमण है। तब उसको कहते है कि आत्मा का अदृष्ट गुण तो आत्मा की ही तरह अमूर्तिकी है, क्रिया रहित है। ऐसा होने से अन्य वस्तुओं में क्रिया कराने की सामर्थ्य से रहित है। जो पवन स्वयं क्रियावान स्पर्शवान है वह अन्य वनस्पती आदि को चलाने में कारण देखी जाती है। अदृष्ट है वह पवन की तरह नहीं है अत: अन्य में क्रिया का कारण नहीं है।

तथा वीर्यान्तराय ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम तथा जिसमें अंगोपांग नाम कर्म के उदय की अपेक्षा है ऐसे आत्मा के द्वारा कोठे से ऊँचा लिया (बाहर निकाला गया) पवन है वह उच्छवास, उसे तो प्राण कहते हैं तथा उस ही आत्मा द्वारा बाहर के पवन को अन्दर लेना वह नि:श्वास है, उसे अपान कहते हैं। ये दोनों ही आत्मा के उपकारी है जीवितव्य के कारण हैं ये भी पुद्गलमयी हैं। इस तरह मन प्राण अपान ये मूर्तिक हैं क्योंकि इनका मूर्तिक द्रव्यों से प्रतिघात आदि देखा जाता है। भय के लिये कारण रूप जो अशनिपात आदि शब्दों से मन का प्रतिघात देखा जाता है तथा मदिरापान आदि से चित्तभ्रम होने से अभिनव अर्थात् तिरस्कार कहीं का कहीं चला जाना देखा जाता है तथा हाथ से मुख को दबाने से प्राण अपान अर्थात् उच्छवास नि:श्वास का प्रतिघात अर्थात् रुकना देखा जाता है तथा श्लेष्मा कफ द्वारा अभिभव तिरस्कार देखा जाता है। यदि ये अमूर्तिक हो तो मूर्तिक से रुकें नहीं तथा प्राण अपान आदि क्रियाओं से (शरीर में) आत्मा का अस्तित्व जाना जाता है। जैसे मशीन से चलने वाली पुतली की मशीन को हिलाने (चलाने) वाला पुरुष परोक्ष छुपा हुआ मशीन को घुमाता है, तब पुतली चेष्टा करती है तब यह जाना जाता है कि इसकी मशीन को घुमाने वाला कोई पुरुष परोक्ष है। इसी प्रकार शरीर की श्वासोच्छवास आदि चेष्टा आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान कराती है।

आगे पूछते है – जैसे शरीर वचन प्राणापान गमन बोलना विचारना उच्छवास लेना ये पुद्गल के जीव के प्रति उपकार है वैसे ही अन्य भी कोई उपकार हैं क्या ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। सुखदु:खजीवितमरणोपग्रहाश्च ।। ५–२० ।।

अर्थ : सुख दु:ख जीवन मरण ये भी पुदगल के जीव के प्रति उपकार है। साता असाता वेदनीय कर्म का उदय अंतरंग कारण होने पर बाह्य द्रव्य क्षेत्र काल भाव के परिपाक के निमित्त से उत्पन्न आत्मा के प्रीतिरूप तथा क्लेशरूप परिणाम है वे सुख दुख है। तथा भवधारण के लिये कारण जो आयु नामक कर्म के उदय से भव में स्थित रहते जीव के पहले कहे गये उच्छवास नि:श्वास रूप विशेष क्रिया का विच्छेद न होना वह तो जीवित कहा जाता है तथा इस जीवितव्य का विच्छेद होना मरण कहा जाता है। ये चार भी जीव के प्रति पुद्गल के किये उपकार है। क्योंकि ये पुदगल द्रव्य के निकट होने पर होते हैं अत: पुद्गल ही के कहे जाते हैं।

यहाँ **कोई कहता है** – उपकार का तो अधिकार (कथन) चला आँ रहा है, अत: इस सूत्र में उपग्रह शब्द निष्प्रयोजन है।

उससे कहते हैं – निष्प्रयोजन नहीं है। यहाँ पुद्गल का पुद्गल पर भी उपकार दिखाना है, उसके लिये उपग्रह शब्द यहाँ है। जैसे कांसी (एक धातु) को भस्म से रगड़ा जावे तो उज्ज्वल हो जाती है, जल में कतक अर्थात् निर्मली डालने पर जल निर्मल हो जाता है, गरम लोहे पर जल डालने से ठंडा हो जाता है इत्यादि पुद्गल के पुद्गल के प्रति उपकार होते हैं अथवा इस द्रव्यकर्म को द्रव्यकर्म का उपकार है एवं सुख आदि जीव के भी परिणाम है, ऐसा भी सूचित करता है। यहाँ सूत्र में च शब्द है वह जैसे शरीर आदि है वे जीव को पुद्गल के उपकार है वैसे ही नेत्र आदि इन्द्रियां भी उपकार है उनके समुच्चय के लिये है। जो आत्मा को एकान्त से नित्य ही कहते हैं, उनके मत में सुख आदि आत्मा के हो सकते नहीं है, पर स्याद्वाद से सब सिद्ध होता है।

आगे जीव को पुद्गल का उपकार तो दिखाया, अजीवों को जीव भी परस्पर उपकार करता है, यह बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। परस्परोपग्रहो जीवानाम् ।। ५–२१ ।।

अर्थ : जीवों के आपस में भी उपकार है। यहाँ परस्पर शब्द ऐसा है जो कर्मव्यतिहार तथा क्रियाव्यतिहार में वर्तता है। व्यतिहार अथवा एक का दूसरा करे, दूसरे का पहला करे। इस तरह आपस में जीवों के उपग्रह अर्थात् उपकार वर्तता है। कैसे वर्तता है – वह बताते हैं। स्वामी के और सेवक के परस्पर उपकार है। स्वामी तो सेवक को धन आदि देकर उपकार करता है और सेवक स्वामी के कार्य करके, अहित के कार्यों का निषेध करके उपकार करता है तथा आचार्य के और शिष्य के परस्पर उपकार है। आचार्य तो शिष्य को दोनों (वर्तमान और भविष्य के भव) लोक के फल का उपदेश देकर तथा उपदेश कथित क्रिया का आचरण कराकर उपकार करता है तथा शिष्य आचार्य के अनुकूल प्रवृत्ति करके उपकार करता है।

यहाँ **कोई कहता है** – उपकार का तो अधिकार (कथन) चला ही आ रहा है। सूत्र में उपग्रह शब्द किसलिये है ?

समाधान : पिछले सूत्र में कहे सुख आदि चार को दिखाने (यहाँ भी ग्रहण करने) के लिये उपग्रह शब्द पुन: कहा है। सुख आदि भी जीवों के परस्पर में उपकार हैं। यहाँ जीवों के परस्पर उपकार बताने से ऐसा भी अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है कि जीव नाना (बहुत) ही हैं एक ही आत्मा नहीं है।

सत्तास्वरूप वस्तुयें उपकार सहित है, काल द्रव्य भी सत्तास्वरूप है, अत: उसका उपकार क्या है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। वर्तनापरिणामक्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य ।। ५-२२ ।।

अर्थ : वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्वापरत्व - ये काल के उपकार हैं। यहाँ वृति धातु के णिच् प्रत्यय प्रयोजन के हेतु कर्ता में आता है, उसके कर्म में तथा भाव में युट् प्रत्यय से स्त्रीलिंग में वर्तना ऐसा शब्द होता है। धर्म आदि द्रव्य अपनी पर्यायों की उत्पति रूप प्रवर्तते हैं वे स्वयं ही से वर्तते हैं। इस वर्तना को कोई बाह्य निमित्त भी होना ही चाहिये; क्योंकि बाह्य उपकार निमित्त के बिना वर्तना होती नहीं। इस वर्तना का समय है, वह काल का चिह्न है। अत: उस द्रव्य को प्रवर्ताने वाला कालद्रव्य है। अत: उस समय स्वरूप वर्तना को काल का वर्तन कहते हैं। इससे काल का निश्चय किया जाता है। यहाँ णिच प्रत्यय का अर्थ यह है कि जो वर्तन कराता है वह काल है। यहाँ वर्तना तो सर्वद्रव्यों की पर्यायों का होता है उसका हेतु कर्ता काल है।

यहाँ **कोई कहता है** – यदि ऐसा है तो काल क्रियावान होना चाहिये। जैसे शिष्य पढता है उपाध्याय पढाते हैं तब दोनों के क्रिया होती है।

उससे कहते हैं – यहाँ यह दोष नहीं है। जो निमित मात्र होता है उसे भी हेतु कर्ता का व्यपदेश (कहा जाता) है। जैसे शीतकाल में अग्नि से तपते (अपने को गरम करते हुये) शिष्य पढते हैं। वहाँ ऐसा भी कहा जाता है कि उसको उपकारी अग्नि पढाती है। इस ही तरह यहाँ काल को हेतुकर्तापना है।

वह **पुन: पूछता है** – ऐसे काल के समय का निश्चय कैसे किया जाता है ?

उससे कहते हैं – समय आदि क्रिया विशेष तथा समय आदि द्वारा किये गये पाचन आदि कार्य के समय तथा पाचन इत्यादि नाम प्रसिद्ध है। उनको समय काल तथा भात के पाक (पाचन) का काल ऐसा आरोपण किया जाता है। भात अनुक्रम से पका है, उसके पकने (पचने) का क्रम काल को सूक्ष्म अंश का अनुमान से निश्चय होता है। उसे काल नाम से कहा जाता है। यह व्यवहार काल है। इनके (पाचन काल आदि के) लिये निमित्त जो निश्चय काल है, वह उसके अस्तित्व का ज्ञान कराता है, क्योंकि गौण होता है वह मुख्य हुये बिना नहीं होता।

यहाँ भावार्थ ऐसा है - धर्म आदि द्रव्यों के पर्याय प्रतिसमय पलटते रहते हैं। इस पलटने के लिये समय है वह ही निमित्त मात्र है। उस समय को ही काल का वर्तन कहा जाता है। यह वर्तना ही कालाणु द्रव्य के अस्तित्व का ज्ञान कराती है तथा इस वर्तना को जितना समय लगता है उसे काल कहते हैं। यह व्यवहार काल नाम है वह उस निश्चय काल की अपेक्षा ही से कहा जाता है। इस तरह यह वर्तना ही द्रव्यों के प्रति काल का उपकार है तथा द्रव्य की पर्यायों का परिणाम कहते हैं। पहली अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था रूप होना पर्याय है जो क्षेत्र से क्षेत्रांतर में गमन रूप नहीं है। उनमें जीव के तो क्रोध आदि परिणाम हैं और पुद्गल के परिणाम वर्ण आदि हैं। धर्म अधर्म आकाश के

अगुरुलघुगुण की हानि वृद्धि होना परिणाम है तथा क्रिया है वह एकक्षेत्र से अन्य क्षेत्र में चलना है जो दो प्रकार की है - प्रायोगिकी, वैस्रसिकी। उनमें से प्रायोगिकी तो अन्य के प्रयोग से होती है। जैसे बैल आदि के प्रयोग से गाडी आदि चलते हैं तथा वैस्रसिकी बिना निमित्त ही होती है जैसे मेघ आदि के बादल स्वयं चलते है तथा परत्व अपरत्व दो प्रकार का है - क्षेत्रकृत, कालकृत। यहाँ काल के उपकार का प्रकरण है; अत: कालकृत (परत्व अपरत्व) ग्रहण करना। बहुत समय लगे उसे परत्व कहते हैं, अल्प समय हो उसे अपरत्व कहते हैं। इस तरह ये वर्तना आदि काल (द्रव्य) के उपकार है जो काल (द्रव्य) के अस्तित्व का भी ज्ञान कराते हैं।

यहाँ **तर्क :** परिणाम आदि वर्तना ही के भेद हैं, अत: एक वर्तना ही का कथन करना था, उनका अलग से ग्रहण (कथन) अनर्थक है।

समाधान : अनर्थक नहीं है। यहाँ काल दो प्रकार का है, यह बताने के लिये विस्तार से कथन किया है। काल के दो प्रकार -निश्चय काल, व्यवहार काल हैं। उनमें से निश्चय काल तो वर्तना लक्षण वाला है, व्यवहार काल परिणाम आदि लक्षणवाला है। यह व्यवहार काल अन्य पदार्थों की ही तरह जाना जाता है। सूर्य आदि के उदय होने और अस्त होने से दिन आदि जाने जाते हैं तथा अन्य (दूसरे काल) का ज्ञान कराने के लिये कारण है। इस तरह क्रिया विशेष लगे समय को व्यवहार काल कहते हैं, जो तीन प्रकार का है - भूत, वर्तमान, अनागत (भविष्य - जो अभी नहीं आया है)। तथा परमार्थ (निश्चय) काल आकाश के प्रदेशों पर स्थित एक-एक कालाणु उनको काल कहना तो मुख्य है। भूत आदि नाम से कहा जाने वाला गौण व्यवहार काल में भी भूत आदि नाम मुख्य हैं, और काल कहना गौण है क्योंकि यह काल नाम अन्य क्रियावान द्रव्यों की अपेक्षा से प्राप्त हुआ है और निश्चयकाल का किया है। अत: काल नाम है ऐसा जानना।

यहाँ वार्तिक ग्रंथ (राजवार्तिक/श्लोकवार्तिक) में परिणाम की विशेष चर्चा की गयी है, वहाँ से जानना। वहाँ कहा है कि द्रव्य का निजस्वभाव को छोड़े बिना पर्याय का पलटना परिणाम है। जो दो प्रकार का है-नैमित्तिक, स्वाभाविक। ये जीव के तो औपशमिक आदि पांच भावरूप (परिणाम) हैं। पुद्गल के घटादि अनेक रूप हैं। धर्मद्रव्य आदि के अगुरुलघुगुण की हानिवृद्धि पर्यायरूप है।

यहाँ **अन्यमती** कहता है - परिणाम तो निर्बाध संभव नहीं है; क्योंकि सतरूप कहें तो विद्यमान का पलटना नहीं (हो सकता) और यदि असत् रूप कहें तो अभाव हुआ ही।

उससे कहते हैं - स्याद्वाद के द्वारा परिणाम की सिद्धि होती है। द्रव्य की अपेक्षा सत् है, पर्याय की अपेक्षा असत् है। जैसे मृतिका (मिट्टी) द्रव्य है, पिंड घट आदि उसकी पर्यायें है। जब पिंड का घट हुआ तब द्रव्य अपेक्षा उसमें मिट्टी ही है, पर्याय अपेक्षा पिंड ही कहा जाता है तथा पिंड से घट

हुआ तब द्रव्य अपेक्षा तो घट में मिट्टी का पिंड ही है, पर्याय अपेक्षा अब भी वह घट ही है, पिंड नहीं है इत्यादि दृष्टांत प्रसिद्ध ही है।

वह **पुनः पूछता है** – द्रव्य से परिणाम अन्य है या अनन्य है ? यदि अन्य है तो द्रव्य में नहीं है, अनन्य है तो द्रव्य ही है परिणाम नहीं है।

यहाँ भी उत्तर ऊपर कहा वही है।

वह फिर कहता है – द्रव्य में परिणाम स्थित है या नहीं। यदि स्थित है तो एक परिणाम एक काल में है वही है, उसमें दूसरा परिणाम नहीं है। यदि स्थित नहीं है तो अभाव हुआ।

यहाँ भी उत्तर वही है, द्रव्य है वह तो त्रिकाल स्वरूप है, उसमें क्रम से होते जो परिणाम हैं उन परिणामों में से एक काल में एक ही परिणाम है जिसे पर्याय कहते हैं। जब द्रव्यदृष्टि से देखा जाता है, तब सर्वपरिणामों की शक्ति लिये वह द्रव्य कहने में आता है, उनकी शक्ति क्रम से ही (प्रकट) होती है। शक्ति की अपेक्षा सभी परिणाम द्रव्य में स्थित है, व्यक्ति (प्रकटपने) की अपेक्षा एक काल में एक है उसमें दूसरी नहीं है। इस प्रकार (परिणाम) द्रव्य में स्थित भी है स्थित नहीं भी है, इस तरह स्याद्वाद से कथन जानना। इत्यादि अनेक विधि-निषेध की चर्चायें हैं, जो स्याद्वाद ही से निर्बाध सिद्ध होती है, सर्वथा एकान्तपक्ष निर्बाध नहीं है।

आगे पूछते हैं – धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, जीव, काल – इनके उपकारों का कथन किया एवं लक्षण भी कहे। पर पुद्गलों का सामान्य लक्षण तो कहा, विशेष लक्षण नहीं कहा, वह क्या है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुदगलाः ।। ५-२३ ।।

अर्थ : पुद्गल है वह स्पर्श, रस, गंध, वर्ण –इन चार गुणों सहित है। जिसे स्पर्श (छू) सकें अथवा स्पर्शना (छूना) तो स्पर्श है जो आठ प्रकार का है – कोमल, कठिन, भारी, हल्का, शीत, उष्ण, चिकना, रूखा। तथा जिसका स्वाद लिया जा सके अथवा जो स्वाद मात्र है वह रस है, जो पांच प्रकार का है – तीखा (चरपरा), खट्टा, कडुआ, मीठा, कसायला। तथा जिसे सूंघा जाता है अथवा सूंघना गंध है जो दो प्रकार की है – सुगंध, दुर्गंध। तथा जिसका वर्ण देखा जावे अथवा वर्णरूप होना वर्ण है जो पांच प्रकार का है – काला, नीला, पीला, सफेद, लाल। इतने तो ये मूल भेद है। उनके उत्तर भेद अलग अलग किये जावे तब स्थानकों (गिनती) अपेक्षा संख्यात असंख्यात है और अविभाग प्रतिच्छेदों की अपेक्षा अनंत भी हैं। जिनके ये हों वे पुद्गल हैं। यहाँ नित्ययोग में वत् प्रत्यय है। जैसे वड़ है वह दूध सहित है, उसे क्षीरिणो न्यग्रोधा कहा जाता है। इसी प्रकार प्रत्यय का अर्थ जानना।

यहाँ **तर्क :** पहले एक सूत्र में रूपिणः पुद्गलाः कहा था; अतः रूप से अविनाभावी जो रस

आदि हैं उनका ग्रहण उस ही सूत्र से हो जाता है। यह सूत्र अनर्थक है।

समाधान : यह दोष नहीं है। वहाँ तो नित्यावस्थितान्य रूपाणि इस सूत्र में धर्मादि को अरूपी कहा वहाँ पुद्गलों के भी अरूपी होने का प्रसंग आ सकता था, उसे दूर करने के लिये निषेध सूत्र कहा था। इस सूत्र में यहाँ उन पुद्गलों का विशेष स्वरूप बताने का प्रयोजन है।

यहाँ **अन्यमती** कहता है – पृथ्वी आदि के परमाणु जाति भेद वाले हैं। जल में तो गंध गुण नहीं है, अग्नि में गंध और रस दोनों नहीं है। वायु में रस गंध रूप ये तीन गुण नहीं है, ऐसा कहते हैं।

इस सूत्र में इनका निषेध होता है, क्योंकि पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन ये चारों ही पुद्गल द्रव्य के विकार हैं, पुद्गल ही हैं और ये स्पर्श आदि चारों गुणों सहित हैं। पृथ्वी आदि में चारों गुण अनुमान प्रमाण और आगम प्रमाण से सिद्ध होते है। पृथ्वी से जल होना, जल से पृथ्वी होना, पाषाण काष्ठ (लकडी) से अग्नि होना, अग्नि से पृथ्वी होना इत्यादि जातिसंकर (जाति परिवर्तन) देखे जाते हैं; अत: अन्यमतियों का कहना प्रमाण से सिद्ध नहीं है।

आगे उसी पुद्गल के विकार के विशेषों को बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। शब्दबंधसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायाऽऽतपोद्योतवन्तश्च ।। ५–२४ ।।

अर्थ : शब्द, बंध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम, छाया, आताप, उद्योत इन सहित हैं वे भी पुद्गल है। उनमें शब्द दो प्रकार का है – भाषास्वरूप, अभाषास्वरूप। उनमें भी भाषास्वरूप दो प्रकार का है – अक्षरसहित, अक्षररहित। उनमें से जो अक्षरसहित है वह तो संस्कृत अथवा देशभाषारूप आर्यों, म्लेच्छों के व्यवहार के लिये कारण है, शास्त्र को प्रकट करने वाला है और जो अक्षर रहित है वह दो इन्द्रिय आदि जीवों के पाये जाते हैं, जो सूक्ष्म ज्ञान के स्वरूप कहने के लिये कारण है। यह भाषा स्वरूप है वह तो सारा ही प्रायोगिक है पुरुष के प्रयत्न से होते है। और जो अभाषा स्वरूप है वह दो प्रकार का है – प्रायोगिक, वैस्रसिक। उनमें वैस्रसिक है वह तो बलाहक अर्थात् मेघ की गर्जना आदि है और प्रायोगिक के चार प्रकार हैं – तत, वितत, घन, सुषिर। उनमें चर्म को पीटने से ढोल, नगारे, डफ आदि से निकलने वाले (शब्द – ध्वनि) को तो तत कहा जाता है। तथा तांत के तार आदि से वीणा, सुघोष, सहतार, तमूरे आदि से निकले उसे वितत कहते हैं। तथा ताल घंटे आदि के हिलाने आदि से हो वह घन है। तथा बांसुरी, शंख आदि से उत्पन्न हो वह सुषिर है।

तथा बंध दो प्रकार का है – वैस्रसिक, प्रायोगिक। इनमें जो पुरुष के प्रयत्न की अपेक्षा से रहित हो वह वैस्रसिक है जो रूक्ष सचिकनाई गुण के निमित्त से बिजली, उल्का आदि और इन्द्रधनुष आदि होते हैं और जो पुरुष के प्रयत्न से हो वह प्रायोगिक है वह अजीव संबंधी तो लाख और काष्ठ के बंधन होता है वैसा है तथा कर्म नोकर्म का बंधन होना जीव और अजीव दोनों संबंधी है।

तथा सूक्ष्म भी दो प्रकार का है - अन्त्य, आपेक्षिक। परमाणु तो अन्त्य सूक्ष्म है। तथा बील फल से आंवला इससे सूक्ष्म बोर इत्यादि आपेक्षिक सूक्ष्म हैं।

स्थौल्य भी दो प्रकार का है - अन्त्य, आपेक्षिक। जगत व्यापी महास्कंध तो अन्त्य स्थौल्य (सबसे बड़ा) है तथा बोर से आंवला, आंवले से बड़ा बीलफल, बीलफल से बड़ा तालफल इत्यादि आपेक्षिक स्थौल्य है।

संस्थान अर्थात् आकार भी दो प्रकार का है - इत्थं लक्षण, अनित्थं लक्षण। गोल, तिकोना, चौकोर, लंबा इत्यादि तो इत्थं लक्षण हैं, वह आकार कहा जा सकता है। तथा अनित्थं लक्षण है वह अनेक प्रकार का है, जैसे बादलों आदि का आकार है। यह कहा नहीं जा सकता।

तथा भेद छह प्रकार का है - उत्कर, चूर्ण, खंड, चूर्णिका, प्रतर, अणुचटन। काष्ठ आदि को करोत आदि से काटना उत्कर है। गेहूं आदि का (पीसकर) आटा होना चूर्ण है तथा घट आदि का कपाल आदि (फूटकर टुकड़े हो जाना) खंड है। तथा उडद, मूंग आदि की दाल आदि होना चूर्णिका है। मोडल आदि के पत्र उतारना प्रतर है तथा लोह के पिंड को अग्नि में तपा कर घन की चोट मारने पर चिंगारी उछले उसे अणुचरन कहते हैं। इस तरह भेद (खंड - टुकड़े) करने के छह प्रकार हुये।

तथा तम है वह प्रकाश का विरोधी है और दृष्टि (दिखाई देने) को रोकने का कारण है, उसे अंधेरा भी कहते है।

तथा छाया प्रकाश के आवरण का कारण है (को रोकने से होती है) जो दो प्रकार की है। उनमें कांच (दर्पण) में मुख का वर्ण आदिरूप परिणमना इत्यादि तद्वर्णपरिणत कही जाती है और दूसरी प्रतिबिम्ब स्वरूप है ही।

तथा आताप सूर्य के निमित्त से उष्ण प्रकाश का होना है।

तथा उद्योत चन्द्रकांतमणि के उजाले अथवा जुगनु का चमकना आदि है। ये शब्द आदि सब पुद्गल के विकार हैं। ये जिनके हो वे सब पुद्गल है।

यहाँ सूत्र में च शब्द है अत: प्रेरणा अभिघात आदि भी जिनके हो उन्हें भी ग्रहण करना (पुद्गल समझना) ये आगम में प्रसिद्ध है च इनका भी समुच्चय करता है।

यहाँ कोई अन्यमती शब्द को आकाश का गुण कहता है। कोई अमूर्तिक द्रव्य कहता है। कोई स्फोट स्वरूप (टकराने स्वरूप) कहता है। ये सब कथन प्रमाणसिद्ध नहीं है। शब्द श्रोत्र इन्द्रिय का विषय है। आकाश अमूर्तिक है अत: उसका गुण नहीं है तथा अमूर्तिक द्रव्य भी नहीं है तथा स्फोट रूप कहें तो अर्थ को प्रकट करने वाला स्फोट तो वक्ता का ज्ञान है और शब्द श्रवण में आता है वह है अन्य कुछ अलग से स्फोट प्रमाण सिद्ध नहीं है। अत: शब्द को पुद्गल द्रव्य की पर्याय कहना ही

प्रमाण से सिद्ध है। इसकी चर्चा वार्तिक में विशेष (विस्तार से) है वहाँ से जानना।

आगे कहे गये पुद्गल द्रव्य के भेद बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। अणवः स्कन्धाश्च ।। ५–२५ ।।

अर्थ : पुद्गल के अणु स्कंध इस तरह दो भेद हैं। जो एक प्रदेश मात्र है और स्पर्श आदि पर्यायों को उत्पन्न करने की सामर्थ्य से युक्त है इस प्रकार अण्यन्ते अर्थात् कहने में आवे (इस प्रकार का हो) वह अणु है। सूक्ष्मता के कारण स्वयं ही जिसकी आदि है स्वयं ही अन्त है और स्वयं ही मध्य है।

यहाँ अन्य ग्रंथ से गाथा है उसका अर्थ इस प्रकार है – जिसका स्वयं ही आदि है, स्वयं ही मध्य है, स्वयं ही अन्त है, जो इन्द्रिय गोचर नहीं है, जिसका दूसरा विभाग नहीं किया जा सकता, ऐसे को परमाणु द्रव्य जानना। तथा स्थूलता के कारण जिसके ग्रहण निक्षेपण (पकडना, रखना) आदि व्यापार का स्कंधन अर्थात् संघटना हो उसकी स्कंध संज्ञा उत्पन्न होती है। यहाँ दो अणु आदि के स्कंधों के ग्रहण निक्षेपणा के व्यापार (हो सकने) की योग्यता नहीं है फिर भी रूढि के वश उनकी भी स्कंध संज्ञा जानना। रूढि में क्रिया कहीं पर होती हुई उपलक्षण रूप से सर्वत्र ली जाती है तथा पुद्गलों के अनन्त भेद है जो अणु और स्कंध इन दोनों में जाति अपेक्षा गर्भित है इस ही के लिये सूत्र में दोनों के बहुवचन है तथा दो भेदों का कथन पिछले जो दो सूत्र कहे हैं, उनके संबंध का भी ज्ञान कराता है। अणु भी स्पर्श, रस, गंध, वर्ण सहित है और स्कंध भी स्पर्श, रस, गंध, वर्ण वाले हैं तथा शब्द, बंध, सौक्ष्म्य, स्थूल, संस्थान, भेद, तम, छाया, आताप, उद्योत वाले भी है। परमाणु अतीन्द्रिय है उनका अस्तित्व शरीर इन्द्रिय पृथ्वी आदि स्कंध नामक कार्यों से जाना जाता है, क्योंकि कार्य से कारण का अनुमान होता है। ये स्कंध है वे परमाणुओं के कार्य हैं।

तथा अनन्त परमाणु बंधे है वह स्कंध है। उसका आधा स्कंध देश है। उसका भी आधा स्कंध प्रदेश है। इनके ही पृथ्वी, अप, तेज, वायु आदि भेद हैं।

आगे पूछते हैं – इन पुद्गलों के अणु और स्कंध रूप परिणाम अनादि से हैं अथवा सादि हैं।

उत्तर : उत्पत्ति की अपेक्षा तो आदि सहित है।

पुनः **प्रश्न :** यदि आदि सहित है तो किस निमित्त से ये परिणाम होते हैं ? वह बताओ ? वहां पहले स्कंधों की उत्पति का कारण बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। भेदसंघातेभ्यः उत्पद्यन्ते ।। ५–२६ ।।

अर्थ : पुद्गलों के स्कंध भेद तथा संघात से उत्पन्न होते हैं। बाह्य अभ्यंतर निमित्त के वश (बड़े) स्कंध तोड़े जावें (टूटे) वह तो भेद है तथा अलग अलग (छोटे) स्कंध हो उनका एक हो जाना संघात है। यहाँ दोनों का बहुवचन किया है, वह तीसरे के ग्रहण के लिये किया है। इस तरह भेद, संघात, भेदसंघात – इन तीन हेतुओं से स्कंध उत्पन्न होते है। वह ही बताते हैं – परमाणु के संघात

से दो प्रदेशों का स्कंध उत्पन्न होता है। दो प्रदेशों का स्कंध और एक परमाणु के मिलने से तीन प्रदेशों का स्कंध उत्पन्न होता है तथा तीन परमाणुओं के मिलने से भी तीन प्रदेशों वाला स्कंध उत्पन्न होता है तथा या तो दो दो परमाणुओं वाले दो स्कंधों के मिलने से अथवा एक तीन परमाणु का स्कंध और एक परमाणु के मिलने से अथवा खुले चार परमाणुओं के मिलने से चार परमाणु वाला स्कंध उत्पन्न होता है। इस तरह संख्यात, असंख्यात, अनंत, अनंतानंत (परमाणुओं अथवा स्कंधों अथवा परमाणु स्कंधों) के संघात से उन परमाणुओं के स्कंधों की उत्पत्ति होती है तथा इसी प्रकार स्कंधों का भेद होने पर दो प्रदेशों वाले स्कंध तक उत्पन्न होते हैं तथा इसी प्रकार किसी स्कंध का तो भेद हुआ तथा अन्य स्कंध (अथवा परमाणु) से उसी काल संघात हुआ, इस तरह भेद संघात से भी स्कंध उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार स्कंधों की उत्पत्ति का कथन किया।

आगे परमाणुओं की उत्पत्ति का कारण बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। भेदादणुः ।। ५–२७ ।।

अर्थ : परमाणु भेद से ही उत्पन्न होते हैं, संघात से नहीं उत्पन्न होते। यहाँ अणु भेद ही से उत्पन्न होते हैं, ऐसा तो पहले सूत्र की सामर्थ्य से ही सिद्ध हो जाता है, फिर भी यह सूत्र अणु भेद से ही होते है, संघात से नहीं, यह नियम बताने के लिये है, क्योंकि व्याकरण में परिभाषा सूत्र ऐसे होते हैं जिनकी सिद्धि हो जाने के बाद पुनः उनकी विधि करना, नियम के लिये होता है। ऐसा जानना।

यहाँ पूछते हैं कि संघात ही से स्कंधों की उत्पत्ति की सिद्धि हो गयी तब भेद संघात के ग्रहण का क्या प्रयोजन है। ऐसा पूछने पर इसका प्रयोजन बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः ।। ५–२८ ।।

अर्थ : जो स्कंध नेत्र गोचर होते हैं वे भेद संघात दोनों से होते हैं। स्कंध अनंतानंत परमाणुओं से उत्पन्न होते हैं, उनमें से कुछ तो इन्द्रिय गोचर होते हैं, कुछ इन्द्रिय गोचर नहीं होते हैं। जो इन्द्रिय गोचर नहीं हैं, वे कैसे इन्द्रिय गोचर हो जाते हैं ? तब कहते हैं – भेद और संघात इन दोनों से चाक्षुष होता है भेद से नहीं होता। यहाँ चाक्षुष कहने से इन्द्रियों द्वारा ग्रहण में आने योग्य हो उसे ग्रहण करना है। उनकी उत्पत्ति कैसे होती है, वह बताते हैं। सूक्ष्म परिणाम स्कंध है उनका भेद होने पर तो वे सूक्ष्मपना छोड़ते नहीं है; अतः सूक्ष्म तो इन्द्रिय से अगोचर ही रहते हैं तथा कोई सूक्ष्म परिणमित स्कंध हो उसका भेद होने पर अन्य जो कोई स्कंध हो उससे संघात होकर मिल जावे तब सूक्ष्म परिणाम को छोड़कर स्थूलता हो जाने से चाक्षुष होता है।

आगे पूछते हैं – धर्म आदि द्रव्यों के विशेष लक्षण तो बताये तथापि द्रव्य का सामान्य लक्षण नहीं बताया, जो बताना चाहिये। ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। सद्द्रव्यलक्षणम् ।। ५-२९ ।।

अर्थ : द्रव्य का लक्षण सत् है। सत् है वह ही द्रव्य है ऐसा समझना। यह सामान्य अपेक्षा से द्रव्य का लक्षण है, क्योंकि सभी द्रव्य सत्मय है।

आगे पूछते हैं – यदि सत् द्रव्य का लक्षण है तो सत् क्या है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ।। ५-३० ।।

अर्थ : सत् उत्पाद व्यय ध्रौव्य इन तीनों से युक्त है। उनमें चेतन तथा अचेतन द्रव्य की अपनी अपनी जाति को छोड़े बिना निमित्त के वश एक भाव से अन्य भाव को प्राप्त होना उत्पाद है। जैसे मिट्टी के पिंड से घट पर्याय होना। इस ही प्रकार पहले भाव का अभाव होना व्यय है। जैसे घट की उत्पत्ति होने पर पिंड के आकार का नाश होना तथा ध्रुव का भाव तथा कर्म हो उसे ध्रौव्य कहते हैं जैसे मिट्टी का पिंड तथा घट आदि अवस्थाओं में मिट्टी है वह अन्वय है अर्थात् जो मिट्टी पिंड में थी, वही घट में है, इस प्रकार (बना रहना)। इस तरह उत्पाद – व्यय – ध्रौव्य इन तीनों ही से युक्त हो वह सत् है।

यहाँ **तर्क :** युक्त शब्द तो जहाँ भेद हो, वहाँ देखा (कहा) जाता है। जैसे दण्ड से युक्त देवदत्त अर्थात् कोई पुरुष हो, उसे दंडयुक्त कहा जाता है। द्रव्य ऐसे भिन्न – भिन्न तीन भावों से युक्त है, तो द्रव्य के अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है।

समाधान : यह दोष नहीं है क्योंकि अभेद में भी कथंचित भेद नय की अपेक्षा युक्त शब्द प्रयुक्त होता है जैसे सारयुक्त स्तंभ। यहाँ स्तंभ से सार अलग नहीं है, पर युक्त शब्द प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार उत्पाद –व्यय– ध्रौव्य – इन तीनों के अविनाभाग से (एक का भी अभाव हुये बिना) सत् का लक्षण बनता है। अथवा युक्त शब्द का अर्थ समाहित भी होता है। युक्त अर्थात् समाहित तदात्मक तत्स्वरूप ऐसा भी अर्थ होता है; अत: उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप सत् है, ऐसा कथन निर्दोष है। इससे यहाँ ऐसा सिद्ध होता है कि उत्पाद आदि तीनों तो द्रव्य के लक्षण है और द्रव्य लक्ष्य है। पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से तो तीनों ही द्रव्य से तथा परस्पर अन्य–अन्य पदार्थ है, पर द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा अलग–अलग दिखाई नहीं देते, अत: द्रव्य से भी तथा परस्पर भी एक ही पदार्थ है। इस तरह भेदाभेद नय की अपेक्षा से लक्ष्य लक्षण भाव की सिद्धि होती है।

यहाँ **कोई कहता है –** ध्रौव्य को तो द्रव्य का लक्षण और उत्पाद व्यय को पर्याय का लक्षण कहना चाहिये था तब इनमें विरोध नहीं आता, द्रव्य ही का लक्षण त्रयात्मक कहने में विरोध आता है।

समाधान : ऐसा कहना युक्त नहीं है क्योंकि सत्ता तो एक ही द्रव्य है। उसके अनंत पर्यायें हैं। द्रव्य और पर्याय की अलग अलग दो सत्तायें नहीं है तथा एकान्तरूप से ध्रौव्य को ही सत् कहा जावेगा तो उत्पाद व्यय रूप प्रत्यक्ष व्यवहार के असत्पने का प्रसंग प्राप्त होगा और तब सर्व ही

व्यवहार का लोप हो जावेगा तथा यदि एकान्त से सत् को उत्पाद व्यय रूप ही कहा जावेगा तो पूर्वापर के योगरूप नित्यभाव के बिना भी सर्व व्यवहार का लोप होगा। अत: त्रयात्मक सत् ही प्रमाण सिद्ध है। वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है वह कहने में आया है।

आगे पूछते हैं नित्यावस्थितान्यरूपाणि सूत्र में नित्य शब्द कहा था पर नित्य का स्वरूप नहीं बताया था वह बताओ ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। तद्भावाव्ययं नित्यम् ।। ५–३१ ।।

अर्थ : तद्भाव अर्थात् जो पहले समय हो वही दूसरे काल (समय) हो उसे तद्भाव कहते हैं, उसे ही नित्य कहते हैं। जो पूर्व में था वही वर्तमान में है ऐसे जोड़रूप ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। उसके लिये कारण रूप जो वस्तु में भाव है, उसे तद्भाव कहते हैं। यह प्रत्यभिज्ञान बिना हेतु के अकस्मात नहीं होता। वस्तु में तद्भाव है उसे जानता है, इससे इस (प्रत्यभिज्ञान) की सिद्धि होती है जिस स्वरूप में वस्तु को पहले देखा था उस ही स्वरूप में अब वर्तमान में देखा है। यदि पहले था उसका अभाव ही माना जावे और नवीन ही उत्पन्न हुआ माना जावे तो स्मरण का अभाव होगा तथा तब स्मरण के अधीन जो लोक व्यवहार है वह विरोधा जावेगा (नष्ट होगा)। अत: यह निश्चित है कि जो तद्भाव से अव्यय रूप है वह नित्य है पर इसे कथंचित जानना। सर्वथा नित्य कहने से (वस्तु) कूटस्थ होगी और पर्याय के पलटने का अभाव होगा तथा तब संसार तथा उसकी निवृत्ति के कारण के विधान (मोक्षमार्ग) का विरोध होगा (संसार तथा मोक्ष और मोक्षमार्ग बन ही नहीं सकेंगे)।

यहाँ **तर्क :** वह ही वस्तु नित्य और वह ही वस्तु अनित्य है ऐसा कहने में विरोध आता है।

इसका **समाधान** करते हैं – यह विरोध नहीं है, क्योंकि ऐसा होता है (वस्तु में दोनों के एक साथ रहने में कोई विरोध नहीं है)। उस ही का सूत्र कहते हैं –

।। अर्पितानर्पितसिद्धेः ।। ५–३२ ।।

अर्थ : अर्पित अर्थात् मुख्य करना तथा अनर्पित अर्थात् गौण करना, इन दोनों नयों से अनेक धर्म स्वरूप वस्तु का कहना सिद्ध होता है। अनेक धर्म स्वरूप वस्तु को प्रयोजन के वश जिस किसी एक धर्म की प्रधानता करने का अर्पित कहते है, उसे उपनीत अभ्युपगत भी कहते हैं।

भावार्थ : (वस्तु के) जिस धर्म को प्रयोजनवश वक्ता प्रधान करके कथन करता है, उसे अर्पित कहते हैं तथा इसके विपरीत जिनकी विवक्षा नहीं की गयी है, उन्हें अनर्पित कहते हैं क्योंकि वहाँ उनका प्रयोजन नहीं है। पर ऐसा नहीं है कि वस्तु में वे धर्म हों ही नहीं। विवक्षा (प्रयोजन) के कारण उन्हें मात्र गौण किया जाता है क्योंकि सत् की विवक्षा और अविवक्षा दोनों ही होती है। अत: सत्रूप होते हुये भी उन्हें प्रयोजन के वश (वहाँ उनका नहीं अन्य धर्म का प्रयोजन होने से) अविवक्षा करना

गौण करना है। इससे दोनों की सिद्धि होती है। इसमें कोई विरोध नहीं है।

यहाँ **उदाहरण :** जैसे पुरुष के पिता पुत्र भाई भानजे इत्यादि संबंध हैं, उनमें जनकपने आदि की अपेक्षा तो कोई विरोध नहीं है क्योंकि अर्पण (कथन की मुख्यता) के भेद से पुत्र की अपेक्षा तो उसे पिता कहा जाता है और उस ही पुरुष को पिता की अपेक्षा पुत्र कहा जाता है, उसे ही भाई की अपेक्षा भाई कहते हैं, मामा की अपेक्षा भानजा कहते हैं। उसी प्रकार वस्तु की सामान्य अर्पणा (द्रव्यार्थिक नय) से नित्य कहते हैं, विशेष अर्पणा (पर्यायार्थिक नय) से अनित्य कहते हैं। इसमें विरोध नहीं है तथा जो सामान्य विशेष है वे कथंचित भेद अभेद से व्यवहार के कारण होते हैं।

यहाँ सत् असत् एकानेक नित्यानित्य भेदाभेद इत्यादि अनेक धर्मात्मक वस्तु के कथन में अन्यमती विरोध आदि दूषण बताते हैं। (अन्यमती कहते है) एक वस्तु को सत् असत् दोनों कहने में प्रतिपक्षी होने के कारण विरोध होगा ही तथा दोनों का एक आधार कैसे हो ? इससे वैयधिकरण्य दूषण आता है, दोनों के एक आधार का अभाव है। यदि परस्पराश्रय कहा जावे, सत् को असत् के आश्रय कहा जावे तो पहले असत् होना चाहिये तब आश्रय बन सकता है और यदि असत् को सत् के आश्रय कहा जावे तो पहले सत् नहीं है। इस तरह दोनों के अभाव रूप परस्पराश्रय नामक दूषण है तथा सत् किससे है ? यदि असत् से सत् है तब पूछते है असत् काहे से है। यदि कहो – अन्य सत् से है तो पुन: प्रश्न है अन्य सत् किससे है। यदि असत् से कहोगे तो इसप्रकार कहीं अन्त न होगा और अनवस्था दोष आयेगा तथा यदि सत् में असत् मिले असत् में सत् मिले तब व्यतिकर दूषण होगा और यदि सत् से असत् हो जाता है असत् से सत् हो जाता है तो संकर दूषण होगा तथा जहाँ सत् की प्रतिपत्ति हो वहाँ असत् की प्रतिपत्ति (मौजूदगी) नहीं है। असत् की प्रतिपत्ति है वहाँ सत् की प्रतिपत्ति नहीं होती, इस तरह अप्रतिपत्ति दूषण होता है। तथा सत् होने पर असत् का अभाव, असत् होने पर सत् का अभाव, इस तरह अभाव नामक दूषण आता है। इस तरह ये आठ दूषण सभी विरुद्ध पक्षों में आते हैं। अत: विरोधरूप अनेक धर्म सिद्ध नहीं होते। इस प्रकार के दूषण (अन्यमती) बताते हैं।

उनसे कहते हैं – ये दूषण तो सर्वथा एकान्तपक्ष से इस तरह अनेक धर्मात्मक वस्तु कहें, उनके आते हैं तथा विरुद्ध रूप अनेक धर्म एक वस्तु में संभव है जिन्हें द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नय की अर्पणा (मुख्यता गौणता) के विधान से प्रयोजनवश से मुख्य गौण करके कहा जाता है उसमें दूषण नहीं है। स्याद्वाद बड़ा बलवान है जो ऐसे भी विरोध को अविरोध बनाता है। सर्वथा एकान्त में यह सामर्थ्य नहीं है कि वस्तु का यथार्थ पूरा कथन करे। जैसा कहोगे उसी में दूषण आवेगा। अत: स्याद्वाद की शरण लेकर यथार्थज्ञान करके श्रद्धान करके हेयोपादेय को जानकर हेय से छूटकर उपादेय को ग्रहण कर वीतराग होना योग्य है। यही श्रीगुरुओं का उपदेश है।

आगे पूछते हैं सत् के अनेक प्रकार के नयों के व्यवहार की अधीनता है। जिसमें स्कंधों के भेद संघात से उत्पति होना बन जाता है; परन्तु यह संदेह रह जाता है कि दो परमाणु आदि का संघात होता है वह संयोग मात्र से ही होता है या कोई और विशेषता है ?

समाधान : संयोग होने पर एकत्वपने रूप बंधन से संघात की निष्पत्ति होती है।

पुनः **प्रश्न :** यदि ऐसा है तो पुद्गल अपनी जाति को छोड़े बिना (अर्थात् सभी पुद्गल जाति के होने पर भी) तथा संयोग के होने ही होने से भी कुछ परमाणुओं का तो बंध होता है, अन्य कुछ का नहीं होता। इसका क्या कारण है ?

समाधान : वे परमाणु पुद्गलस्वरूप अपेक्षा सब एक से हैं, उनमें अलग अलग कोई विशेषता नहीं है फिर भी उनकी अनंत पर्यायों में परस्पर विलक्षण परिणमन की सामर्थ्य होती है, उससे ऐसा प्रतीति में आता है – उसका सूत्र कहते हैं –

।। स्निग्धरूक्षत्वाद बन्धः ।। ५–३३ ।।

अर्थ : स्निग्ध अर्थात् चिकने और रूक्ष अर्थात् रूखे इन दोनों के कारण पुद्गल परमाणुओं में परस्पर बंध होता है। बाह्य अभ्यंतर कारण के वश चिकनी पर्याय का प्रकट होना तो स्निग्ध है। इसी प्रकार रूक्ष है। इस तरह स्निग्ध रूक्षता है। चिकनी गुण पर्याय हो वह तो स्निग्धत्व है और इससे विपरीत हो वह रूक्षत्व है। दोनों का हेतु होना कहा है, इस तरह बंध होता है। जहाँ दो परमाणु रूक्ष तथा चिकने परस्पर मिलें तब बंध होकर दो अणुवाला स्कंध होता है। इसी प्रकार संख्यात, असंख्यात, अनंत परमाणुओं का स्कंध उत्पन्न होता है। परमाणुओं में रूक्ष चिकना गुण कैसे है वह बताते है – एक गुण स्निग्ध, दो गुण स्निग्ध, तीन गुण स्निग्ध, चार गुण स्निग्ध, संख्यात गुण स्निग्ध, असंख्यात गुण स्निग्ध, अनंत गुण स्निग्ध इस तरह अनंत भेद हैं। इस ही प्रकार रूक्ष गुण के भी (अनंत भेद) जानना। इस प्रकार के रूक्ष और चिकनाई वाले परमाणु है। जिस प्रकार जल में, बकरी के दूध में, गाय के दूध में, भैस के दूध में, ऊँटनी के दूध में, घी में चिकना गुण हीनाधिक मात्रा में प्रवर्तता है तथा पांशु अर्थात् धूल, कणिका अर्थात् बालू रेत, शर्करा अर्थात् कंकर इत्यादि की तरह रूक्ष गुण हीनाधिक होता है, उसी प्रकार परमाणुओं में स्निग्ध रूक्ष गुण कम अधिक प्रवर्तता है, ऐसा अनुमान है। यहाँ गुण कहने से गुणों के अविभाग प्रतिच्छेद कहे समझना।

आगे स्निग्धरूक्ष गुण जिसमें निमित्त है ऐसा बंध समानरूप से होता होगा, ऐसा प्रसंग आता होने से जिनके बंध नहीं होता, उनका निषेध (कथन) करने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। न जघन्यगुणानाम् ।। ५–३४ ।।

अर्थ : जो परमाणु जघन्य गुण वाले हैं उनके बंध नहीं होता। जघन्य अर्थात् सबसे कम (कम

से कम) गुण अर्थात् गुण के अविभाग प्रतिच्छेद हो, उसे जघन्य गुण कहते हैं। जघन्य गुण वालों का बंध नहीं होता, वही बताते है - जिस परमाणु के एक गुण स्निग्ध हो, उसका एक गुण स्निग्ध वाले परमाणु से तथा दो गुण स्निग्ध वाले से या संख्यात, असंख्यात, अनंतगुण स्निग्ध वाले से बंध नहीं होता है। इसी प्रकार एक गुण स्निग्ध वाले का एक गुण रूक्ष परमाणु से या दो आदि संख्यात, असंख्यात, अनंत गुण वाले रूक्ष परमाणु से भी बंध नहीं होता। इस ही प्रकार एक गुण रूक्ष वाले परमाणु के भी बंध का अभाव है।

यहाँ **कोई पूछता है** – कई जघन्य गुण वाले परमाणु लोक में होते है, ऐसा निश्चय कैसे किया?

समाधान : कई स्कंधों में चिकनापना घटता है, कई में बढता है तथा कई में रूक्ष गुण घटता है कई में बढता है। इस तरह घटते घटते कोई जघन्य गुण वाला भी है ऐसा अनुमान प्रमाण से निश्चय होता है।

आगे जघन्य गुण वाले दानों स्निग्ध रूक्ष परमाणुओं को छोड़कर अन्य सभी स्निग्ध रूक्ष परमाणुओं में परस्पर बंध होता है, ऐसा अविशेष प्रसंग प्राप्त होने से वहाँ भी जिनके बंध नहीं होता, उनका निषेध करने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। गुणसाम्ये सदृशानाम् ।। ५–३५ ।।

अर्थ : गुणसाम्य अर्थात् जिनके अविभाग प्रतिच्छेदरूप गुण बराबर (समान) हो ऐसे परमाणुओं के और सदृश अर्थात् स्निग्ध अथवा रूक्ष ही रूक्ष हो उनके भी बंध नहीं होता है। यहां सदृश शब्द का अर्थ तो समान जाति के परमाणु है और साम्य का अर्थ समान अविभाग प्रतिच्छेद है। तब ऐसा अर्थ होता है कि दो गुण स्निग्ध परमाणु का दो गुण स्निग्ध परमाणु से बंध नहीं होता। तीन गुण वाले स्निग्ध का तीन गुण वाले स्निग्ध ही से बंध नहीं है। दो गुण वाले स्निग्ध परमाणु का दो गुण वाले रूक्ष परमाणु से बंध नहीं है। दो गुण वाले रूक्ष परमाणु का दो गुणवाले रूक्ष परमाणु से बंध नहीं है तथा तीन गुण वाले रूक्ष परमाणु का तीन गुण वाले रूक्ष परमाणु से बंध नहीं है। इत्यादि समान गुण हो तथा सदृश भी हो उनके बंध नहीं होता। यहां सदृश कहा है, इससे गुणों की विषमता भी होती है, यह ज्ञान कराने के लिये कहा है।

आगे ऐसा कहने से विषम (विसदृश) परमाणुओं के समान जातीय के तथा असमान जाति के नियम रहित बंध का प्रसंग प्राप्त होता है, अत: जिनका नियम है उनको बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। द्वयधिकादिगुणानां तु ।। ५–३६ ।।

अर्थ : दो अधिक आदि गुण के परमाणुओं के ही बंध होता है। जिसमें दो गुण अधिक हो वह द्वयधिक गुण कहा जाता है। कौन दो गुण (अधिक) है ? (दो गुण वाले) परमाणु से दो गुण अधिक

वाला परमाणु चार गुण वाला है वह है तथा यहाँ आदि शब्द से तीन गुण वाले परमाणु से पांच गुण वाले परमाणु दो अधिक गुणवाला है। इत्यादि दो गुण अधिक वाले समान जातीय तथा असमान जातीय परमाणुओं के बंध होता है, अन्य के नहीं होता। वह बताते हैं – जिसमें स्निग्ध दो गुण हो ऐसे परमाणु का एक गुण स्निग्ध से तथा दो गुण स्निग्ध से तथा तीन गुण स्निग्ध से बंध नहीं होता। जिसमें चार गुण स्निग्ध के हों उससे बंध होता है तथा उसी दो गुण स्निग्ध परमाणु का पांच गुण स्निग्ध तथा छह गुण स्निग्ध तथा सात, आठ आदि संख्यात, असंख्यात, अनंत गुण स्निग्ध से भी बंध नहीं होता। इस प्रकार तीन गुण स्निग्ध का पांच गुण स्निग्ध से बंध होता है। उसके अतिरिक्त एक, दो, तीन, चार तथा छह, सात आदि अनंत तक गुण सहित परमाणुओं से बंध नहीं है तथा चार गुण स्निग्ध परमाणु का छह गुण स्निग्ध परमाणु से बंध होता है तथा इससे कम या अधिक गुण सहित परमाणुओं से बंध नहीं है। इस ही तरह दो गुण अधिक सब में जोडना। इस ही प्रकार एक दो तीन गुण रूक्ष परमाणु का दो गुण रूक्ष परमाणु से बंध नहीं है। चार गुण रूक्ष परमाणु से बंध होता है। उसका पांच गुणरूक्ष परमाणु से बंध नहीं है। इसी प्रकार तीन गुण रूक्ष आदि का भी दो गुण अधिक से ही बंध होता है। इस ही प्रकार भिन्न जाति वाले रूक्ष के स्निग्ध से दो गुण अधिक वाले का बंध होता है (स्निग्ध के रूक्ष से दो गुण अधिक हो तो भी बंध होता है)।

यहाँ अन्य ग्रंथ से गाथा है उसका अर्थ इस प्रकार है – स्निग्ध का स्निग्ध से दो गुण अधिक होने पर बंध होता है तथा रूक्ष का रूक्ष से दो गुण अधिक होने पर बंध होता है। जघन्य गुण को छोड़कर सम गुण हो तथा विषम (३,५,७ आदि) हो पर दो गुण अधिक हों तो बंध होता है अन्य से नहीं होता।

यह सूत्र में तु शब्द है वह पिछले दो सूत्रों में किये गये निषेधों को व्यावर्तने (यहाँ भी शामिल करने) के अर्थ में है तथा बंध की विधि का ज्ञान कराने के लिये है।

यहाँ कोई अन्यमती **तर्क** करता है – परमाणु तो सदा बंधा ही है, परमाणु की तो बुद्धि से कल्पना की है। इसी प्रकार परमाणु में अविभाग प्रतिच्छेद की भी कल्पना ही है तथा बंधन रूप स्कंध है, उसमें भी परमाणु कल्पित ही है। आपने किसी परमाणु के बंध होना बताया किसी के निषेध किया, यह युक्त नहीं है।

समाधान : आगम में पुद्गल के छह भेद बताये हैं। पृथ्वी, जल, छाया, चार इन्द्रियों के विषय रस आदि, कार्मण स्कंध, परमाणु। इसमें परमाणु बताया है, वह सत्यार्थ प्रत्यक्ष ज्ञानियों ने देखकर बताया है अत: कल्पित नहीं है। अत: कुछ परमाणुओं के बंध नहीं होता, उनका निषेध भी है। ऐसा नहीं कहना चाहिये कि स्कंध ही सदा बंधनरूप है परमाणु नहीं है।

आगे पूछते हैं कि अधिक गुण में ही बंध होता है, समान गुण में नहीं होता, यह किसलिये है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ।। ५-३७ ।।

अर्थ : बंध होने पर अधिक गुण वाला हीनगुण वाले को अपने परिणाम स्वरूप कर लेता है। यहाँ अधिक शब्द के गुण शब्द की पूर्वसूत्र से अनुवृति है। इस तरह अधिक गुण ऐसा अर्थ करना चाहिये। इस प्रकार दो गुण आदि स्निग्ध रूक्ष परमाणु के चार गुण आदि स्निग्ध रूक्ष परमाणु स्वरूप परिणमन होता है। जैसे गीले गुड़ में मधुर रस बहुत होता है तब उसमें धूलमिट्टी आ गिरने पर उसे अपने मधुर रस रूप कर लेने को पारिणामिक कहते हैं। इसी प्रकार अन्य भी अधिक गुण हो वह अल्प गुण को अपने परिणामस्वरूप करता है। इस प्रकार पहली अवस्था के अभावपूर्वक तीसरी अवस्था प्रकट होती है। अधिक गुण भी नहीं रहते, हीन गुण भी नहीं हुये, इस प्रकार की तीसरी अवस्था हुई। इस प्रकार अधिक गुण के और हीन गुण के एकरूपता हो जाती है। यदि ऐसा न माना जावे तो सफेद और काले तन्तुओं से एक रस्सा बनावें, उनके तारों का संयोग हो जाने पर भी एक रूप परिणाम नहीं होता सफेद और काले तार अलग अलग दिखते हैं ऐसा होगा। पर ऐसा है नहीं। अधिक गुण और हीन गुण का एक ऐसा परिणाम होता है कि वे भिन्न भिन्न दिखाई नहीं देते, ऐसा समझना। जैसा कहा है वैसे पारिणामिकत्व से बंध के होते ज्ञानावरण आदि कर्मों की तीस कोडाकोडी सागर आदि की स्थिति संभव हो जाती है।

आगे उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्तं सत् यह द्रव्य का लक्षण बताया था। अब द्रव्य का लक्षण अन्य प्रकार से बताते हैं -

।। गुणपर्ययवद् द्रव्यम् ।। ५-३८ ।।

अर्थ : द्रव्य गुण और पर्याय सहित है। यहाँ जिसके गुण पर्याय हो वह द्रव्य है ऐसा अर्थ प्रत्यय का है। यहाँ मतुप् प्रत्यय की उत्पत्ति में प्रश्न का समाधान पहले किया था, वह ही है। कथंचित भेदाभेद होने पर मतुप् प्रत्यय बनता है।

यहाँ **कोई पूछता है** – गुण क्या है और पर्याय क्या है ?

उत्तर : अन्वयी हो वह तो गुण है और जो व्यतिरेकी हो वह पर्याय है। उनमें क्रमवर्ती पर्यायों में जो जोड़रूप एक चलता जावे वह तो गुण है और भिन्न भिन्न स्वभाव रूप पर्यायें है। जो इन गुण पर्यायों से युक्त है वह द्रव्य है।

यहाँ अन्य ग्रन्थ से गाथा है, उसका अर्थ इस प्रकार है - गुण तो द्रव्य का विधान (अन्य से अलग कर सकने वाला तो गुण है) तथा गुणों का एक समुदाय है वह द्रव्य है तथा द्रव्य के विकार अर्थात् क्रम परिणाम है वह पर्याय है ऐसा (गाथा में) कहा है तथा इनसे अन्यून अर्थात् सहित द्रव्य है। वह कैसा है ? अयुतप्रसिद्ध है, संयोग वाला नहीं है, तादात्म्य स्वरूप है तथा नित्य है अपने

विशेष लक्षण को कभी नहीं छोडता है।

यहाँ ऐसा कहा गया है कि द्रव्य है वह जिससे अन्य द्रव्य से अलग दिखाई दे, उस भाव को गुण कहते हैं। उस गुण से ही द्रव्य की विधि है। यदि ऐसा गुण न हो तो द्रव्यों का संकर अर्थात् पलटना निश्चित होगा। जैसे जीव है वह पुद्गल आदि द्रव्यों से अपने ज्ञान आदि गुणों से अलग दिखाई देता है तथा पुद्गल है वह जीव द्रव्य से अपने रूप आदि गुणों के कारण अलग दिखाई देता है। यदि ऐसे विशेष गुण न हो तो उनमें आपस में पलटना तथा एकता होगी। अत: सामान्य अपेक्षा से अन्वयी ज्ञान आदि जीव के गुण है और पुद्गल के गुण रूप आदि है तथा इनके विकार (विशेष कार्य) से विशेष रूप से भेद रूप हुई वे पर्याय हैं। जैसे जीव की पर्याय घट का ज्ञान, पट का ज्ञान, क्रोध मान आदि है। तथा वर्ण, गंध इत्यादि पुद्गल के पर्याय है तथा इनसे कथंचित अन्यता को प्राप्त होता इनका समुदाय है वह द्रव्य नाम प्राप्त करता है। यदि समुदाय इन गुण पर्यायों से सर्वथा अनर्थांतरभूत हो, अलग पदार्थ न माना जावे तो सर्व ही का अभाव होगा। वही बताते हैं –

यदि परस्पर भिन्न भिन्न लक्षण वाले गुणपर्यायों का समुदाय होने पर यदि एक अनर्थांतर भाव से उस समुदाय को अलग पदार्थ नहीं माना जावे तो सब का अभाव होगा क्योंकि वे गुण पर्याय परस्पर भिन्न भिन्न पदार्थ है। जो यह प्रत्यक्ष रूप गुण है उससे रस आदि भिन्न पदार्थ है तब यदि समुदाय उस रूप से अलग न हो तो समुदाय मात्र रूप ठहरेगा, तब रस आदि रूप से भिन्न है उनसे समुदाय भी अलग हुआ। तब एक मात्र रूप होने से समुदाय नहीं हुआ। समुदाय तो बहुतों का होता है रूप तो एक ही है, तब समुदाय कैसे कहा जा सकेगा ? इस तरह समुदाय का अभाव होगा। और इस ही से समुदायी जो सब ही समुदाय से अलग नहीं है उनका भी अभाव होगा और इस प्रकार समुदाय समुदायी दोनों का अभाव होने से सर्व का अभाव होगा। इस ही प्रकार रस आदि की अपेक्षा भी कथन करना; अत: यदि समुदाय को स्वीकार किया जाता है तो गुणपर्यायों के समुदाय रूप जो द्रव्य उसे भी कथंचित संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन आदि की अपेक्षा भिन्न पदार्थ मानना योग्य है।

यहाँ **प्रश्न :** पहले द्रव्य का लक्षण सत् बताया ही था, अब यह दूसरा लक्षण बताने का क्या प्रयोजन है ?

समाधान : पहले सत् लक्षण कहा वह तो शुद्ध द्रव्य का लक्षण है जो एक है सामान्य है अभेद है इसे महान द्रव्य भी कहते हैं क्योंकि सर्व ही वस्तुयें है वे सत्ता का उल्लंघन करके नहीं वर्तती है। सर्व द्रव्य सर्व पर्याय सत्ता के विशेष हैं। जिसे भी ज्ञानगोचर तथा वचनगोचर कहा जाता है वह सब ही सत्तामय है। तथा द्रव्य अनेक हैं उनका अलग अलग व्यवहार करने के लिये यह गुणपर्याय सहित है वह द्रव्य है ऐसा दूसरा लक्षण कहा है। यदि यह लक्षण न कहा जावे तो द्रव्यों के गुण पर्याय तो भिन्न

भिन्न हैं वे द्रव्य नहीं ठहरेंगे, तब सर्वथा सत् ही (एक) द्रव्य होगा। चेतन अचेतन आदि द्रव्यों का लोप होगा, तब संसार मोक्ष आदि व्यवहार का भी लोप होगा। अत: दूसरा लक्षण कहना युक्त है। इस ही लक्षण से अशुद्ध द्रव्य की सिद्धि होती है क्योंकि सत् द्रव्य दूसरे विशेषण सहित हुआ, तब दूसरे के मिलाप से अशुद्धता हुई। जैसे सत् चेतनतासहित तथा अचेतनासहित था तब सत् के अशुद्धता हुयी। इस तरह अशुद्ध द्रव्य भी है। इत्यादि स्याद्वाद से सिद्ध होता है, जिसे वार्तिक (श्लोकवार्तिक ग्रंथ) से जानना।

तथा अन्यमती द्रव्य का लक्षण अन्यथा कहते हैं। कई तो क्रियावानत्व को द्रव्य का लक्षण कहते हैं। आकाश के क्रिया नहीं है, तब उनके मत में आकाश द्रव्य नहीं माना जा सकेगा। तथा कई समवायिकारणत्व लक्षण बताते हैं, वह भी गुण कर्म में (नहीं) पाया जाता है तब वे गुण कर्म भी द्रव्य नहीं होंगे। तथा कुछ लोक गुणवानत्व होते क्रियावानत्व समवायिकारणत्व को लक्षण कहते हैं। पर यह तो गुणवानत्व कहने में ही समाहित है। क्रियावानत्व कहना आदि नि:प्रयोजन है तथा अनेकान्त का आश्रय लेकर विवक्षापूर्वक जो कुछ कहा जावे वह निर्दोष ही होगा। स्याद्वाद का आश्रय लेने पर विवाद नहीं रहता तथा द्रव्य में क्रमवर्ती अनेक धर्म (पर्यायें) है तथा उन सब क्रमवर्ती धर्मों (पर्यायों) के साथ वर्तने वाले अनेक धर्म (गुण) है तथा यदि कालभेद न किया जावे तो सर्व ही काल में एक ही द्रव्य सहवर्ती (गुण) क्रमवर्ती (पर्याय) धर्मस्वरूप एक ही काल में है। इस तरह इस लक्षण से सदानेकान्त, क्रमानेकान्त, क्रमाक्रमानेकान्त भलीभांति सिद्ध होते हैं।

आगे पांच द्रव्यों के लक्षण निर्देश कहे गये है, इससे द्रव्य पांच ही हैं ऐसा प्रसंग प्राप्त होता है क्योंकि छठा कोई द्रव्य कहा नहीं है; अत: उसकी सूचना के लिये सूत्र कहते हैं –

।। कालश्च ।। ५–३९ ।।

अर्थ : काल भी द्रव्य है। यहाँ द्रव्य है ऐसा कथन शेष है। इस काल में भी द्रव्य के लक्षण हैं अत: द्रव्य है। द्रव्य के लक्षण दो प्रकार के कहे हैं – १. सद्द्रव्य लक्षणं, उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्तं सत् २. गुणपर्ययवद्द्रव्यं – ये दोनों ही लक्षण काल में विद्यमान हैं। प्रथम तो काल के ध्रौव्यत्व है, अत: स्वभाव ही से व्यवस्थित है। यह ध्रौव्यत्व स्वकारणकृत है, किसी अन्य का किया नहीं है तथा उत्पाद व्यय है वे अगुरुलघुगुण की हानिवृद्धि की अपेक्षा से स्वभावकृत हैं एवं परद्रव्य के परिणामों की अपेक्षा परकृत भी हैं। तथा काल में गुण साधारण तथा असाधारण दोनों ही प्रकार के हैं। उसमें असाधारण गुण तो सर्वद्रव्यों का वर्तनाहेतुत्व है तथा साधारण गुण अचेतनत्व, अमूर्तिकत्व, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व इत्यादि है तथा पर्याय उत्पाद व्यय रूप होती है, वे है ही। अत: काल में दोनों प्रकार के लक्षण होने से आकाश आदि की तरह काल के भी द्रव्यत्व सिद्ध है। उसके अस्तित्व का

चिह्न (प्रमाण) धर्म आदि द्रव्यों की तरह पहले कहा ही चुके हैं कि काल वर्तनालक्षण वाला है।

प्रश्न : काल द्रव्य का कथन यहाँ किया, धर्म आदि द्रव्यों का जहाँ कथन किया था, वहीं क्यों नहीं किया ? इसका क्या प्रयोजन है ? अजीवकायाधर्माधर्माकाशपुद्गला: इसके साथ क्यों नहीं कहा?

समाधान : यदि वहाँ कहा जाता तो काल के कायत्व भी निश्चित होता (माना जाता) पर काल के कायत्व है नहीं; क्योंकि काल के मुख्यता से तथा उपचार से भी प्रदेशों के प्रचय की कल्पना नहीं है। धर्मद्रव्य आदि के पहले ही मुख्यता से प्रदेशों का प्रचय कहा ही है। असंख्येया: प्रदेशा आदि सूत्र कहा ही था तथा पुद्गल परमाणु एक प्रदेश मात्र है फिर भी पूर्व उत्तरभाव प्रज्ञापन नय की अपेक्षा से उपचार कल्पना करके प्रदेश प्रचय कहा ही था।

भावार्थ : परमाणु संघात से स्कंध होता है अत: प्रदेश प्रचय होता है। पर काल के दोनों ही रीति से प्रदेश प्रचय की कल्पना नहीं है, अत: इसके अकायत्व ही है तथा यदि काल को धर्मादि के साथ कहते तो वहाँ निष्क्रियाणि सूत्र से धर्म आदि आकाश तक को क्रियारहित कहा था, जिससे अन्य अर्थात् जीव पुद्गल के क्रिया सहित होना निश्चित हुआ था तब काल को भी सक्रियता निश्चित होती तथा यदि आकाश से पहले काल द्रव्य को कहते तो आ आकाशादेक द्रव्याणि इस सूत्र से आकाश के एक द्रव्यपना होता। अत: यहाँ काल का अलग से ही कथन किया है।

यहाँ **प्रश्न :** काल को अनेक द्रव्य कहने का क्या प्रमाण है ?

उत्तर : आगम प्रमाण से कहा है। लोकाकाश के जितने प्रदेश है उतने काल के क्रिया रहित अणु प्रत्येक आकाश के प्रदेश पर एक एक अलग अलग लोक में व्याप्त होकर स्थित है।

यहाँ अन्य ग्रंथ[1] से गाथा जिसका अर्थ इस प्रकार है – लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर रत्नों की राशि की तरह एक– एक प्रकट रूप से स्थित है उन्हें कालाणु जानना। रूप आदि गुणों से रहित अमूर्तिक वर्तना लक्षण जो मुख्य काल है उसका यह आगम प्रमाण यहाँ बताया है।

आगे परिणाम आदि से जाना जाने वाले व्यवहार काल को बताने का क्या प्रमाण है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। सोऽनन्तसमय: ।। ५–४० ।।

अर्थ : जिसके अनंत समय हैं, वह (व्यवहार) काल है। वर्तमान काल तो एक समय मात्र है पर अतीत अनागत कालों के समय अनंत (अंतरहित) है। अथवा मुख्य काल का ही प्रमाण बताने के लिये यह सूत्र है। कालाणु एक है फिर भी अनंत पर्यायों के वर्तना का कारण है अत: उसमें अनंतपने का उपचार किया है। तथा समय है वह उत्कृष्ट रूप से (सूक्ष्म) काल का अंश है। उसके समूह विशेषों को आवली इत्यादि कहा जाता है।

१. बहदद्रव्य संग्रह गाथा–२२

आगे **प्रश्न :** गुण पर्याय वाला द्रव्य कहा है, तब गुण क्या है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ।। ५–४१ ।।

अर्थ : जिनका आश्रय द्रव्य है तथा जो स्वयं अन्य गुणों से रहित है, वे गुण हैं। यहाँ गुणों का विशेषण निर्गुण किसलिये है, वह बताते हैं। दो आदि परमाणुओं का स्कंध भी द्रव्य के आश्रय है। अतः परमाणुओं से हुआ द्रव्याश्रया गुणा इतना ही कहा जाता तो उन स्कंधों को भी गुण मानना पड़ता। अतः निर्गुण कहने से उनके गुण का निषेध हुआ। वे स्कंध भी गुण सहित हैं अतः द्रव्य ही है गुण नहीं हैं। तथा द्रव्याश्रया विशेषण से पर्यायों के गुणत्व का निषेध होता है क्योंकि गुण तो द्रव्य से नित्य संबंध रूप है। पर्यायें क्रम से होती हैं जो कदाचित् होकर विनश जाती है। अतः जो नित्य ही द्रव्य के आश्रय होकर प्रवर्ते वे गुण हैं। इस प्रकार पर्यायें है वे गुण नहीं है। जीव के अस्तित्व आदि तो साधारण गुण है और ज्ञान आदि असाधारण गुण है। पुद्गल के अचेतनत्व आदि साधारण गुण है और रूप आदि असाधारण गुण हैं तथा जीव के पर्यायें घट का ज्ञान आदि है और पुद्गल की पर्यायें घट कपाल आदि है।

आगे पूछते हैं – बार बार परिणाम शब्द का कथन में प्रयोग किया गया है, उसका क्या अर्थ है। ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। तद्भावः परिणामः ।। ५–४२ ।।

अर्थ : द्रव्य जिस स्वरूप होते हैं उस होने को उनका भाव कहा जाता है। ऐसा तद्भाव है, वह परिणाम है। यहाँ इस सूत्र को कहने का अन्य प्रयोजन है वह कहते हैं। अन्य कोई मत मानता है कि गुण है वे द्रव्य से भिन्न पदार्थ हैं। अतः अन्यमती स्याद्वादियों को कहता है – आपको यह (गुण का द्रव्य से भिन्न पदार्थ होना) मान्य है अथवा नहीं है।

आचार्य **उससे कहते हैं** – आपके जैसे तो भिन्न पदार्थ नहीं मानते हैं कथंचित संज्ञा, संख्या आदि भेदों की अपेक्षा द्रव्य से गुण को भिन्न भी मानते हैं तथापि वह (गुण) प्रदेशों की अपेक्षा अभेद है क्योंकि उस द्रव्य ही का परिणाम है; अतः भिन्न नहीं है।

ऐसा कहने पर वे (अन्यमती) पूछते हैं – तुमने परिणाम कहा सो कहा, उसके निश्चय के लिये यह सूत्र कहा है कि धर्म आदि द्रव्य बतायें है वे जिस स्वरूप से परिणमें उसको तद्भाव कहते हैं। तद्भाव को तत्त्व भी कहते हैं वह ही तद्भाव परिणाम है। ऐसा परिणाम दो प्रकार का है – अनादि परिणाम, आदिमान परिणाम। अनादि परिणाम तो धर्म आदि द्रव्यों के गति हेतुत्व आदि हैं जो सामान्य अपेक्षा से हैं तथा विशेष अपेक्षा से वे ही परिणाम आदिमान है क्योंकि पर्याय है वे उपजती विनशती है। उन्हें आदि सहित कहते हैं। उनमें चार द्रव्यों का परिणाम तो आगमगम्य (आगम से

जाना जाता) है और जीव पुद्गल का परिणाम कथंचित प्रत्यक्षगम्य भी है।

कोई कहता है – गुण और पर्याय दो कहे तथा नय द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक दो बताये। तीसरा गुणार्थिक नय क्यों नहीं कहा ?

समाधान : संक्षेप में नय दो ही प्रकार के हैं। वहाँ विवक्षा ऐसी है कि पर्याय दो प्रकार की है – सहभावी, क्रमभावी। अत: पर्याय कहने से गुण भी समझ लेना तथा नयों का विस्तार किया जावे तब द्रव्य शुद्ध और अशुद्ध दो प्रकार का है जैसे पर्याय के सहभावी और क्रमभावी दो भेद हैं उसी प्रकार। नयों के तीन की संख्या भी विरोध वाली नहीं है। एक द्रव्यार्थिक तथा दो भेद रूप पर्यायार्थिक तथा द्रव्यार्थिक दो और पर्यायार्थिक एक, इस तरह तीन के दो भंग है। तथा दो दो गिनने (दो द्रव्यार्थिक, दो पर्यायार्थिक) पर नय चार भी होते हैं। तथा द्रव्यार्थिक नय के नैगम, संग्रह, व्यवहार ये तीन भेद हैं, पर्यायार्थिक के अर्थ और व्यंजन पर्याय से दो भेद, इस तरह पांच नय भी हैं तथा द्रव्यार्थिक के दो भेद – शुद्ध, अशुद्ध और पर्यायार्थिक नय के ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, एवंभूत – ये चार भेद इस तरह नय छह भी हैं। तथा नैगम आदि सात नय कहे ही हैं। इस प्रकार आठ आदि संख्या भी होती जाती है, इस ही लिये शब्द की अपेक्षा नय संख्यात कहे हैं। इस तरह गुण पर्यायों का कथंचित भेद कथन अयुक्त नहीं है। गुणपर्ययवद्द्रव्य है ऐसा द्रव्य का यह लक्षण निर्दोष है।

इस तरह पांचवें अध्याय में पंचास्तिकाय छह द्रव्य का तथा उनके भेद सहित गुणपर्यायों का निरूपण किया। उनका व्याख्यान सर्वार्थसिद्धि नामक संस्कृत टीका को देखकर देशभाषामय वचनिका लिखी है। इसे पढ सुनकर भव्य जीव इनका यथार्थ स्वरूप जानकर श्रद्धा करो, चारित्र की शुद्धता करो। इस प्रकार स्वर्ग मोक्ष का मार्ग सुगम होता है तथा इनका विशेष व्याख्यान तत्वार्थवार्तिक और श्लोकवार्तिक में है, वहाँ स्वमत का स्थापन और परमत का निराकरण करने वाला बहुत व्याख्यान है जिसे वहाँ से जानना।

छप्पय

अस्तिकाय है पंच कालयुत कथन दरव षट्।
तिनके गुण परजाय भेद लक्षण बहु परगट।।
परमत स्वमत विभाग हेतु भाषे श्रुतधर मुनि।
वार्तिक वृत्ति बखान विविधि कीनू शिष्यनि सुनि।।
लखि लेश देशभाषामयी करी वचनिका सुनि धुनि।
जानू सरधा सांची करौ धरि चारित शिव ल्यो गुनी।।

इस प्रकार जिसमें तत्त्वार्थ का अधिगम है ऐसे मोक्षशास्त्र में पांचवां अध्याय पूर्ण हुआ।

षष्ठम अध्याय

दोहा

मोह राग रुष भाव ये निश्चय आश्रय तीन।
हति ध्यानी ज्ञानी भये, नमूं तिनहिं गुणलीन।।

इस प्रकार मंगलाचरण के लिये नमस्कार करके सर्वार्थसिद्धि नामक टीका के अनुसार कथन करते हैं। पांचवें अध्याय में अजीव पदार्थ का व्याख्यान किया। अब उसके बाद आस्रव पदार्थ का व्याख्यान करने का क्रम है; अत: उस आस्रव पदार्थ की प्रसिद्धि के लिये सूत्र कहते हैं –

।। कायवाङ्मन: कर्मयोग: ।। ६–१ ।।

अर्थ : काय, वचन, मन का कर्म (की क्रिया) योग है। काय आदि शब्दों के अर्थ तो पहले कहे थे, वे ही जानना। तथा कर्म शब्द का अर्थ यहाँ क्रिया है; क्योंकि यहाँ कर्म और क्रिया में भेद नहीं है। इस तरह काय, वचन, मन की क्रिया योग है। वहाँ ऐसा ज्ञान करना –

भावार्थ : मन, वचन, काय के निमित्त से आत्म प्रदेशों का हलन चलन योग है। यहाँ वीर्यान्तराय ज्ञानावरण (कर्मो) के क्षयोपशमजनित लब्धिरूप शक्ति होती है। इन कर्मों का क्षय हो जाने पर भी काय वचन मन वर्गणा के निमित्त से सयोग केवली के आत्मप्रदेशों का हलन चलन होता है, अत: वहाँ भी योग है, ऐसा जानना।

आगे शिष्य कहता है कि आपने तीन प्रकार के योग बताये, उन्हें तो हमने जान लिया, पर यहाँ प्रकरण तो आस्रव का है; अत: बताओ कि आस्रव का लक्षण क्या है ? ऐसा पूछने पर कहते हैं कि संसारी जीवों के इस योग शब्द से कहा गया है, वही आस्रव है, ऐसा सूत्र कहते हैं –

।। स आस्रव: ।। ६–२ ।।

अर्थ : कहा गया योग ही आस्रव है। जैसे सरोवर में जल आने का द्वार हो वह जल के आने के लिये कारण है, उसे आस्रव कहते हैं, उसी प्रकार यहाँ भी योगद्वार से आत्मा में कर्मों का आगमन होता है; अत: योग ही आस्रव है – ऐसा कहना योग्य है।

यहाँ ऐसा भी दृष्टांत है –जैसे गीला वस्त्र चारों तरफ से आई मिट्टी (रज) को ग्रहण करता है अथवा अग्नि में तपाया गया लोहे का पिंड जल को सोखता है, उसी प्रकार कषायों से सहित जीव योगद्वार से आये कर्मों को अपने सर्व प्रदेशों से ग्रहण करता है।

आत्मा के प्रदेशों का हलन - चलन योग है। इसके निमित्त के भेद से तीन प्रकार के भेद किये गये हैं -१. काय योग, २. वचन योग, ३. मनोयोग। उनमें आत्मा के वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम के होने पर औदारिक आदि सात प्रकार की काय वर्गणाओं में किसी एक काय वर्गणा के अवलंबन की अपेक्षा से हुआ आत्मप्रदेशों का हलन चलन काय योग है तथा शरीर नामक नामकर्म के उदय से किये वचनवर्गणा के अवलम्बन के होने पर तथा वीर्यान्तराय तथा श्रुत अक्षर आदि ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम द्वारा प्राप्त अभ्यंतर वचन की लब्धि अर्थात् बोलने की शक्ति की संनिधि (प्राप्ति) होने पर वचन परिणाम के सन्मुख हुये आत्मा के प्रदेशों का चलना वचन योग है तथा अभ्यंतर तो नो इन्द्रियावरण नामक ज्ञानावरण कर्म और अन्तराय कर्म के क्षयोपशम रूप लब्धि के निकट होने और बाह्य में मनोवर्गणा का अवलम्बन होने पर मन: परिणाम के सन्मुख हुये आत्मा के प्रदेशों का चलना मनोयोग है।

आगे पूछते है - कर्म है वह पुण्य पाप के भेद से दो प्रकार का है। उसके आस्रव का कारण योग है, वह अविशेष (समान) रूप से ही आस्रव का कारण है या कुछ विशेष है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं -

।। शुभ: पुण्यस्याशुभ: पापस्य ।। ६-३ ।।

अर्थ : शुभ योग तो पुण्य का आस्रव करता है और अशुभ योग पाप का आस्रव करता है। शुभ योग क्या है और अशुभ योग क्या है ? यह बताते हैं -प्राणियों का घात, अदत्त का ग्रहण, मैथुन का सेवन इत्यादि तो अशुभकाय योग है। झूठ बोलना, कठोर वचन कहना - इस तरह के असत्य वचन आदि अशुभ वचन योग है। अन्य के घात का चिंतन करना, ईर्ष्या रखना, अदेखसखा भाव करना इत्यादि अशुभ मनोयोग है। इनसे उल्टा शुभ योग है। अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि शुभ काययोग हैं। सत्यवचन, हितमितवचन बोलना आदि शुभवचन योग है। अरिहंत आदि में भक्तिभाव, स्तवन में रुचि, शास्त्र आदि में विनय आदि में प्रवृति - ये शुभ मनोयोग है।

यहाँ **प्रश्न :** योग में शुभ अशुभ परिणाम कैसे ?

उत्तर : शुभ परिणामों से हुआ योग तो शुभ योग है और अशुभ परिणामों से हुआ योग अशुभयोग है। यहाँ शुभ अशुभ कर्म के कारणपने से शुभ अशुभ योग नहीं है। यदि ऐसा हो तो शुभयोग होगा ही नहीं। कहा ही नहीं जा सकेगा क्योंकि शुभयोग से ज्ञानावरण आदि घातियाकर्म जो पापरूप हैं, का भी आस्रव होता है। तब पाप का कारण होने से शुभ योग नहीं कहा जा सकेगा। जो कर्म आत्मा को पवित्र करता है अथवा जिससे आत्मा पवित्र होता है, वह पुण्य है जैसे सातावेदनीय आदि हैं तथा आत्मा को शुभ से बचावे शुभरूप न होने दे वह पाप है। जैसे असातावेदनीय आदि है।

आगे पूछते हैं – यह आस्रव सभी संसारी जीवों को समान फल का कारण है या कुछ विशेष है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। सकषायाकषाययो: साम्परायिकेर्यापथयो: ।। ६–४ ।।

अर्थ : कषाय सहित जीवों के तो सांपरायिक आस्रव होता है और कषायरहित जीव के ईर्यापथ आस्रव होता है। यहाँ स्वामी के भेद से आस्रव में भेद है। स्वामी दो प्रकार के हैं –१. सकषायी जीव २. अकषायी जीव। क्रोध आदि कषाय हैं वे कषाय जैसे हैं जैसे फिटकरी, लोध आदि कषायले द्रव्य होते हैं, वे वस्त्र में रंग लगने के लिये कारण हैं, उसी प्रकार ये क्रोध आदि भी आत्मा के कर्म के लेप के लिये कारण हैं, अत: इन्हें भी कषाय कहा जाता है। इस प्रकार के कषायों सहित जो जीव हो उसे सकषायी कहते हैं और जो कषाय रहित हो वे अकषायी हैं। तथा सांपराय संसार को कहते हैं, अत: जिन कर्मों का प्रयोजन (फल) संसार है, उन्हें सांपरायिक कर्म कहते हैं तथा ईर्या भाव योगों की गति का है उस ही से कर्म आते हैं, उन्हें ईर्यापथकर्म कहते हैं। इनका यथाक्रम संबंध करना चाहिये। सकषायी मिथ्यादृष्टि आदि जीवों को तो सांपरायकर्म का आस्रव होता है। और जो कषाय रहित जीव हैं अर्थात् उपशांत कषाय से लेकर (सयोग केवली गुणस्थान तक के) जो जीव हैं, उन्हें ईर्यापथ कर्म का आस्रव होता है।

भावार्थ : सकषायी जीवों के तो कर्मों में स्थिति अनुभाग पड़ते हैं और अकषायी जीवों के (कर्म बंध में) स्थिति अनुभाग नहीं होते, एक समय मात्र का आस्रव होता है, उस ही समय कर्म झड़ जाते है।

आगे जो प्रथम कहा सांपरायिक आस्रव है उसके भेद बताने को सूत्र कहते हैं –

।। इन्द्रियकषायाव्रतक्रिया: पंचचतु:पंचपंचविंशतिसंख्यापूर्वस्य भेदा: ।। ६–५ ।।

अर्थ : प्रथम कहे गये सांपरायिक आस्रव के इन्द्रिय पांच, कषाय चार, अव्रत पांच, क्रिया पच्चीस – इस तरह उनतालीस भेद हैं। यहाँ इन्द्रिय आदि के पांच आदि संख्या यथाक्रम जानना। इन्द्रियां पांच, कषाय चार, अव्रत पांच, क्रिया पच्चीस इस तरह ग्रहण करना। पांच इन्द्रियां तो पहले कहीं थीं वे ही हैं। कषायों क्रोधादि (क्रोध, मान, माया, लोभ), अव्रत पांच हिंसा आदि (हिंसा, झूंठ, चोरी, कुशील, परिग्रह) इन्हें आगे बतावेंगे तथा क्रिया पच्चीस कही है। चैत्य गुरु प्रवचनों की पूजा करना इत्यादि जो सम्यक्त्व को बढाने वाली क्रियायें है, वे तो सम्यक्त्व क्रिया है। अन्य (कु) देवता का स्तवन आदि रूप मिथ्यात्व के लिये कारणरूप प्रवृति मिथ्यात्व क्रिया है। काय आदि से गमनागमन आदिरूप प्रवर्तन प्रयोग क्रिया है। संयमीपुरुष का असंयम की सन्मुखता समादान क्रिया है। ईर्यापथ गमन करना ईर्यापथ क्रिया है। इस तरह ये पांच क्रियायें हुई।

तथा क्रोध के वश पर को दोष लगाने की प्रवृत्ति दुष्ट स्वभावपना प्रादोषिकी क्रिया है। दुष्टपने के कार्य चोरी आदि का उद्यम करना कायिक क्रिया है। हिंसा के उपकरण शस्त्र आदि का ग्रहण अधिकरणिकी क्रिया है। जिससे स्वयं को और अन्य को दु:ख उत्पन्न हो ऐसा प्रवर्तन परितापिकी क्रिया है। आयु, इन्द्रिय, बल, उच्छवास, निश्वास –इन प्राणों का वियोग करना प्राणातिपातिनी क्रिया है। इस तरह ये पांच क्रियायें हुई।

तथा प्रमादी पुरुष के रागभाव की आद्रता से रमणीक रूप देखने का अभिप्राय दर्शनक्रिया है। प्रमाद के वश स्पर्शन योग्य वस्तु में रागपरिणाम से प्रवृत्ति स्पर्शन क्रिया है। विषयों के लिये अपूर्व नये नये कारण आधार उपजाना प्रात्ययिकी क्रिया है। स्त्री पुरुष पशु आदि जहाँ बैठते प्रवर्तते हो, उस क्षेत्र में मल मूत्र क्षेपण समंतानुपात क्रिया है। बिना देखी बिना झाड़ी पृथ्वी के ऊपर शरीर आदि को रख देना अनाभोग क्रिया है। इस तरह पांच क्रियायें ये हुई।

पर के करने योग्य क्रिया को स्वयं करना स्वहस्तक्रिया है। जिससे पाप का आदान ग्रहण हो इत्यादि प्रवृत्ति के विशेष को भला जानना निसर्ग क्रिया है। अन्य का किया सावद्य अर्थात् पाप सहित कार्य आदि को प्रकट करना विदारण क्रिया है। जैसी अरिहंतों की आज्ञा है वैसी आवश्यक आदि में प्रवृति चारित्र मोह के उदय से स्वयं से नहीं की जा सके, उसका अन्यथा प्ररूपण करना आज्ञा व्यापादिकी क्रिया है। साग्र अर्थात् कपट तथा आलस्य से शास्त्रोक्त विधान करने में अनादर करना, अनाकांक्षाक्रिया है। इस तरह पांच क्रियायें ये हुयी।

छेदन भेदन बिगाड़ना आदि क्रियाओं में तत्परता तथा अन्य पुरुष द्वारा आरंभ किया जावे उससे हर्षित होना आरंभ क्रिया है। परिग्रह की रक्षा के लिये प्रवर्तना परिग्राहिकी क्रिया है। ज्ञान दर्शन आदि में कपट रूप प्रवर्तना ठगने का उपाय माया क्रिया है। अन्य मिथ्यादृष्टि पुरुष मिथ्यात्व के कार्य में प्रवर्ते उनकी प्रशंसा कर कहना कि तुमने भला किया इत्यादि मिथ्यादर्शन क्रिया है। संयम के घातक कर्म के उदय के वश अत्याग रूप प्रवर्तना अप्रत्याख्यान क्रिया है। इस तरह पांच क्रियायें ये हुई। इस तरह सब मिलकर पच्चीस क्रियायें हुई। एक इन्द्रिय से लेकर ये सब कार्य कारण के भेद से भेद रूप होने पर भी सांपरायिक कर्म के आस्रव के द्वार हैं।

यहाँ इन्द्रिय कषाय अव्रत तो कारण है और क्रिया इनके निमित्त से हुये कार्य हैं। इस तरह भेद जानना।

यहाँ **कोई कहता है** – इन्द्रिय कषाय अव्रत ये क्रिया स्वरूप ही है, अत: क्रिया के ग्रहण में इनका ग्रहण हो ही गया, अलग से क्यों कहा ?

उससे कहते हैं – ऐसा नहीं है क्योंकि एकान्त नहीं है कि इन्द्रिय आदि क्रिया स्वभाव ही हों।

प्रथम तो नाम स्थापना द्रव्यरूप इन्द्रिय आदि हैं वे क्रिया स्वभाव नहीं है तथा आस्रव के लिये कारण है ही अत: अलग ही कहना उचित है। तथा ऐसा भी नहीं है कि ये इन्द्रिय आदि द्रव्यास्रव ही हैं। भावास्रव कर्म का ग्रहण है जो पच्चीस क्रिया से होता है, क्योंकि योग से होने वाले कर्म के ग्रहण को द्रव्यास्रव माना जाता है। अत: ऐसा है कि इन्द्रिय कषाय अव्रत है वे कारणरूप भावास्रव है और कार्यरूप पच्चीस क्रियायें है तथा कारण और कार्य दोनों का ही कथन किया जाना चाहिये। इन कारणों के बिना क्रिया होती नहीं तथा कारण के विद्यमान रहते क्रिया होती ही होती है तथा ये जो पचीस क्रियायें बताई वे तो संक्षेप में कही है विस्तार करने पर क्रिया के स्थान असंख्यातलोक मात्र हैं, उनका विशेष अगले सूत्र में ज्ञान अज्ञान तीव्र मंद भाव आदि अपेक्षा कहेंगे।

यहाँ **कोई कहता है** – इन्द्रियों से ही सर्व आस्रव है। इन्हीं से लोक कषाय आदि में प्रवर्तते है; अत: कषाय आदि का कथन नहीं करना चाहिये था।

उससे कहते हैं – ऐसा नहीं है क्योंकि इन्द्रियों की रागसहित प्रवृति के कारण तो प्रमत्तगुणस्थान तक ही हैं तथा कषाय से आस्रव अप्रमत्त गुणस्थान आदि (अर्थात दसवें गुणस्थान तक) भी है। यदि केवल इन्द्रिय ही कहा जावे कषाय नहीं कहा जावे तो अप्रमत्त आदि गुणस्थानों में आस्रव होना निश्चित नहीं होगा तथा एकेन्द्रिय आदि असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों तक यथासंभव इन्द्रियों और मन का अभाव होने पर भी क्रोध आदि के निमित्त से आस्रव होता है, वह भी नहीं माना जा सकेगा।

तथा **कोई कहता है** – कषायों से ही आस्रव है; अत: इन्द्रिय आदि को क्यों कहना ?

समाधान : सत्तारूप कषायकर्म का सद्भाव उपशांतकषाय (ग्यारहवें गुणस्थान) में (तक) भी है। उनके सांपराय आस्रव होने का प्रसंग आवेगा तथा योग निमित्तक आस्रव वहाँ भी है उसके नहीं होने का प्रसंग आवेगा। अत: कषाय मात्र से ही आस्रव कहना युक्त नहीं है।

तथा **कोई कहता है** – अव्रत ही कहना चाहिये था इसमें सभी इन्द्रियां आ गयीं।

उससे कहते हैं – अव्रत तो भाव मात्र है, उसकी प्रवृत्ति इन्द्रिय आदि से होती है; अत: कहे बिना कैसे जानी जावेगी ?

अत: इन्द्रिय, कषाय, अव्रत, क्रिया – इन चारों का ही कथन करना युक्त है।

आगे यहाँ **कोई कहता है** – मन, वचन, काय, योग है वे सब आत्मा के कार्य हैं, अत: सब संसारी जीवों के समान है। अत: बंध का फल भोगने में कुछ विशेष नहीं है (सबको बंध का समान फल प्राप्त होना चाहिये)।

समाधान : ऐसा नहीं है, क्योंकि सभी जीवों के योग होने परभी उन जीवों के परिणाम अनंत भेद वाले हैं (अत: बंध के फल में विशेषता होती है)। वह किस प्रकार है, इसके लिये सूत्र कहते हैं –

।। तीव्रमंदज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ।। ६-६ ।।

अर्थ : तीव्रभाव, मंदभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरण, वीर्य इनके विशेष से आस्रव में विशेषता होती है। यहाँ बाह्य अभ्यंतर कारणों से उदय में आये उत्कट (वेग सहित) परिणाम तो तीव्र हैं। इनसे विपरीत जो उत्कट नहीं है, वह मंद है। इस प्राणी को मैं मारूं, ऐसा जानकर मारने की प्रवृत्ति (जानबूझकर किसी भी क्रिया को करना) ज्ञात कहा जाता है। मद से अथवा प्रमाद से बिना जाने प्रवृति होना अज्ञात है। जिस में कार्य किया जाता है, वह अधिकरण है, इसे आधार भी कहते हैं तथा द्रव्य भी कहते हैं। द्रव्य की अपनी शक्ति का विशेष वीर्य है। भाव शब्द प्रत्येक के साथ जोड़ना है। तब तीव्रभाव मंदभाव इत्यादि समझना। इनके विशेष से आस्रव में विशेष होता है; क्योंकि कारण के भेद से कार्य में भी भेद होता है, ऐसा जानना।

भावार्थ : क्रोध आदि के बहुत बढने से तीव्र भाव होता है, उन कषायों के मंद उदय से मंदभाव होता है। इस जीव को मैं मारूं - ऐसा परिणाम भी न हो, पर प्राणी मारा जावे, वहाँ यह जानना कि यह मारा गया है अथवा स्वयं जानबूझकर मारना आदि ज्ञातभाव है तथा मदिरा आदि के निमित्त से इन्द्रियों का असावधान होना मद है तथा असावधानी से प्रवर्तना प्रमाद है। इनके वश बिना जाने प्रवृति करना अज्ञातभाव है। जिसके आधार पर पुरुष का प्रयोजन हो वह वस्तु द्रव्य अधिकरण है। द्रव्य की शक्ति वीर्य है तथा कषायों के स्थान असंख्यात लोक प्रमाण हैं क्योंकि जीवों के भाव बहुत हैं। अतः इन भावों से (आस्रव में) विशेष होता है तथा अनुभाग के भेद से आस्रवों में भी भेद सिद्ध होता है। इस ही से जीवों के शरीर आदि के भी अनन्तता (अनंत प्रकार) सिद्ध होते हैं।

आगे पूछते हैं - अधिकरण कहा पर उसका स्वरूप जाना नहीं, वह बतावें। ऐसा पूछने पर उस अधिकरण के भेदों के प्रतिपादन द्वारा उसके स्वरूप का निर्णय कराने के लिये सूत्र कहते हैं -

।। अधिकरणं जीवाजीवाः ।। ६-७ ।।

अर्थ : आस्रव का अधिकरण जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य-इस तरह दो भेद वाला है। इन जीव और अजीव के लक्षण पहले कहे थे, वे ही हैं। यहाँ अधिकरण विशेष का ज्ञान कराने के लिये फिर से इनके नाम कहे हैं। यह अधिकरण हिंसा आदि का उपकरण भाव है।

यहाँ **कोई कहता है** - जीव और अजीव मूल दो ही पदार्थ (यहाँ) है, अतः सूत्र में द्विवचन होना चाहिये था।

उससे कहते हैं - ऐसा नहीं है। यहाँ अधिकरण सामान्य नहीं है। जीव और अजीव के पर्याय (भाव) अधिकरण है क्योंकि द्रव्य तरह तरह की पर्यायों से बहुत प्रकार है अतः बहुवचन कहा है। ये

आस्रव के अधिकरण है ऐसा संबंध अर्थ करने के लिये (आस्रव के अधिकरण पूछे जाने के कारण) सूत्र में करना।

आगे जीव अधिकरण के भेद बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

आद्यं संरम्भसमारंभारम्भयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः।।६–८।।

अर्थ : प्रथम कहा जीव अधिकरण है वह संरंभ, समारंभ, आरंभ – ये तीन और मन वचन काय ये योग तीन, कृत–कारित–अनुमोदना ये तीन तथा क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषायें – इन तीन आदि भेदों को प्रत्येक के साथ लगाने पर परस्पर गुणा करने पर एक सौ आठ भेद हैं। प्रमादी जीव का हिंसा आदि का प्रयत्न अर्थात् उद्यमरूप परिणाम संरंभ है। तथा हिंसा आदि के कारण का अभ्यास करना सामग्री मिलाना आदि समारंभ है। प्रक्रम अर्थात् आरंभ करना आरंभ है। इस तरह तीन हुये। योग पहले कहे मन, वचन, काय, ये तीन भेद लिये है। तथा कृत स्वयं स्वाधीन होकर करना, कारित पर से कहकर करवाना और अनुमत (अनुमोदना) अन्य करे उसको स्वयं अपने मन वचन काय से भला जानना–ये तीन। तथा क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों के लक्षण पहले कहे थे, वह ही हैं। विशेष शब्द कहने से इन सब ही के संबंध करना। संरंभ विशेष समारंभ विशेष इत्यादि। जिससे एक अर्थ दूसरे अन्य अर्थ से अलग किया जा सके, यह विशेष शब्द का अर्थ है। इस तरह प्रारंभ में कहा गया जीवाधिकरण इतने विशेषों से भेद को प्राप्त होता है तथा त्रि आदि चार शब्द हैं वे सुच्प्रत्ययांत है, इनका संबंध यथाक्रम करना चाहिये। संरंभ आदि तीन, योग तीन, कृत आदि तीन, कषाय चार –इनकी गणना की रीति सुच् प्रत्यय से जानी जाती है। एकशः शब्द से वीप्स्या कही है। प्रत्येक के प्रति तीन आदि भेद समझना।

वही बताते हैं – १. क्रोध कृत काय संरंभ, २. मानकृत काय संरंभ, ३. मायाकृत काय संरंभ, ४. लोभकृत काय संरंभ, ५. क्रोधकारित काय संरंभ, ६. मानकारित काय संरंभ, ७. मायाकारित काय संरंभ, ८. लोभकारित काय संरंभ, ९. क्रोधानुमत काय संरंभ, १०. मानानुमत काय संरंभ, ११. मायानुकृत काय संरंभ, १२. लोभानुमत काय संरंभ। इस तरह बारह काय संरंभ हुये। इस तरह वचन और मन से बारह बारह संरंभ हो जावेगे। इन्हें एकत्रित करने पर छत्तीस हुये। इस ही प्रकार समारंभ से भी छत्तीस होंगे और इस ही प्रकार आरंभ से भी (छत्तीस) होंगे। इन सबको जोड़ने पर जीवाधिकरण के एक सौ आठ भेद हुये तथा सूत्र में च शब्द है वह अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन जो कषायों के चार अन्य (अवान्तर) भेदों से चार सौ बत्तीस भेद हो जाते है, इस तरह अन्य भी असंख्यात भेदों के समुच्चय के लिये है।

अब दूसरे अजीवाधिकरण के भेद बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। निर्वर्तनानिक्षेप संयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम् ।। ६-९ ।।

अर्थ : निर्वर्तना, निक्षेप, संयोग, निसर्ग ये चार जिनमें निर्वतना के दो, निक्षेप के चार, संयोग के दो और निसर्ग के तीन भेद है, ऐसे ये चार अजीवाधिकरण है जो संरंभ आदि से अन्य है। उनमें निष्पादन करना अर्थात् रचना तो निर्वर्तना है। निक्षेपणा अर्थात् स्थापना करना निक्षेप है। संयोजना अर्थात् मिलाना संयोग है और प्रवर्तना निसर्ग है। इनका दो आदि संख्याओं से यथाक्रम संबंध करना चाहिये। निर्वर्तन के दो भेद, निक्षेप के चार भेद, संयोग के दो भेद, निसर्ग के तीन भेद -ये अजीवाधिकरण के भेद है। यहाँ सूत्र में पर शब्द है, उसका अर्थ अन्य है। ये अधिकरण पहले जो संरंभ आदि जीवाधिकरण कहे थे उनसे अन्य है। यदि ऐसा न माना जावे तो निर्वर्तना आदि जीव ही के परिणाम होने से जीवाधिकरण ही होंगे।

निर्वर्तना अधिकरण दो प्रकार का है -१. मूलगुणनिर्वर्तना २. उत्तरगुणनिर्वर्तना। इनमें मूलगुणनिर्वतना पांच प्रकार की है - १.शरीर, २. मन, ३. वचन, ४. उच्छवास, ५. निःश्वास - इन पांच की रचना होना तथा उत्तर गुण निर्वर्तना काष्ठ, पुस्त, चित्रकर्म इत्यादि की रचना।

तथा निक्षेप चार प्रकार का है। अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण अर्थात् बिना देखे वस्तु की निक्षेपणा - स्थापना। दुःप्रभृटनिक्षेपाधिकरण अर्थात् पृथ्वी आदि को झाड़े साफ किये बिना वस्तु को बुरी नहीं रखना। सहसानिक्षेपाधिकरण अर्थात् वस्तु को शीघ्रता से रख देना, पटक देना। अनाभोगनिक्षेपाधिकरण अर्थात् वस्तु को जहाँ रखना चाहिये वहाँ न रखकर कहीं भी रख देना।

तथा संयोग दो प्रकार का है। भुक्त पान संयोगाधिकरण अर्थात् भोजन पान का मिलाना। उपकरणसंयोगाधिकरण अर्थात् जिन वस्तुओं से कार्य करना हो उन उपकरणों का संयोग करना, एकत्रित करना।

तथा निसर्ग तीन प्रकार का है। कायनिसर्गाधिकरण अर्थात् काय का प्रवर्तन करना। वाग्निसर्गाधिकरण अर्थात् वचन का प्रवर्तन करना। मनोनिसर्गाधिकरण अर्थात् मन का प्रवर्तन करना।

भावार्थ : जीव अजीव द्रव्यों के आधार से कर्म का आस्रव होता है। इनके भावों के ये विशेष है। सामान्य से आस्रव के ये भेद हैं।

अब कर्मों के विशेष से आस्रव में भेद का कथन का प्रसंग होने पर ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म के आस्रव के भेद बताने के लिये सूत्र कहते हैं -

।। तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ।। ६-१० ।।

अर्थ : ज्ञान और दर्शन में प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अंतराय, आसादन, उपघात करना इन दोनों

(ज्ञान और दर्शन) के आवरण कर्म का आस्रव करते हैं। मोक्ष का कारण जो तत्त्वज्ञान की कोई पुरुष कथन, प्रशंसा करता हो उसे न सराहना तथा उसे सुनकर स्वयं मौन रखना, अंतरंग में उससे अदेखा भाव करना तथा ज्ञान को दोष लगाने के अभिप्राय से उसका साधक न रहना, ऐसे परिणामों को **प्रदोष** कहते हैं तथा स्वयं को जिसका ज्ञान हो तथा किसी कारण (अभिप्राय) से कहे कि मैं जानता नहीं अथवा ऐसा नहीं है -जैसा किसी ने पूछा -हिंसा से क्या होता है ? वहाँ स्वयं यह जानते हुये भी कि हिंसा से पाप होता है, वहाँ किसी हिंसक पुरुष के बैठे होने पर उसके भय से या स्वयं को हिंसा करनी हो तथा स्वयं के अन्य कुछ कार्य का आरंभ हो इत्यादि कारणों से ऐसा कहना कि मैं तो जानता नहीं हूँ अथवा ऐसा कहना कि हिंसा से पाप नहीं है इत्यादि से अपने ज्ञान को छिपाने को **निह्नव** कहते हैं तथा स्वयं को शास्त्र आदि का भले प्रकार ज्ञान हो, भले प्रकार (शास्त्र) पढे हों, अन्य को पढाने योग्य हों, पर किसी से न पढाना अथवा ऐसा विचारना कि अन्य को ज्ञान हो जावेगा तो मेरी बराबरी करेगा - इत्यादि परिणाम को **मात्सर्य** कहते हैं तथा ज्ञान का विच्छेद करे उसमें विघ्न डाले, उसे **अन्तराय** कहते हैं तथा अन्य को तथा स्वयं को प्रकट करने योग्य ज्ञान हो, उसे वचन से तथा काय से प्रकट नहीं करना तथा अन्य को कहना कि ज्ञान का प्रकाश मत करो इत्यादि **आसादना** है तथा सराहने योग्य सच्चा ज्ञान हो उसे दूषण लगाना **उपघात** है।

यहाँ **कोई कहता है** - दूषण लगाने को उपाघात कहा वह तो आसादना ही हुई।

उससे कहते हैं - प्रशस्त ज्ञान के होने पर उसकी विनय न करना तथा सिखाना आदि तथा ज्ञान का गुणानुवाद इत्यादि न करना तो आसादना है तथा सच्चे ज्ञान को झूठ कहना अथवा ज्ञान ही नहीं है ऐसा कहना तथा ज्ञान के नाश का अभिप्राय उपघात है।

तथा सूत्र में तत् शब्द है, उससे ज्ञान दर्शन को ग्रहण करना।

यहाँ **कोई पूछता है** -यहाँ ज्ञानदर्शन का प्रकरण तो है नहीं बिना कहे कैसे ग्रहण करना ?

उससे कहते हैं - यहाँ प्रश्न की अपेक्षा है। शिष्य का प्रश्न है कि ज्ञान दर्शनावरण कर्म का आस्रव क्या है ? ऐसा प्रश्न होने से ज्ञानदर्शन का ग्रहण करना।

तथा ऐसा कहने से ज्ञान दर्शन में तथा इनके कारण जो गुरु पुस्तक आदि है, उनमें प्रदोष आदि का करना भी शामिल कर लेना; क्योंकि गुरु आदि ज्ञान के कारण है उन्हें भी ग्रहण करना। इस तरह ये प्रदोष आदि ज्ञानदर्शनावरण कर्मों के आस्रव के कारण हैं। यहाँ ऐसा समझना कि एक कारण से अनेक कार्य होते हैं। ये प्रदोष आदि ज्ञान में होते है, उस ही प्रकार दर्शन में भी होते हैं, इस तरह समान होते हुये भी दोनों कर्मों के आस्रव रूप अलग अलग कार्य करते हैं अथवा विषय का भेद होने पर आस्रव में भी भेद होता है। अत: ज्ञान संबंधी प्रदोष आदि ज्ञानावरण कर्म का आस्रव करते हैं और

ये ही दर्शन संबंधी होने पर दर्शनावरण का आस्रव करते हैं।

यहाँ इतना और जानना कि आचार्य, उपाध्याय आदि से प्रतिकूल रहना, अकाल अध्ययन करना, श्रद्धान न करना, अभ्यास में आलस्य करना, अनादर से शास्त्र के अर्थ को सुनना, तीर्थ अर्थात् मोक्षमार्ग का उपरोध अर्थात् चलने न देना, बहुश्रुत (अधिक ज्ञानी) होकर गर्व करना, झूठा उपदेश देना, बहुश्रुत की अवज्ञा करना, परमत का पक्ष करने में पंडिताई करना, अपने मत के पक्ष को छोड़ना, असंबद्धप्रलाप अर्थात् व्यर्थ बकवास करना, उत्सूत्रभाषण कुछ लौकिक प्रयोजन साधने के लिये ज्ञानाभ्यास करना, शास्त्र को बेचना, प्राणियों का घात करना इत्यादि ज्ञानावरण कर्म के आस्रव का कारण है। तथा इस ही प्रकार दर्शन में मात्सर्य अर्थात् अन्य देखना चाहे उसे नहीं दिखाना तथा देखने वाले के देखने में अन्तराय करना तथा अन्य के नेत्र निकाल देना, अन्य की इन्द्रियों में प्रतिकूलता अर्थात् बिगाड़ना चाहना, अपनी सुन्दर दृष्टि हो बहुत दिखता हो उसका गर्व करना तथा नेत्र फाड़कर देखना, दिन में सोना, आलस्य करना, नास्तिक पक्ष का ग्रहण करना, सम्यग्दृष्टि को दूषण लगाना, कुतीर्थ की प्रशंसा करना, प्राणीघात करना, यतीश्वरों को देखकर ग्लानि करना इत्यादि दर्शनावरण कर्म के आस्रव के कारण है।

आगे जैसे ज्ञानदर्शनावरण कर्म के आस्रव का विशेष कहा है, वैसे ही वेदनीय कर्म का विशेष कहने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थानान्यसद्वेद्यस्य ।। ६–११ ।।

अर्थ : दुःख, शोक, ताप, आक्रंदन, वध, परिदेवना – ये स्वयं के तथा पर के तथा दोनों के करे, करावे वे असाता वेदनीय कर्म के आस्रव के कारण हैं। पीड़ारूप परिणाम दुःख है। स्वयं के लिये उपकारी इष्ट वस्तु के संबंध का विच्छेद होने पर खेद सहित निराश परिणाम होना शोक है, कोई निंद्य कार्य करने से अपना अपवाद हो, तब मन मैला होने पर उसका बहुत पश्चाताप करना ताप है। किसी निमित्त से परिताप हुआ हो, इसलिये विलाप कर अश्रुपात सहित प्रकट पुकार कर रोना, आक्रंदन है। आयु, इन्द्रिय, बल, प्राणों का वियोग करना वध है। संक्लेश परिणाम करके इस प्रकार रोना जिससे अपना तथा अन्य का उपकार कराने की तथा करने की इच्छा हो, जिसके सुनने से अन्य को अनुकंपा करुणा उत्पन्न हो, वह परिवेदन है।

यहाँ **कोई कहे** – शोक आदि तो दुःख के ही विशेष हैं, अतः एक दुःख का ही कथन करना था।

उससे कहते है – यह तो सत्य है कि दुःख में सभी समहित है तथा कुछ विशेष कहकर दुःख की जाति का ज्ञान कराना होता है। जैसे गऊ कहने से उसके विशेष नहीं जानने में आते उन्हें बताने के लिये खाड़ी, मूडी, काली, सफेद इत्यादि साथ लगाते है, उसी प्रकार दुःख संबंधी आस्रव के

असंख्यात लोकप्रमाण भेद हैं। अत: दु:ख ही कहने पर विशेष का ज्ञान होता, तब कुछ विशेषों का कथन करके उसके भेदों का ज्ञान कराने के लिये विशेष का कथन करते हैं। ये दु:ख आदि क्रोध आदि परिणामों से स्वयं को भी होते हैं तथा अन्य को भी किये जाते हैं तथा स्वयं के करके अन्य के भी करे, इस प्रकार दोनों में भी होते हैं। वे सब ही असातावेदनीय कर्म के आस्रव के कारण हैं।

यहाँ **तर्क :** यदि दु:ख आदि स्वयं को, अन्य को तथा दोनों को किये जाने पर असाता-वेदनीय कर्म के आस्रव के कारण है तो केशलोंच करना, अनशन तप करना, आतापन योग करना - ये दु:ख के कारण है। इन्हें स्वयं करे, अन्य से करावे वह किसलिये है ?

समाधान : यह दोष नहीं है। यदि अन्तरंग क्रोध आदि परिणाम के आवेशपूर्वक दु:ख आदि (किये, कराये जाते) हैं तो असातावेदनीय के आस्रव के निमित्त होते हैं, ऐसा विशेषरूप से कथन है। जैसे कोई वैद्य परम करुणा चित्त होकर नि:शल्य हुआ यत्नपूर्वक संयमी पुरुष के फोड़े को चीरा लगा देता है, वह उस (संयमी) के दु:ख के लिये कारण है, फिर भी उस वैद्य के बाह्य दु:ख के निमित्त मात्र से पापबंध का कारण नहीं होता, उसी प्रकार संसार संबंधी महादु:ख से विरक्त मुनि को उस (संसार संबंधी) दु:ख का अभाव करने के उपाय में मन लगाकर शास्त्रोक्त विधानपूर्वक अनशन आदि में प्रवर्ते अथवा अन्य को प्रवर्तावे, तब उसके संक्लेश परिणाम का अभाव होने से बाह्य निमित्त रूप होने पर भी पाप बंध नहीं होता है।

यहाँ अन्य ग्रन्थ से दो श्लोक हैं उनका अर्थ कहते हैं - जैसे रोगी का इलाज करने पर उसको सुख हो अथवा दु:ख हो, वे सुख दु:ख उस इलाज के कारण नहीं होते देखे जाते, रोग मिटाने को इलाज सामान्य है उसी प्रकार संसार से छूटने के लिये मोक्ष के साधन में सुख हो अथवा दु:ख हो वे दोनों ही मोक्ष साधन में कारण नहीं है।

भावार्थ : जैसे वैद्य का अभिप्राय तो रोगी को निरोग करने का है, उसी प्रकार संसार दु:ख का कारण होते भी असाता वेदनीय (कर्म के आस्रव) का कारण नहीं है।

यहाँ दु:ख के अन्य भी समान जातीय भाव उपलक्षण से जान लेना। वे कौन हैं वह बताते हैं। अशुभ प्रयोग करके अन्य को पाप की प्रेरणा देना, परपरिवाद अर्थात् पर का अपवाद करना, पैशून्य अर्थात् पर से अदेखसाभाव करके खोटी कहना, चुगली खाना, अन्य की करुणा नहीं करना, अन्य को परिताप अर्थात् तीव्र पीड़ा उपजाना, अंग उपांग का भेदन करना, मर्म के स्थान पर भेदन विदारण करना, अन्य को ताड़ना, अन्य को त्रास उत्पन्न करना, पर का तिरस्कार करना, अन्य को झुलसाना, दागना, अन्य का अंग छीलना, काटना, श्वास रोक देना, बांधना, रोकना, मसल देना, अन्य को वश में रखना, स्वतंत्र न रहने देना, अन्य को वाहना, बोझ आदि देकर चलाना, अन्य के शरीर को

घिसना रगड़ना, अन्य की निंदा करना, अपनी प्रशंसा करना, संक्लेश उत्पन्न करना, बहुत आरंभ करना, बहुत परिग्रह चाहना, अन्य के प्राण हरना, क्रूर स्वभाव रखना, पापकर्म वाली आजीविका करना, अनर्थदंड अर्थात् बिना प्रयोजन पाप करना, आहार में विष मिला देना, पिंजरे, मछली पकड़ने की बंसी, पासे, जाल, मंत्र आदि से जीवों से मित्रता रखना तथा उनकी सेवा करना, उनसे वार्तालाप देन लेन का व्यवहार करना – ये सब ही असातावेदनीय कर्म के आस्रव के कारण हैं।

आगे पूछते हैं – असातावेदनीय कर्म के आस्रव के कारण तो बताये पर सातावेदनीय कर्म के आस्रव के कारण क्या हैं ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादि योग: क्षान्ति: शौचमिति सद्वेद्यस्य ।। ६–१२ ।।

अर्थ : भूत अर्थात् जीव और व्रतधारी (जीवों – मनुष्यों) में तो अनुकम्पा तथा दान देना, सराग संयम आदि इन सबका योग अर्थात् भले प्रकार चित्त का समाधान करके इनमें लगाना, विचार करना तथा क्षमा, शौच तथा इति शब्द से अरिहंत पूजा आदि – ये सब सातावेदनीय कर्म के आस्रव के कारण है। कर्म के उदय के वश से तरह तरह की गतियों में वर्तता (भ्रमण करता) भूत अर्थात् प्राणी मात्र को ग्रहण करना। तथा जिनके अहिंसा आदि व्रत हो वे व्रती हैं, उनमें जो घर के त्यागी हैं, वे मुनि और घर में रहते हुये ही अणुव्रतों का पालन करें वे श्रावक हैं तथा जो अन्य के उपकार में आर्दित चित्त हों अन्य की पीड़ा को स्वयं में हुयी (पीड़ा) मानने वाले पुरुष को करुणा भाव होता है, उसे अनुकंपा कहते हैं तथा ऐसे प्राणीमात्र तथा व्रतियों में अनुकंपा हो वह भूतव्रत्यनुकंपा है तथा अन्य के उपकार की बुद्धि से अपना धन आदि देना दान है तथा संसार के लिये कारण जो द्रव्य भावकर्म हैं उनके अभाव करने में उद्यमी और जिनके चित्त में संसार के कारणों की निवृत्ति करने का राग हो वे सरागी हैं तथा प्राणी और इन्द्रियों में अशुभप्रवृत्ति का त्याग संयम कहा जाता है। इस प्रकार पूर्वोक्त सरागियों का सरागसंयम है अथवा राग सहित संयम है वह सरागसंयम है।

यहाँ आदि शब्द से संयमासंयम, अकामनिर्जरा बालतप को भी ग्रहण करना, योग अर्थात् समाधि है वह चित्त को सम्यक् में लगाना है।

भावार्थ : प्राणीमात्र और व्रतियों में तो करुणाभाव, दान तथा सरागसंयमियों में तो चित्त रखना। क्रोध आदि परिणामों का अभाव क्षान्ति अर्थात् क्षमा है तथा लोभ के प्रकार जैसे जीने का लोभ, निरोग रहने का लोभ, इन्द्रियों (की विषय ग्रहण शक्ति) के बने रहने का लोभ, उपकरण वस्तु का लोभ आदि, अपना द्रव्य नहीं देना, अन्य का द्रव्य ले लेना, चोरी करके ले लेना, अन्य की रखी वस्तु को छिपाना, इत्यादि अनेक प्रकार लोभ के हैं, उन्हें नहीं करना शौच है तथा इति शब्द यहाँ प्रकार के अर्थ में है, उससे अरिहंत की पूजा करने कराने में तत्परता, बाल वृद्ध तपस्वी मुनियों का

वैयावृत्य करना इत्यादि को भी यहाँ ग्रहण करना।

यहाँ **प्रश्न :** भूत कहने में प्राणी मात्र सभी आ गये, पुन: व्रती का ग्रहण किसलिये किया ?

समाधान : प्रधानपने से व्रतियों में अनुकम्पा का ज्ञान कराने के लिये यहाँ अलग से व्रती का ग्रहण किया गया है। (अनुकम्पा) सामान्यरूप से प्राणियों में तो हो ही परन्तु व्रतियों में विशेष रूप से (अनुकम्पा) हो। जैसे बड़े आदमी के हर एक से प्रीति होती है; परन्तु जिनसे अपना प्रयोजन सधता हो ऐसे कुटुंबी आदि से विशेष रूप से (प्रीति) होती है उसी प्रकार यहाँ भी जानना। इस तरह ये सब सातावेदनीय कर्म के आस्रव के कारण हैं। इस प्रकार के परिणाम सर्वथा एकान्तवादियों जो आत्मा को नित्य ही मानते हैं अथवा अनित्य ही मानते हैं उनके मत में इनकी सिद्धि नहीं होती क्योंकि सर्वथा नित्य मानने वालों के तो परिणाम का पलटना ही नहीं बन सकता और सर्वथा अनित्य मानने वालों के पूर्वापर का जोड़ ही नहीं है, अत: (ऐसे परिणाम) कैसे बने ?

आगे इस वेदनीय कर्म के अनन्तर क्रम में आये मोहनीयकर्म के आस्रव के भेद बताना योग्य है। अत: उस (मोहनीय कर्म) के भेद दर्शन मोह के आस्रव के भेद बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ।। ६–१३ ।।

अर्थ : केवली, श्रुत, संघ, धर्म, देव इनका अवर्णवाद अर्थात् जो दोष इनमें न हों वे दोष कहना इससे दर्शनमोह कर्म का आस्रव होता है। इन्द्रियों के द्वारा जानना, अनुक्रम से जानना, कुछ बीच में आ जाने पर न जानने रूप व्यवधान जिसे अन्तर भी कहते हैं आदि का उल्लंघन करके जिसके बिना इन्द्रियों (की सहायता) के एक काल में सर्व को जानने वाला ज्ञान प्रकट हो गया है, ऐसे केवली अरिहन्त भगवंतों के लिये यह कहें कि ये कवलाहार करते हैं, बिना आहार के कैसे जीवें ? कम्बल आदि तथा तूबडी आदि रखते हैं, तथा उनका ज्ञान कालभेद से प्रवर्तता है, इत्यादि वचन (उन केवली भगवंतों के लिये) कहना केवलियों का अवर्णवाद है। तथा उन केवलियों द्वारा भाषित, बुद्धि के अतिशय एवं ऋद्धियों से युक्त गणधरों द्वारा रचित श्रुत शास्त्र में मांसभक्षण, मदिरापान, कामातुर होकर मैथुन का सेवन, रात्री भोजन करने आदि में पाप नहीं है, ऐसा कहा है – ऐसा कथन करना शास्त्र श्रुत का अवर्णवाद है। तथा संघ के बारे में कहना – ये मुनि शुद्र हैं, स्नान नहीं करते हैं, उनके अंग मललिप्त हैं, ये दिगम्बर हैं, अपवित्र हैं, निर्लज्ज हैं, यहाँ पर ही दु:ख भोग रहे हैं, परलोक में सुखी कैसे होंगे, इत्यादि वचन कहना संघ का अवर्णवाद है।

यहाँ संघ रत्नत्रय से सहित चारों प्रकार के मुनियों (के समूह) को कहा है। मुनि अर्थात् अवधि, मन:पर्यय ज्ञानी, **ऋषि** अर्थात् जिन्हें ऋद्धियाँ प्रकट हुई हों, **यति** अर्थात् इन्द्रियों को जीतनेवाले, **अनगार** अर्थात् सामान्य साधु – ऐसे चार भेद (संघ–मुनियों के समूह में) हैं।

यहाँ कोई **पूछता** है – एक ही मुनि को संघ कैसे कहा जा सकता है ?

समाधान – उनमें अनेक व्रत आदि गुणों का समूह है, अत: एक को भी संघ कहना बन जाता है।

तथा अहिंसा लक्षणवाले एवं केवली, श्रुतकेवली के आगम में कहे धर्म के लिये कहना कि उनका धर्म गुण रहित है, उसका सेवन करनेवाले असुर होंगे, इत्यादि प्रकार के कथन करना धर्म का अवर्णवाद है।

तथा पहले कहे गये चार प्रकार के देवों के सम्बन्ध में कहना कि देवता मांसाहारी हैं, मदिरा पीते हैं, इत्यादि कहकर इन कथनों की स्थापना करके जीवों को मारकर उनके चढाना (बली देना), मदिरा चढाना इत्यादि करने का पोषण करना देव का अवर्णवाद है।

इसप्रकार गुणवान महंत पुरुषों में तथा उनकी प्रवृत्ति में बिना हुये दोषों का आरोपण करना अवर्णवाद है। इससे मिथ्याश्रद्धान लक्षणवाले दर्शनमोह कर्म का आस्रव होता है।

आगे मोहनीय कर्म के दूसरे भेद चारित्र मोह के आस्रव के भेद बताने को सूत्र कहते हैं –

।। कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ।।६–१४।।

अर्थ : कषायों के तीव्र उदय से तीव्र परिणाम हों, उनसे चारित्र मोहनीय कर्म का आस्रव होता है। स्वयं को एवं पर को कषाय उपजाना, तपस्वीजनों को तथा उनके व्रतों को दूषण लगाना, तथा जिनमें संक्लेश परिणाम हों – ऐसा भेष तथा व्रत धारण इत्यादि तीव्र कषायों के अनेक कार्य हैं, उन्हें करने से कषाय वेदनीय कर्म का आस्रव होता है।

अब नोकषाय वेदनीय के (आस्रव के कारणों को) कहते हैं – सत्य धर्म का हास्य करना, दीनजनों को देखकर उनकी हालत पर हास्य करना, बहुत प्रलाप करना, निरर्थक हंसना, हास्य ही का स्वभाव रखना आदि से हास्यवेदनीय कर्म का आस्रव होता है तथा अनेक प्रकार की क्रियाओं में तत्परता व्रतशील में अरुचि परिणाम रतिवेदनीय के आस्रव का कारण है। अन्य में अरति उत्पन्न करना, पर की रति का विनाश करना, पापीपने का स्वभाव रखना, पापीजनों का संसर्ग करना आदि से अरतिवेदनीय कर्म का आस्रव होता है। स्वयं को शोक उपजाना, अन्य को शोक हो उसमें हर्ष मानना इत्यादि से शोकवेदनीय कर्म का आस्रव होता है। स्वयं भय के परिणाम रखना, पर को भयभीत करना इत्यादि से भय वेदनीय कर्म का आस्रव होता है। भले आचरण क्रिया में जुगुप्सा रखना, उसकी निंदा करना, पर का अपवाद करने का ही स्वभाव रखना इत्यादि से जुगुप्सा वेदनीय कर्म का आस्रव होता है।

तथा झूठ बोलने ही का स्वभाव रखना, अन्य को ठगने में तत्पर रहना, अन्य के छिद्र दूषण तलाश करने की वृत्ति रखना, अतिवध से राग, काम, कुतुहल आदि के परिणाम रखने

इत्यादि से स्त्री वेदनीय कर्म का आस्रव होता है। अल्प कषायों में लिप्त रहना, अपनी स्त्री में ही संतोष रखना इत्यादि से पुरुष वेदनीय कर्म का आस्रव होता है। प्रचुर कषाय परिणाम गुह्येन्द्रिय लिंग आदि को काट देना, परस्त्री में आसक्तता से वशीभूत होना इत्यादि से नपुंसकवेदनीय कर्म का आस्रव होता है।

मोहनीय कर्म के आस्रव के भेद बताये अब इसके अनन्तर कहे गये आयु कर्म के आस्रव के कारणों का कथन करने पर प्रथम ही नारकी जीवों के आयु कर्म आस्रव का कारण कहने के लिये आगे सूत्र कहते हैं। आयुकर्म का उदयकाल नियम से होता है, आयु कर्म छिदता नहीं है।

।। बह्वारंभपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ।। ६-१५ ।।

अर्थ : बहुत आरंभ करना तथा बहुत परिग्रह रखना नरक आयु के आस्रव का कारण है। प्राणियों को पीड़ा के कारणरूप व्यापार (क्रिया) में प्रवर्तना आरंभ है। यह मेरा है ऐसे ममत्व लक्षण वाला परिग्रह है। ये जिनके बहुत हो उनको बहुआरंभ परिग्रह कहा जाता है। वे क्या हैं ? हिंसा आदि पांच प्रकार के पापों में क्रूर कर्म करना, निरंतर प्रवर्तना, अन्य के धन का हरण करना, विषयों में अतिलोलुपता रखना, कृष्ण लेश्या से रंजित रौद्रध्यान सहित मरना इत्यादि जिनके लक्षण हैं वे नरकायु के आस्रव का कारण हैं। इसका विशेष - मिथ्यात्व सहित आचरण उत्कृष्ट मानकषाय, शिलाभेदसदृश क्रोध, तीव्र लोभ में अनुराग, अनुकम्पा रहित परिणाम अन्य को परिताप उपजाने ही के भाव वद्यवंधन का अभिप्राय प्राणीभूत जीवसत्व के निरंतर घात ही के परिणाम इस ही प्रकार असत्यवचन, कुशील, चोरी का अभिप्राय, दृढ वैर, अन्य के उपकार से विमुख परिणाम तथा देव गुरु शास्त्र का भेद करके बुद्धि कल्पित मत चलाना इत्यादि (नरकायु कर्म के आस्रव के कारण) जानना।

आगे नरकायु के आस्रव के कारण तो बताये, अब तिर्यंच योनि के आस्रव के कारण बतावें ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं -

।। माया तैर्यग्योनस्य ।। ६-१६ ।।

अर्थ : माया अर्थात् कुटिलता के परिणाम तिर्यंच योनि के आस्रव के कारण है। चारित्र मोहनीय कर्म विशेष के उदय से प्रकट हुआ कुटिलभाव माया है। इसे निकृति भी कहते हैं। यह तिर्यंचयोनि (आयु) के आस्रव का कारण है। इसका विस्तार - मिथ्यात्व सहित वाले धर्म का उपदेश देना, शीलरहितता, अन्य को ठगने में प्रीतिरूप परिणाम, नीलकपोत लेश्या, आर्तध्यान सहित मरना आदि है।

आगे तिर्यंचयोनि के आयु का आस्रव का कारण बताया, अब मनुष्य आयु के आस्रव के कारण बतावें ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं -

।। अल्पारंभपरिग्रहत्वं मानुषस्य ।। ६-१७ ।।

अर्थ : अल्प आरंभ रखना, अल्प परिग्रह रखना मनुष्य आयु के आस्रव के कारण हैं। पहले जो नरक आयु के आस्रव का कारण बताया था, उससे उल्टा मनुष्य आयु के आस्रव का कारण है, यह तो संक्षेप में जानना तथा विस्तार से कहने पर विनययुक्त स्वभाव होना, प्रकृति से ही भद्रपरिणामी होना, मन वचन काय की सरलतापूर्वक व्यवहार करना, कषायें अल्प होना, मरण काल में संक्लेश परिणामों का नहीं होना इत्यादि है।

भावार्थ : पापपुण्य के मिश्र मध्यम परिणामों से मनुष्यआयु का आस्रव होता है।

आगे प्रश्न : मनुष्य आयु के आस्रव के ये ही कारण हैं अथवा कुछ अन्य भी हैं। ऐसा पूछने पर उत्तर देने के लिये सूत्र कहते हैं -

।। स्वभाव मार्दवं च ।। ६-१८ ।।

अर्थ : स्वभाव से ही कोमल भावों का होना भी मनुष्य आयु के आस्रव का कारण है। मृदुता के भाव को मार्दव कहते हैं। अन्य कारणों की अपेक्षा बिना स्वभाव ही से मार्दव हो तब मार्दव कहा जाता है। यह भी मनुष्य आयु के आस्रव का कारण है। यहाँ यह पहले सूत्र से अलग सूत्र कहा, उसका प्रयोजन यह है कि आगे देवायु के आस्रव के कारण बतावेंगे, वहाँ स्वभाव मार्दव देवायु के भी आस्रव का कारण है, यह बताना है।

आगे पूछते हैं कि मनुष्य आयु के आस्रव के ये दो ही कारण है अथवा कुछ और भी है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं -

।। निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् ।। ६-१९ ।।

अर्थ : शील अर्थात् उत्तर गुण और व्रत अर्थात् मूलगुण इनसे रहित होना ये सभी चारों प्रकार के आयुकर्मों का आस्रव होता है। यहाँ सूत्र में च शब्द है वह पहले जो अल्पारंभ परिग्रह कहा था उसका मनुष्य के आयु के समुच्चय के लिये है। इस प्रकार अल्पारंभ परिग्रह रखना भी और निःशीलव्रतपना भी मनुष्य आयु के आस्रव के कारण है, ऐसा समझना। शील और व्रतों का कथन आगे करेंगे। इनसे रहित जो निःशीलव्रतपना तथा सर्वेषां कहने से सभी प्रकार की आयुओं का यह आस्रव का कारण है।

यहाँ **कोई पूछता है** - देवायु का आस्रव भी शीलव्रत रहितपने से होता है क्या ?

वहाँ आचार्य **उत्तर** देते हैं - सत्य है होता है परन्तु भोगभूमियों की अपेक्षा जानना। वहाँ के जीव अव्रती ही होते है और देवायु का ही बंध करते हैं।

आगे चौथी आयु अर्थात् देव आयु के आस्रव के कारण क्या हैं ? ऐसा पूछे तो सूत्र कहते हैं -

।। सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि देवस्य ।। ६–२० ।।

अर्थ : रागसहित संयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा, बालतप ये देवायु के आस्रव के कारण हैं। सराग संयम और संयमासंयम का कथन पहले किया ही था। किसी के द्वारा बंदीखाने में रोके जाने तथा बंधन से बांध दिये जाने पर भूख प्यास को भुगतना पड़ना तथा स्त्री का संगम न होने से सहज ही ब्रह्मचर्य का होना, भूमि पर सोना, शरीर में मल का रहना तथा अन्य के द्वारा दिये गये पीड़ा दु:ख को सहना अकामनिर्जरा है। ऐसे दुख जो स्वयं कृत न हों उन्हें सहने से पापकर्मों की निर्जरा होती है तथा मिथ्यात्व सहित बिना उपयोगी कायक्लेश जिसमें हो ऐसे कपट की बाहुल्यता से व्रत धारण जिसमें हो वह बालतप है। इन्हें देवायु के आस्रव के कारण जानना।

विस्तार से कथन करने पर – जिनसे अपना भला होना जाने उनसे तो संबंध करना, आयतन अर्थात् कल्याण होने के स्थान देव–शास्त्र–गुरु की सेवा करना, सच्चे धर्म का आश्रय करना, धर्म का महानपना प्रदर्शित (की प्रभावना करना) निर्दोष प्रोषध उपवास करना, जीव अजीव पदार्थों को जाने बिना बालतप करना, अज्ञान पूर्वक संयम पालना – ऐसे कई क्लेश भावों के विशेष से भवनवासी व्यंतर आदि तथा सहस्रार स्वर्ग तक उत्पन्न होने के कारण है तथा अकामनिर्जरा का कथन करते जो स्वयं कृत नहीं है ऐसे दु:ख आवे उनमें संक्लेश परिणाम न करना तथा धर्मबुद्धि से पर्वत से कूदना, वृक्ष पर चढकर कूदना, अनशन करना, अग्नि जल में प्रवेश करना, चित्त में करुणा रखते हुये भी विष खाकर मरना, जल की रेखा के समान क्रोध जिनके हों वे व्यंतर आदि में उत्पन्न होते हैं।

आगे पूछते हैं – देव आयु के आस्रव के ये ही कारण हैं क्या ? आचार्य कहते हैं, अन्य भी हैं, इसका सूत्र कहते हैं –

।। सम्यक्त्वं च ।। ६–२१ ।।

अर्थ : सम्यक्त्व भी देवायु के आस्रव का कारण है। यहाँ देव का कोई विशेषण नहीं कहा है, अत: कल्पवासियों का ही यहाँ ग्रहण करना क्योंकि अलग से यह सूत्र इस ही बात को बताने के लिये लिखा है।

यहाँ **प्रश्न** – पिछले सूत्र में सराग संयम, संयमासंयम कहे हैं। इससे इनके भवनत्रिक की आयु के आस्रव का कारण होने का प्रसंग आता है क्योंकि सम्यक्त्व का सूत्र अलग कहा ही है।

समाधान : यह दोष नहीं है क्योंकि जिसको सम्यक्त्व का अभाव हो उनके सराग संयम, संयमासंयम होते ही नहीं। इन दोनों को भी इस सूत्र में गर्भित जान लेना।

यहाँ कोई पूछता है –सम्यक्त्व से कल्पवासी देव ही की आयु का आस्रव होता है यह यहाँ बताया, उससे यह तो समझ में आया कि तीव्र सम्यक्त्व से ऐसा होता है। पर जो अव्रत सम्यग्दृष्टि है

जिनके मिथ्यादृष्टि की ही तरह के बहुआरंभ आदि कार्य देखे जाते हैं, उनके लिये ऐसा नियम कैसे संभव हो सकता है ? तथा क्षायिक सम्यग्दृष्टि राजा श्रेणिक ने अपघात से मरण किया और नरक गया ऐसा पुराणों में लिखा है, यह कैसे समझ में आवे (यह नियम यहां क्यों नहीं लागू हुआ) ?

उत्तर : यहाँ यह नियम मनुष्य और तिर्यंचों की ही अपेक्षा है। सम्यक्त्व सहित देव नारकी के मनुष्य आयु ही का बंध होता है। सम्यग्दृष्टि देव व नारकी (वहां आयु पूर्ण होने पर) मनुष्य ही उत्पन्न होते हैं तथा मनुष्य और तिर्यचों को (सम्यक्त्व सहित होने पर) देवायु ही बंधती है। उनके मिथ्यात्व का अभाव होने से जीव तत्व में अजीव तत्व के श्रद्धान का अभाव हुआ है। त्रस स्थावर जीवों का सर्वज्ञ के आगम के अनुसार श्रद्धान किया है।

तथा जो अनंतानुबंधी कषाय थी वह मिथ्यात्व के साथ थी (वह भी मिथ्यात्व के साथ ही गयी) अत: उसके विशेष जो क्रोध, मान, माया, लोभ ये उनका अभाव हुआ है। अत: उस अनंतानुबंधी संबंधी हिंसा का अभाव है। सभी जीवों के प्रति अंतरंग में करुणा भाव है। सभी जीवों को अपने समान जानते हैं। कदाचित् अप्रत्याख्यानावरण के तीव्र उदय में आरंभ आदि में प्रवर्तते है, जिसे अपना तीव्र अपराध जानते हैं। तीव्र उदय के कारण उसका अभाव नहीं कर पाते हैं। वहाँ भी लौकिक न्याय अन्याय संबंधी आचार विचार बहुत रखते हैं। अपनी जानकारी में अन्याय में नहीं प्रवर्तते है। शुद्ध वृत्ति न्याय को लिये (के साथ) आरंभ आदि करते हैं। उसमें हिंसा होती है उसे ऐसा मानकर कि इसमें दोष नहीं है हमारा पद ऐसा है इस तरह स्वच्छंद नि:शंक परिणमन नहीं करते हैं। ऐसा होने से अंतरंग के कषाय बहुत हल्के हैं अत: कल्पवासी देव की आयु का ही बंध करते हैं।

तथा श्रेणिक राजा ने तो पूर्व में खोटे अपराध से सप्तम नरक की आयु बांधी थी तथा आयु बंधने के बाद पलटती नहीं है। अत: सम्यक्त्व होने के बाद उसके महात्म्य से बध्य आयु का अपर्कषण कर स्थिति घटाकर प्रथम पृथ्वी (पहले नरक) के पहले पटल में चौरासी हजार वर्ष की आयु लेकर उत्पन्न हुआ। वहाँ आयुबंध के निमित्त से अप्रत्याख्यानावरण का ऐसा तीव्रस्थान वाला उदय आया कि अपघात करण करके वहाँ उत्पन्न हुआ। यदि पूर्व में मिथ्यात्व अवस्था में आयु नहीं बंधे तो मनुष्य तथा तिर्यंच को कल्पवासी देव ही की आयु का आस्रव होता है, ऐसा अर्थ है।

आगे आयुकर्म के अनंतर कहे गये नामकर्म की आस्रव की विधि कहने में पहले अशुभनामकर्म के आस्रव के कारणों का ज्ञान कराने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्न: ।। ६–२२ ।।

अर्थ : मन वचन काय के योगों की वक्रता अर्थात् कुटिलता तथा विसंवाद अर्थात् अन्य को अन्यथा प्रवर्ताना – ये दोनों अशुभ नामकर्म के आस्रव के कारण है। योग के तीन प्रकारों का कथन

तो पहले कहा वही है, उनकी वक्रता अर्थात् कुटिलता मन में कुछ विचारना बाद में अन्य को ठगने के लिये वचन से कुछ अन्य कहना तथा काय से कुछ और क्रिया करना जिससे दूसरा व्यक्ति ठगा जावे, ऐसा भुलावा देना कुटिलता है तथा विसंवाद अर्थात् अन्य को अन्यथा प्रवर्ताना।

यहाँ **कोई कहे** – योगों की वक्रता ही अन्यथा प्रवर्ताना है, इनमें अर्थ भेद दिखाई नहीं देता।

उससे कहते हैं – यह तो सत्य है परन्तु अर्थ भेद भी है। स्वयं की अपेक्षा तो वह योगवक्रता है और पर की अपेक्षा वह विसंवाद है। अन्य कोई अपना आत्मकल्याण करने वाली स्वर्ग मोक्ष के उपाय की किसी भली क्रिया में प्रवर्तता हो उसे भुलाकर उसकी क्रिया को मन वचन काय से अन्यथा कहे, उसका विसंवाद करे, निंदा करे ऐसा कहना कि यह क्रिया मत करो बुरी है हम कहें उस प्रकार कर, ठगने के लिये ऐसा करना विसंवादन है। इन दोनों को अशुभ नामकर्म के आस्रव के कारण जानना।

इस सूत्र में च शब्द से मिथ्यादर्शन, अदेखसखाभाव, चुगली खाना, चित्त का चलायमान होना, तराजु से कम तोल कर देना, अन्य की निंदा करना, अपनी प्रशंसा करने आदि का भी इनमें समुच्चय है। यहाँ इन विशेषों को और शामिल करना-खोटे (अथवा नकली) स्वर्ण मणि आदि के असली जैसे (आभूषण आदि) बनाकर ठगना, झूठी साख भरना (गवाही देना) अन्य के अंग उपांगों को बिगाड़ना, वर्ण रस गंध स्पर्श का अन्यथा प्रवर्तन करना, यंत्र पिंजरे आदि बनाना एक वस्तु को दूसरी वस्तु में मिलाकर प्रचुर कपट करना, झूठ बोलना, चोरी करना, बहुत आरंभ करना, परिग्रह की तीव्र चाह रखना, अन्य को ठगने के लिये उज्ज्वल (पूज्य) वेश बनाना, अभिमान करना, कठोरवचन बोलना, बुरा प्रलाप करना, अन्य को वश में करने में अपना सौभाग्य दिखाना, अन्य को कौतूहल उपजाना, सुन्दर अलंकार पहनने, चैत्य मंदिर के उपकरण पूजा की सामग्री चुराना, अन्य को व्यर्थ अटकाये रखना, पर का उपहास करना, ईंटों के भट्टे पकाना, लौ लगाना आदि अग्नि के प्रयोग आयतन अर्थात् प्रतिमा मंदिर आदि तथा वन में बसी बस्ती, बाग आदि का विनाश करना, तीव्र क्रोध मान माया लोभ में प्रवर्तना, पापकर्म की आजीविका करना आदि।

आगे शुभनामकर्म के आस्रव के कारण क्या है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। तद्विपरीतं शुभस्य ।। ६-२३ ।।

अर्थ : अशुभनामकर्म के आस्रव के जो कारण बताये उनसे विपरीत अर्थात् उल्टे शुभनामकर्म के आस्रव के कारण हैं। काय वचन मन की सरलता तथा अविसंवादन ये उनसे विपरीत हैं तथा पहले च शब्द से जिनका समुच्चय किया था उनके भी विपरीतों को यहाँ भी ग्रहण करना। धर्मात्मा पुरुषों के दर्शन करना, उनका आदर सत्कार करने में अपना हित मानना, संसार भ्रमण से भय करना, प्रमाद का

वर्जन (त्याग) करना इत्यादि को शुभ नामकर्म के आस्रव के कारण जानना। यहाँ भी पूर्व में जो विशेष बताये हैं, उनसे उल्टों को भी शामिल करना।

आगे पूछते हैं - शुभनामकर्म के आस्रव के ये ही कारण हैं या अन्य भी कुछ है ? ऐसा पूछने पर कहते हैं कि तीर्थङ्कर नामक नामकर्म की जो प्रकृति है वह अनंत अनुपम प्रभाव को लिये है तथा अचिंत्य विभूति विशेष का कारण है। तीन लोक विजय कराने वाला है, त्रैलोक्य के सभी इन्द्र आदि से पूज्य है, उसके आस्रव की विधि भी विशेष है।

यहाँ पुन: **प्रश्न :** यदि ऐसा है तो उसके आस्रव के कारण क्या क्या हैं वह बतावें ?

ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं -

।। दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नताशीलव्रतेष्वनतीचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौशक्तितस्त्याग तपसीसाधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचन भक्तिरावश्यकापरिहाणि मार्गप्रभावनाप्रवचनवत्सलत्वमितितीर्थकरत्वस्य ।। ६-२० ।।

अर्थ : ये सोलह भावनायें तीर्थङ्कर नामक नामकर्म की प्रकृति के आस्रव का कारण हैं। जिनभगवंत अरिहंत परमेष्ठी द्वारा उपदेशित निर्ग्रंथ लक्षण मोक्षमार्ग में रुचि प्रतीति, श्रद्धा है वह दर्शन है उसकी विशुद्धि अर्थात् निरतिचारणता दर्शनविशुद्धि है। इसके आठ अंग है -नि:शंकितत्व, नि:कांक्षितत्व, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टिता, उपबृहण (उपगूहन), स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना। उसमें इसलोक, परलोक, व्याधिवेदना, मरण, अरक्षण, अगुप्ति, अकस्मात इन सात भयों के निमित्त से श्रद्धा से नहीं छूटना तथा अरिहंत द्वारा उपदेशित प्रवचन में यह सत्य है या असत्य है ऐसा संदेह नहीं करना **नि:शंकितत्व** है। इहलोक परलोक संबंधी विषयभोगों की वांछा न करना तथा अन्यमत से कुछ लौकिक चमत्कार देखकर उस मत की वांछा न करना, किसी कारण के बन जाने पर भी वांछा करके श्रद्धान नहीं छोड़ना **नि:कांक्षितत्व** है। शरीर आदि को अशुचि जानकर यह शुचि है, ऐसे मिथ्यासंकल्प का अभाव तथा अरिहंत के प्रवचन में ऐसा घोर कष्ट कहा है, यदि यह न हो तो अन्य तो सब युक्त है, ऐसी अशुभ भावना का अभाव **निर्विचिकित्सा** है। अनेक प्रकार के कुनय के पक्षपात वाले मत के तत्त्व समान जैसे दिखते हैं और जो यथार्थ नहीं है उनमें परीक्षा करके उसमें युक्तता का अभाव देखकर मूढता से रहित होना **अमूढदृष्टि** है। उत्तमक्षमा आदि धर्मों की भावना करके आत्मिक धर्मों की वृद्धि करना **उपबृहण** है इसको **उपगूहन** भी कहते हैं तथा साधर्मीजनों में कर्म के उदय से कोई अवगुण लग गया हो उसे उपदेश देकर उस अवगुण से छुड़ाने तथा जिस प्रकार धर्ममार्ग की अवज्ञा न हो वैसे छिपाने को **उपगूहन** कहते हैं। कषाय आदि कर्मों के उदय से धर्म से छूटने का कारण बन जाने पर स्वयं को तथा अन्य साधर्मीजनों को धर्म में दृढ कर स्थिरता करना

स्थितिकरण है। धर्म तथा धर्मात्माओं में प्रीति का दृढ होना परमवात्सल्य होना **वात्सल्य** है। (सम्यक्) दर्शन् ज्ञान चारित्र रूपी रत्नों से आत्मा को अलंकृत शोभायमान कर उद्योत करना तथा महानदान, जिनपूजा, प्रतिष्ठा, विद्या, मंत्र, अतिशय, चमत्कार आदि से मार्ग का उद्योत करना जिससे लोक यह जाने कि यह धर्म सत्यार्थ है ऐसा करना प्रभावना है। इस तरह सम्यग्दर्शन के अतिचारों को छोड़कर (आत्मा को) अष्टांग भूषित करना **दर्शन विशुद्धि** है।

मोक्ष के साधन सम्यग्ज्ञान आदि तथा उनके साधक गुरु शास्त्र आदि में योग्य प्रवृति करके आदर सत्कार करना अथवा कषाय की निवृति **विनयसम्पन्नता** है। अहिंसादिव्रत तथा उनके रक्षक क्रोध को रोकना आदि शील जिन्हें उत्तरगुण भी कहते हैं उनमें यथापदवी मन वचन काय से दोष न लगाना **शीलव्रतेष्वन अतिचार** है। मति आदि ज्ञान के भेद जो प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाण है जिनका फल अज्ञान का अभाव है तथा हेय का त्याग, उपादेय का ग्रहण तथा वीतरागता ही जिसका फल है ऐसे ज्ञान की भावना में निरंतर उपयोग करना **अभीक्ष्णज्ञानोपयोग** है।

संसार में शरीर संबंधी मन संबंधी अनेक भेद वाले अतिकष्ट वाले दु:ख, प्रिय का वियोग, अनिष्ट संयोग, चाही वस्तु का अलाभ आदि सहित वाले संसार से भय करना **संवेग** है।

अन्य को प्रीति का कारण (अच्छी लगने वाली) वस्तु को देना **त्याग** है। पात्र के निमित्त आहार देना उस दिन में पात्र को प्रीति का कारण है। अभयदान देना उस भव में प्रीति का कारण है। सम्यग्ज्ञान अनेक लाख भवों में दु:ख मिटाने का कारण है। इस तरह ये तीन प्रकार के त्याग (दान) को करना चाहिये। अपनी वीर्यशक्ति को न छुपाकर मार्ग से अविरुद्ध कायक्लेश करना तप है। ऐसा विचार करना कि यह शरीर है वह दु:ख का कारण है अनित्य है अशुचि है इसे स्वेच्छा से भोगों से पोषण करना युक्त नहीं है तथा अशुचि भी है फिर भी गुणरूपी रत्नों का संचय करने में उपकारी है। अत: विषय सुखों का संगम छोड़कर इसे (आत्मोन्नति के) अपने कार्य में लगाना यथा शक्ति (मोक्ष) मार्ग से अविरोधी (उल्टे न हो ऐसे) कायक्लेश करना वह **तप** है।

अनेक व्रतशील से सहित मुनि जिन्हें किसी कारण से विघ्न आया हो उसे दूर करना क्योंकि इसमें बहुत उपकार है- जैसे किसी ने अनेक वस्तुओं भरे भंडार में आग लगी हो, उसे बुझाने की तरह **साधुसमाधि** है। गुणवान अर्थात् साधुजनों को कोई कारण से दु:ख आ जावे उसको निर्दोष विधि से दूर करना **वैयावृत्य** है।

जिनके नयन केवलज्ञान श्रुतज्ञान हैं ऐसे अरिहंत, आचार्य तथा अन्यों के हित कार्य में प्रवर्तते स्वपर के मतों के शास्त्रों का विस्तार सहित निश्चय (ज्ञान) रखने वाले बहुश्रुत उपाध्यायों का तथा मोक्षरूपी महल में चढने के लिये पैडी जैसी सुन्दर रचना वाला श्रुतरूपी देवता की सेवा के बिना जिस

पर चढना दुर्लभ है ऐसे प्रवचन, इन चार (अरिहंत आचार्य बहुश्रुत प्रवचन) में मन वचन काय की भावना की विशुद्धतापूर्वक अनुराग इनकी भक्ति है। इस तरह ये **चार** भावनायें हुई।

छह आवश्यकों में यथाकाल प्रवर्तन चित्त को एकाग्र करके ज्ञान ही में लगाना तथा सर्वसावद्ययोग की निवृत्ति करना सामायिक आवश्यक है। तीर्थंकरों के पवित्रगुणों का कीर्तन करना चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक है। दो आसन चार शिरोनति बारह आवर्त मन वचन काय की शुद्धतापूर्वक करना वंदना आवश्यक है। भूतकाल में लगे दोषों का याद करके उनसे निवर्तन करना प्रतिक्रमण आवश्यक है। आगामी काल मे दोषों का निषेध करना त्याग करना प्रत्याख्यान आवश्यक है। काल की मर्यादा करके शरीर से ममत्व छोड़ना कायोत्सर्ग आवश्यक है। इन छह आवश्यकों को यथाकाल करना हानि नहीं करना, प्रमादवश भूलना नहीं वह **आवश्यकापरिहाणी भावना** है।

परमतरूप अज्ञानियों की चमक का तिरस्कार करने वाली ज्ञानरूप सूर्य की प्रभा से तथा महोपवास आदि स्वरूप तप जिससे इन्द्र का आसन भी कंपायमान हो जावे तथा जिनपूजा जिससे भव्यजीवों रूपी कमल वन प्रफुल्लित हो जावे ऐसे सूर्य के प्रकाश समान मार्ग की **प्रभावना** करना।

जैसे गाय का वत्स में स्नेह होता है वत्स को न देखे तब चित्त में उस ही का स्मरण रहता है, उसी प्रकार साधर्मियों में अकृत्रिम स्नेह का होना **प्रवचनवात्सल्य भावना** है।

ऐसी इन सोलह भावनाओं को भाते हुये समस्त ही तथा व्यस्त भिन्न-भिन्न भी सम्यग्दर्शन की शुद्धतापूर्वक होने पर तीर्थंकर नामकर्म के आस्रव का कारण है।

आगे नामकर्म के आस्रव के कारणों के कथन के अनंतर गौत्र कर्म के आस्रव के कारणों का कथन करने में पहले नीचगौत्र के आस्रव के कारण कहने के लिये सूत्र कहते हैं -

।। परात्मनिंदाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ।। ६-२५ ।।

अर्थ : अन्य की निंदा करना, अपनी प्रशंसा करना, अन्य में विद्यमान गुणों का निषेध करना, अपने में अविद्यमान गुणों का प्रकट करना आदि भावों से नीचगौत्र कर्म का आस्रव होता है। सच्चे तथा झूठे दोषों को कहने की इच्छा करना तो निंदा है। उसी प्रकार सच्चे तथा झूठे (विद्यमान तथा अविद्यमान) गुणों को कहने की इच्छा करना प्रशंसा है। इनका यथाक्रम संबंध करना अर्थात् पर की निंदा करना स्वयं की प्रशंसा करना। वस्तु को (प्रकट होने से) रोकने वाले कारणों के निकट होने पर प्रकट न होना उच्छादन है तथा रोकने वाले कारणों का अभाव होने पर प्रकट होना उद्भावन है। यहाँ भी यथाक्रम संबंध करना। अन्य में विद्यमान भी गुण हो उन्हें प्रकट न करना तथा अपने अविद्यमान गुणों को प्रकट करना। ये सब नीचगौत्र कर्म के आस्रव के कारण हैं। विशेष यह है कि जिससे आत्मा नीच स्थान प्राप्त करे वह नीचगौत्र है - उसके आस्रव के कारणों का कथन किया। इसका विस्तार इस

प्रकार है – जाति आदि आठ भेदों का करना, अन्य की निंदा में हर्ष मानना, अन्य का अपवाद करने का ही स्वभाव रखना, धर्मात्मा की निंदा करना, अन्य का यश अच्छा न लगना, गुरुओं का अपमान करना, उनके दोष कहना, उनसे विनय आदि रूप नहीं प्रवर्तना इत्यादि है।

आगे उच्चगौत्रकर्म के आस्रव की विधि क्या है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। तद्विपर्ययौ नीचैर्वृत्यनुत्सेकौ चौतरस्य ।। ६–२६ ।।

अर्थ : नीचगौत्र के आस्रव के जो कारण कहे उनसे उल्टे तथा नम्र होकर प्रवर्तना, उद्धत होकर न प्रवर्तना – ये उच्चगौत्र कर्म के आस्रव के कारण हैं। यहाँ तत् शब्द का अर्थ तो नीच गौत्र के आस्रव के कारण ग्रहण करना। जो इससे पिछले सूत्र में बताये वे ही है। इनसे उल्टे हैं वे विपर्यय है। वे इस प्रकार हैं – अपनी तो निंदा और पर की प्रशंसा करना, अपने गुणों को प्रकट न कहना, अन्य के गुणों को प्रकट कहना तथा जो गुणों में ऊँचे हों महान हों उनमें विनयपूर्वक नमकर रहना नीचैर्वृति है तथा स्वयं में विज्ञान आदि अनेक गुण विद्यमान हों वह उत्कृष्टपना है, इन अपने गुणों का मद न करना अहंकार रहित होना अनुत्सेक है। सूत्र में उत्तर कहने से ये दूसरे गौत्रकर्म अर्थात् उच्चगौत्रकर्म के आस्रव के कारण हैं। यहाँ ऊपर नीचे गोत्र के आस्रव के कारणों में कहे विस्तार के उल्टों को भी ग्रहण करना अर्थात् जाति आदि आठ का मद नहीं करना, अन्य की निंदा नहीं करना, उद्धतापूर्वक नहीं प्रवर्तना, अन्य का उपहास अपवाद नहीं करना, तीव्र मान कषाय नहीं रखना, पूज्य पुरुषों की पूजा विनय सत्कार वंदना करना आदि तथा इस निकृष्ट काल में किसी में ऐसे भले गुण हों जो सामान्यरूप से न पाये जाते हों उनके होने पर भी उद्धता (अहंकार) न करना भी नीचैर्वृति है तथा अपने माहात्म्य का प्रकाशन भी स्वयं न चाहना तथा धर्म के कारणों में बहुत आदर रखना इत्यादि है।

आगे गौत्र कर्म के अनंतर कहे अंतरायकर्म के आस्रव के कारण बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। विघ्नकरणमन्तरायस्य ।। ६–२७ ।।

अर्थ : दान आदि में विघ्न करना अन्तरायकर्म के आस्रव का कारण है। दान आदि का कथन तो पहले किया वही है। दान लाभ भोग उपभोग वीर्य – इनका हनन घात करना बिगाड़ना विघ्न है। ऐसा विघ्न करना अन्तराय कर्म के आस्रव की विधि है।

विस्तार इस प्रकार है – ज्ञान का निषेध करना, सत्कार का निषेध करना, अन्य को दान, लाभ, भोगोपभोग, वीर्य, स्नान, अनुलेपन, सुगंध, पुष्पमाला, वस्त्राभूषण, शयन, आसन, भोजन आदि में विघ्न करना, पर की सम्पदा देखकर आश्चर्य करना, अपने द्रव्य का अतिलोभ के कारण दान आदि न करना, सामर्थ्य होने पर भी उसमें प्रमाद करना, अन्य को झूठा दूषण लगाना, निर्माल्य द्रव्य को ग्रहण करना, निर्दोष उपकरणों का त्याग करना, पर की शक्ति का नाश करना, धर्म का विच्छेदन

करना, तपस्वीजनों के भले आचार में पूजा आदि में विघ्न करना, मुनि को अथवा दीन अनाथ को वस्तु पात्र वस्तिका देने को रोकना, अन्य को क्रिया करने से रोकना, बांधना, गुह्य अंग का छेदन करना, कान नाक ओष्ठ आदि काट देना, प्राणियों का घात करना आदि (भी अन्तराय कर्म के आस्रव के कारण हैं)।

यहाँ कोई **प्रश्न** करता है – सूत्र में बिना कहे ही आप आस्रव के कारणों में विस्तार कथन कैसे करते हैं ?

समाधान : वेदनीय कर्म के सूत्र में इति शब्द कहा है वह प्रकार के अर्थ में है उसकी अनुवृति लेकर सभी कर्मों के आस्रव के कारणों में विस्तार कथन किया है।

इस प्रकार कहे गये आस्रव के विधान द्वारा उपजाये गये आठ प्रकार ज्ञानावरण आदि कर्मों के निमित्त से आत्मा के संसार रूप विकारों को आत्मा निरंतर भोगता है जैसे मदिरा को पीने वाला अपनी ही रुचि से मोह विभ्रम को करने वाली मदिरा पीकर उसके परिपाक के वश उत्पन्न हुये विकार को भोगता है तथा रोगी भोजन में कुपथ्य करके वात आदि अनेक प्रकार के विकारों को भोगता है, उसी प्रकार जानना।

यहाँ **तर्क :** तत्प्रदोष, निह्नव आदि ज्ञानावरण आदि सर्व ही कर्मों के आस्रव के कारण अलग-अलग कहे हैं, वे नियम से अलग-अलग ही हैं या अविशेष (सभी के) हैं ? सभी से सभी कर्मों का आस्रव होता है। यदि कहोगे- नियम से अलग-अलग ही ज्ञानावरण आदि कर्मों के आस्रव के कारण हैं, तब आगम से विरोध आवेगा क्योंकि आगम में ऐसा कहा है कि आयु कर्म को छोड़कर शेष सातों कर्मों का प्रतिसमय निरंतर आस्रव होकर बंध होता है, उससे विरोध होगा और यदि कहोगे कि अविशेष रूप से सर्व का आस्रव होता है तो विशेष करके कहना अयुक्त होगा।

समाधान : तत्प्रदोष आदि से ज्ञानावरण आदि सर्वकर्म प्रकृतियों का प्रदेश बंध तो सबसे सबका होता है। फिर भी अनुभाग बंध की विशेषता के नियमपने से तत् प्रदोष निह्नव आदि में भेद होता है।

यहाँ विशेष – अन्यमती कहता है कि आस्रव के नियम तो कहे पर उनके हेतु तो कुछ कहे नहीं। बिना हेतु के पंडित इन्हें कैसे मानें ?

समाधान : शास्त्र तो वस्तु के स्वभाव को बताते हैं। जैसे दीपक घट आदि को दिखा देता है वैसे ही (शास्त्र) वस्तु के स्वभाव का कथन करते हैं और ऐसा करने वाले शास्त्रों की ही प्रामाणिकता है; क्योंकि शास्त्र भगवान अरिहंत सर्वज्ञ का ज्ञान युगपत सर्वपदार्थों का प्रकाशन करने में समर्थ है और प्रत्यक्ष प्रतिभासरूप है उनके द्वारा भाषित है। अत: यथार्थ उपदेश को देने वाले है और इस ही

लिये उनके वचन प्रमाणभूत ही हैं तथा वस्तु स्वभाव के संबंध में सभी मतों के वक्ताओं में विसंवाद नहीं है। यदि विसंवाद हो तो सभी के कथन मिथ्या होंगे, अत: स्वभाव में तर्क नहीं होता।

तथा सामान्यरूप से तो आयुकर्म को छोड़कर शेष सातों कर्मों का निरंतर आस्रव होता है। जैसा योग का विशेष हो वैसा तो समयप्रबद्ध में हीनाधिक पुद्गल परमाणु होकर उस पुंज का बंटवारा हो जाता है। उसमें कषाय के अनुसार स्थिति अनुभाग पड़ते हैं। अनुभाग तीव्र और मंद बहुत प्रकार के हैं उनके विशेष ज्ञान कराने के लिये तत् प्रदोष निह्नव आदि ज्ञानावरण आदि कर्मों के आस्रवों के भिन्न-भिन्न कारण कहे हैं। उनसे यथायोग्य तीव्र मंद अनुभाग बंध होता है। ऐसा विशेष समझना।

इस प्रकार छठे अध्याय में ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों के सामान्य विशेष कारण बताये। इन्हें जानकर भव्य जीवों को आस्रव भावों से निवृत्ति करके शुद्ध चैतन्य के अनुभव में तत्पर होना योग्य है। यही श्री जिनेन्द्र के मार्ग में निर्ग्रंथ गुरुओं का उपदेश है।

सवैया तेबीसा

आस्रव भाव मुनीन्द्र कहे नय दोय विचार यथाविधि नीकी।
शुद्ध नयातम आस्रव एक चिदातम भावन रति जीकी।।
सोउ अनेक विकारमयी लखि भेद अशुद्धनयाश्रित टीकी।
इन्द्रिय अव्रत और कषाय क्रिया बहु जानै तजौ जु अलीकी।।

इस प्रकार जिसमें तत्त्वार्थ का अधिगम है – ऐसे मोक्षशास्त्र में छठा अध्याय पूर्ण हुआ।

सप्तम अध्याय

दोहा

आठकर्म आस्रवविषै पुण्यपाप कौ भेद।
जानि जिनेश्वर भाषियो नमूं देव निरखेद।।

अर्थ : आठकर्मों के आस्रव में पुण्य पाप का भेद जानकर जिनेश्वर ने बताया है, मैं उन खेदरहित देवों को नमस्कार करता हूँ।

इस प्रकार मंगलाचरण के लिये भगवान को नमस्कार करके सातवें अध्याय की वचनिका लिखते हैं। सर्वार्थसिद्धि नामक टीका में आस्रव पदार्थ के व्याख्यान के आरंभ में ऐसा कहा है कि शुभयोग पुण्यकर्म के आस्रव का कारण है। यह सामान्य से कथन है, इसका विशेष नहीं जाना कि शुभ क्या है ? अत: उसे बताने के लिये सूत्र कहते है –

।। हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ।।७–१।।

अर्थ : हिंसा, अनृत (झूठ), स्तेय (चोरी), अब्रह्म, परिग्रह – ये पांच पाप हैं। इनसे विरति अर्थात् निवृत्ति होना व्रत है। प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा इत्यादि सूत्रों से आगे हिंसा आदि का कथन करेंगे, उनमें विरमण (रमण नहीं) करना व्रत कहा जाता है। यह करना, यह नहीं करना ऐसा अभिप्राय करके किये गये नियम को व्रत कहते हैं।

यहाँ **तर्क :** हिंसा आदि है वे तो परिणाम के विशेष है, जो अध्रुव है, उनको पंचमी विभक्ति करके अपादान कहा, पर अपादान तो ध्रुव होता है, अध्रुव का अपादान होना कैसे हो सकता है ?

समाधान : जैनेन्द्र व्याकरण में अपादान का ऐसा लक्षण लिखा है – ध्यपाये ध्रुवमपादानम् – बुद्धि का नाश (हेयोपादेय विचार शक्ति) का नाश होने पर भी जो ध्रुव रहे वह अपादान है। इससे ध्रुवत्व की विवक्षा बन जाती है, ऐसा कहा है। धर्माद्विरमति ऐसा कहने से यह मनुष्य विचार सहित है, यह बुद्धि से विचारता है – धर्म है वह दुष्कर है, इसका पालन कठिन है। इसका फल प्रत्यक्ष नहीं है, श्रद्धामात्र जाना है – ऐसी बुद्धि को ग्रहण करके उसे (धर्म को) छोड़ता है, ऐसा ही यहाँ भी समझना। परीक्षावान मनुष्य विचारते हैं – ये हिंसा आदि परिणाम पाप के कारण हैं, जो इन पापों में प्रवर्तता है, उसको इस ही लोक में राजा दंड देता है तथा परलोक में दुख पाता है – बुद्धि में ऐसा ग्रहण करके उनसे निवृत्त होता है; अत: बुद्धि के अपाय की अपेक्षा ध्रुवत्व की विवक्षा बन जाती है। ये हिंसापदार्थ

तो ध्रुव ही है। इनका ज्ञान बुद्धि में रहता है। बुद्धि में त्याग ग्रहण हो उसकी अपेक्षा है, अत: अपादान होना युक्त है।

तथा विरति शब्द के प्रत्येक के साथ लगाना – हिंसा से विरति, अनृत से विरति आदि। अहिंसा व्रत इनमें प्रधान है, अत: प्रारंभ में कहा है। सत्य आदि व्रत हैं वे अहिंसा व्रत की रक्षा के लिये हैं – जैसे धान के खेत की रक्षा के लिये बाड लगायी जाती है, उसी प्रकार यहाँ समझना। सर्व सावद्ययोग से निवृत्ति ही जिसका लक्षण है, ऐसा सामायिक एक ही व्रत है। वही छेदोपस्थान आदि की अपेक्षा पांच प्रकार का है, वही यहाँ बताते हैं।

यहाँ **तर्क :** व्रत को आस्रव का कारण होना कहना अयुक्त है; क्योंकि आगे व्रत के संवर के कारणों में जहाँ गुप्ति समिति आदि का कथन करेंगे वहाँ दशप्रकार धर्म में तथा संयम में अन्तर्भाव किया है।

समाधान : यह दोष नहीं है। संवर तो निवृत्ति स्वरूप है आगे कहेंगे। यहाँ आस्रव अधिकार में प्रवृतिस्वरूप कहा है। हिंसा, अनृत, अदत्तादान आदि का त्याग होने पर अहिंसा, सत्यवचन, दत्तादान आदि में क्रिया की प्रवृत्ति है वह प्रतीति सिद्ध है तथा गुप्ति आदि रूप संवर है उसका अंग व्रत है। व्रतों में प्रवृत्ति करने वाले साधु को संवर सुख से होता है, अत: अलग से उपदेश किया है।

तर्क : छठे अणुव्रत रात्रिभोजन त्याग को भी यहाँ गिनना (इनके साथ कहना) चाहिये था।

आचार्य कहते है – यहाँ नहीं कहना चाहिये क्योंकि इसका अहिंसा व्रत की भावना में अन्तर्भाव है। आगे अहिंसा व्रत की भावना का कथन करेंगे, वहाँ अलोकितपानभोजन भावना कही है उसमें इसे गर्भित जानना।

यहाँ इस ही का विशेष कहते है। **तर्क :** भावना में आलोकितपान भोजन करना कहा है, वहाँ दीपक के अथवा चन्द्रमा के प्रकाश में देखकर भोजन करने में क्या दोष है ?

समाधान : ऐसा कहना युक्त नहीं है। दीपक आदि के प्रकाश में भी रात्रि भोजन करने में अनेक प्रकार के आरंभ के दोष आते हैं।

वह **पुन: कहता है** – यदि अन्य कोई व्यक्ति दीपक का प्रकाश कर दे तब आरंभ का दोष नहीं होगा।

उससे कहते है – आचारसूत्र का ऐसा उपदेश है – ज्ञान सूर्य तथा इन्द्रियों से मार्ग की परीक्षा करके पहले देश काल का विचार कर जूडा (चार हाथ) अगली पिछली भूमि देखकर विहार भ्रमण करता साधु शुद्ध भिक्षा ग्रहण करता है –यह विधि रात्रिभोजन में संभव नहीं है।

वह **पुन: कहता है** – दिन में भोजन ले आवे, उसे रात्रि में खावे तो क्या दोष है ?

उससे कहते हैं – पूर्वोक्त दीपक आदि के आरंभ का दोष है तथा लाकर भोजन खाना संयम का साधन नहीं है तथा सर्वपरिग्रह से रहित मुनि पाणिमात्र (हाथ) में आहार लेते है, जो लाकर खाने में संभव नहीं है। यदि पात्र का संग्रह करे तो अनेक दोष उत्पन्न होते हैं तथा दीन आचरण का प्रसंग आता है, निवृत्ति परिणाम नहीं होते है।

वह **पुन: कहता है** – पात्र में लाकर परीक्षा करके भोजन करना संभव है।

उससे कहते हैं – ऐसा नहीं है। जो मुनि शास्त्रों से जीवों के स्थानों को जानते हैं, उन्हें संयोग विभाग गुणदोष का ज्ञान है, उन्हें (बनते ही) तत्काल भोजन लेना उचित दिखता है, लाकर खाने में अनेक दोष दिखते है। उसका (बचे हुये का) विसर्जन करे तो उससे अनेक दोष उत्पन्न होते है; अत: सूर्य के प्रकाश में प्रगट देखकर दिन में ही भोजन करना युक्त है। सूर्य के प्रकाश में भूमि, देश, दातार, जन-गमन आदि तथा गिरे रखे अन्नपान आदि जैसे स्पष्ट दिखाई देते है वैसे स्पष्ट चन्द्रमा आदि के प्रकाश में दिखाई नहीं देते, ऐसा जानना।

आगे उन पांच व्रतों के भेद बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। देशसर्वतोऽणुमहती ।। ७-२ ।।

अर्थ : ये पांचों ही व्रत जब एकदेश होते हैं तो अणुव्रत कहलाते हैं और सकल होते हैं तब महाव्रत कहलाते हैं। यहाँ देश से तो एकदेश अर्थ लेना और सर्व से सकल अर्थ लेना। यदि देश (अर्थात् एक भाग) विरति हो तो वे (व्रत) देशव्रत, अणुव्रत हैं और सकलव्रत है तो महाव्रत है। इस तरह दो भेद हुये। विरति शब्द की अनुवृत्ति पिछले सूत्र से करना। ये दोनों ही प्रकार के व्रत भिन्न-भिन्न तथा भावना सहित किये जाने पर श्रेष्ठ औषधी की तरह दु:ख दूर करने का कारण होते हैं।

आगे उन व्रतों की भावना किसलिये और किस प्रकार है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। तत्स्थैर्यार्थं भावना: पंचपंच ।। ७-३ ।।

अर्थ : इन व्रतों को स्थिर करने के लिये प्रत्येक व्रत की पांच पांच भावना है। यहाँ ऐसा समझना कि इन भावनाओं के भाने से व्रतों के उत्तरगुण संभव होते हैं।

आगे पूछते है – यदि ऐसा है कि भावना से व्रत दृढ होते है तो प्रारंभ में कहे अहिंसाव्रत की भावनाएँ क्या हैं ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपान भोजनानि पंच ।। ७-४ ।।

अर्थ : वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपण समिति, आलोकितपान भोजन – ये अहिंसा व्रत की पांच भावनायें हैं। गुप्ति और समिति का स्वरूप आगे कहेंगे तथा आलोकितपान भोजन अर्थात् आहारपानी दिन में ही और देखकर लेना। इनका बार-बार चिंतन करना भावना है।

आगे दूसरे व्रत की भावनायें क्या हैं ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते है –

।। क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पंच ।। ७–५ ।।

अर्थ : क्रोध का प्रत्याख्यान, लोभ का प्रत्याख्यान, भयभीत होने का प्रत्याख्यान (भय का त्याग), हास्य का प्रत्याख्यान, अनुवीचिभाषण अर्थात् निर्दोष सूत्र के अनुसार वचन बोलना – ये सत्यव्रत की पांच भावनायें हैं। यहाँ भावार्थ यह है कि क्रोध आदि के निमित्त से असत्य बोलने में आ जाता है, इसका बार बार चिंतवन रखना ताकि असत्य की प्रवृत्ति न हो, सत्यव्रत दृढ रहे।

आगे तीसरे व्रत की भावनायें क्या हैं ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्मा विसंवादाः पंच ।। ७–६ ।।

अर्थ : शून्यागार अर्थात् पहाड़ की गुफा, वृक्ष के कोटर इत्यादि में बसना, विमोचितावास अर्थात् अन्य द्वारा छोड़े गये स्थान में बसना, परोपरोध अर्थात् पर का उपरोधवर्जन नहीं करना, अर्थ यह है कि जिस स्थान पर स्वयं बैठा हो वहाँ अन्य कोई आवे उसे रोकना नहीं तथा किसी स्थान पर बैठने से अन्य कोई मना करे, वहाँ भी नहीं बैठना,आचार शास्त्र के विधान के अनुसार भिक्षा की शुद्धता से आहार लेना, साधर्मीविसंवाद अर्थात् यह वसतिका तथा श्रावक आदि हमारे हैं, ये तुम्हारे हैं, ऐसा आपस में साधर्मियों से विसंवाद नहीं करना – ये तीसरे अदत्तादान विरमण व्रत की पांच भावनायें हैं। भावार्थ यह है– वसतिका, भोजन आदि वस्तुओं के लिये किसी से परस्पर झगड़ा उत्पन्न हो, वहाँ अदत्तादान का प्रसंग आता है, अतः इस भावना से व्रत दृढ रहते हैं।

आगे ब्रह्मचर्यव्रत की भावनायें कहने योग्य हैं, वे बतावें ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरस–
स्वशरीरसंस्कारत्यागाः पंच ।। ७–७ ।।

अर्थ : यहाँ त्याग शब्द को प्रत्येक के साथ जोड़ना। रागसहित स्त्रियों की कथा सुनने का त्याग, रागसहित स्त्रियों के सुन्दर मनोहर अंगों को देखने का त्याग, वृष्य अर्थात् पुष्टरस और इष्ट रस जैसे रसीले झरते शर्बत आदि का त्याग, पहले भोगे भोगों को बार–बार याद करने का त्याग, शरीर का संस्कार (श्रंगार) करने का त्याग अर्थात् स्नान, सुगंध, लेपन इत्यादि का त्याग – ये चौथे व्रत की पांच भावनायें हैं। इनको बार–बार भाने से ब्रह्मचर्यव्रत स्थिरता प्राप्त करता है।

आगे पांचवें व्रत की भावनायें क्या है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रिय विषयरागद्वेषवर्जनानि पंच ।। ७–८ ।।

अर्थ : स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र – इन पांच इन्द्रियों के विषय अर्थात् स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द का सम्बन्ध होने पर राग द्वेष नहीं करना – ये पांच भावनायें आकिंचन्य नामक

पांचवें व्रत की है। भावार्थ ऐसा है कि परिग्रह है वह इन्द्रियों के विषयों के सेवन तथा कषायों के पोषण के लिये होता है, अत: विषय कषाय के गुणदोष विचार करने की भावना रखने पर परिग्रहत्याग व्रत दृढ होता है।

आगे कुछ और कहते हैं – जैसे इन व्रतों की दृढता के लिये व्रतों का स्वरूप जानने वाले ज्ञानियों द्वारा भावनाओं का उपदेश दिया गया है, उस ही प्रकार इन व्रतों के विरोधी पांच पापों में भी भावना रखना, उनके दोषों का बार-बार चिंतन करना। उनसे भी व्रत दृढ रहते हैं। इसका सूत्र कहते हैं –

।। हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ।। ७-९ ।।

अर्थ : हिंसा आदि पांच पापों से इस लोक में अपाय अर्थात् नाश और भय होते हैं और परलोक में पाप के कारण दुर्गति होती है। ऐसा बार-बार देखना विचारना। अभ्युदय अर्थात् स्वर्ग आदि की संपदा प्राप्त करना, नि:श्रेयस अर्थात् कल्याणरूप मोक्ष के लिये जो क्रियायें हैं, उनका नाश करने वाला प्रयोग आरंभ है वह तो अपाय है अथवा सात भयों को भी अपाय कहते हैं। अवद्य गर्ह्य निंद्य पाप, इन दोनों को देखना विचारना। कहाँ देखना ? इस लोक में तथा परलोक में। किसमें देखना ? इन पांच पापों में । कैसे देखना वह बताते हैं – प्रथम तो हिंसा में इन्हें देखो। हिंसक जीव होता है वह निरंतर ही सबका बैरी शत्रु है। उसे सब पीड़ा पहुंचाना, मारना चाहते हैं। वह इस लोक में अनेक वध बंधन आदि क्लेश पाता है। परलोक में अशुभगति पाता है। सबके द्वारा निंदा किया जाता है। अत: हिंसा का त्याग करना कल्याणकारी है।

इसी प्रकार असत्यवचन बोलने वाला सबका अश्रद्धेय होता है। जिसका वचन झूठा होता है उसके वचन की कोई श्रद्धा नहीं करता, उसे सत्य नहीं मानता तथा इस ही लोक में जीभ काटना आदि दु:ख पाता है। उसके झूठे वचनों से दु:खी होने वाले वे उससे बैर करके अनेक दु:ख देते हैं, उसे उन्हें सहना पड़ता है तथा परलोक में दुर्गति प्राप्त करता है, निंदनीय होता है। अत: अमृतवचन से विरमण करना कल्याणकारी है ऐसी भावना रखना।

इस ही प्रकार परद्रव्य को हरने वाला चोर है वह सब द्वारा पीड़ा दिये जाने योग्य होता है, उसका कोई रक्षक नहीं होता। इस ही लोक में घात होना, वध बंधन हाथ पांव कान नाक ऊपर के होठ का छेदन भेदन सारे धन आदि का छीन लिया जाना इत्यादि दु:ख पाता है तथा परलोक में अशुभगति पाता है। निंदनीय होता है; अत: चोरी का त्याग करना कल्याणकारी है, ऐसी भावना रखना चाहिये।

उसी प्रकार अब्रह्मचारी का चित्त मदविभ्रम से उद्भ्रांत होता है वह कपट की हथनी के लिये खड्डे में पडे हाथी की तरह परवश हुआ वध बंधन अतिक्लेश आदि को भोगता है। मोह द्वारा पीड़ित किया गया वह कार्य अकार्य को नहीं गिनता हुआ, अपने कल्याणरूप कुछ भी कार्य, आचरण नहीं करता

है तथा जिसने परस्त्री के आलिंगन सेवन में रति की है, वह इस लोक में वैर के निमित्त से लिंगछेदन, वध, बंधन, धनहरण आदि कष्टों को प्राप्त करता है तथा परलोक में दुर्गति प्राप्त करता है। निंदनीय होता है, अत: अब्रह्मचर्य पाप से छूटने में अपना हित है, ऐसी भावना रखना है।

इस ही प्रकार परिग्रहवान पुरुष परिग्रह के चोर आदि द्वारा पीड़ा दिया जाता है। धनवान को चोर मार जाते हैं। जैसे कोई पक्षी मांस के टुकड़े को चोंच में दबाकर ले जा रहा हो, तब मांस के अर्थी अन्य पक्षी उसको चोंचो से मारते हैं, दु:ख देते हैं, वैसे ही धन के लोभी धनवान को दु:ख देते हैं।

तथा धन के परिग्रह का उपार्जन करना रक्षा करना आदि में बहुत कष्ट है तथा नष्ट हो जाने, जाता रहने पर बड़ा दु:ख उत्पन्न होता है इत्यादि अनेक दोषों को प्राप्त होता है तथा इससे तृप्ति भी नहीं होती है जैसे अग्नि इंधन से तृप्त नहीं होती, तृष्णावान धन से तृप्त नहीं होता है तथा लोभ द्वारा पीड़ित कार्य अकार्य को नहीं गिनता है तथा इसके पाप में अशुभगति प्राप्त करता है। सर्व लोक बड़ा लोभी है, कहकर निंदा करते हैं; अत: परिग्रह का त्याग कल्याणकारी है, ऐसी भावना रखना।

हिंसा आदि पांच पापों में भी ऐसी भावना करना।

आगे इन हिंसा आदि में अन्य भावनायें भी रखनी चाहिये, यह बताने को सूत्र कहते हैं –

।। दु:खमेव वा ।। ७–१० ।।

अर्थ : हिंसा आदि पांच पाप हैं वे दु:खरूप ही है, ऐसी भावना रखना चाहिये।

यहाँ **कोई पूछता है** – हिंसा आदि किस प्रकार दु:खरूप हैं।

समाधान : ये हिंसा आदि हैं, वे दु:ख के कारण हैं। जैसे अन्न है वह प्राणों की रक्षा करता है अत: कारण है। इसलिये ऐसा कहा जाता है कि अन्न है वही प्राण है। इस प्रकार कारण को कार्य भी कह दिया जाता है। इस ही प्रकार हिंसा आदि दु:ख के कारण हैं, उनको दु:ख ही है ऐसा कहा है। यहाँ कारण में कार्य का उपचार है। तथा कारण का कारण हो उसे भी कार्य कहने में आता है, जैसे अन्न तो प्राण का कारण है और धन है वह अन्नपान का कारण है। वहाँ धन है वही प्राण है। वह ही प्राण है–ऐसा कहने से कारण के कारण में कार्य का उपचार होता है। इस ही प्रकार हिंसा आदि हैं, वे असातावेदनीय आदि अशुभकर्म के कारण है और असातावेदनीय आदि कर्म दु:ख के कारण है। इस तरह दु:ख के कारण में तथा दु:ख के कारण के कारण में दु:ख का उपचार जानना। ये हिंसादि पाप दु:ख ही है–ऐसी भावना रखना।

तथा जैसे ये स्वयं के दु:ख के कारण है, वैसे ही पर के लिये भी जानना।

यहाँ **तर्क :** उन (पांचों पापों) ही को दु:ख कहा, पर ऐसा नहीं है; क्योंकि विषयों के सेवन में सुख देखा जाता है।

समाधान : विषय सेवन में सुख माना जाता है; पर सुख है नहीं। विषयों की इच्छा होने पर पीड़ा वेदना उत्पन्न होती है, उसका इलाज प्राणी करता है। जैसे खुजली का दु:ख हो तब उसे खुजाकर सुख मानता है। परमार्थ से खुजाने में सुख नहीं है। सुख का स्वरूप तो आकुलता रहित होना है, पर विषय सेवन करने में तो आकुलता ही है, निराकुलता तो होती नहीं।

यहाँ विशेष – स्वयं को जैसा लगता है। उस कार्य में अन्य को भी वैसा ही लगता है। जैसे वध, बंधन, पीड़न खुद को बुरे लगते हैं, दु:ख उपजाते हैं, वैसे ही अन्य को भी दुख उपजाते हैं तथा जैसे स्वयं को कोई झूठ कहे, कडवी बात कहे, कठोर कहे तब बुरी लगती है, दु:ख उपजाती है, वैसे ही दूसरे को मैं (झूठ आदि) कहूँ तो उसको बुरी लगेगी, दु:ख उपजावेगी तथा जैसे मेरा स्वयं का धन आदि जाता है, तब मेरे कष्ट दु:ख उत्पन्न होता है, वैसे ही अन्य जीव को भी उपजता है तथा मेरी स्त्री का कोई अपमान करे, तब मुझे जैसा दु:ख पीड़ा उपजती है, वैसे ही अन्य जीव को भी उपजती है तथा जैसे मुझे धन की प्राप्ति में वांछा (हर्ष) तथा उसके नाश में शोक होता है, वैसे ही अन्य को भी कष्ट होता है। इस प्रकार हिंसा आदि किये हुये अन्य को भी दु:ख का कारण होते है, ऐसा जानना।

आगे पुन: भावना के लिये सूत्र कहते हैं –

।। मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि च सत्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनयेषु ।। ७–११ ।।

अर्थ : प्राणियों में मैत्री भाव, गुणों में अधिक हो उनमें प्रमोद, दु:खी पीडितों में करुणा तथा प्रतिकूलों में माध्यस्थ परिणाम ऐसे चार प्रकार के जीवों में चार भावनायें रखना चाहिये। पर को दु:ख न होने की अभिलाषा तो मैत्री है। वचन से तथा प्रसन्नता से प्रकट हो ऐसा अंतरंग में भक्ति का अनुराग प्रमोद है तथा दीन दुखियों का उपकार करने का भाव कारुण्य है। तथा रागद्वेष के कारण पक्षपात होता है, उसका अभाव माध्यस्थ है। तथा पापकर्म के उदय के वश अनेक योनियों में कष्ट भोगे, वे सत्व कहे जाते है, इन्हें जीव भी कहते हैं। सम्यग्ज्ञान आदि गुणों में बड़े हों उन्हें गुणाधिक कहा जाता है। असातावेदनीय कर्म के उदय से जिनको क्लेश उपजा हो वे क्लिश्यमान हैं। तत्त्वार्थ के सुनने से, ग्रहण करने से, अभ्यास करने से भी जिन्होंने गुण प्राप्त नहीं किये, वे अविनेय है। इन सत्वादि चारों में यथाक्रम मैत्री आदि चारों भावनायें भाना चाहिये। सर्व जीवों को मेरी क्षमा है वे सब मुझे क्षमा करें। सबसे मेरी प्रीति है किसी से भी वैर नहीं है। इस प्रकार सभी प्राणी जीवों में मैत्री भावना रखना। सम्यग्ज्ञान चारित्र आदि में वंदना, स्तुति, वैयावृत्य आदि से गुणाधिक में प्रमोद भावना रखना। मोह कर्म के द्वारा पीड़ित, कुज्ञान सहित, विषय अग्नि से दग्ध हिताहित में समझ न रखने वाले, अनेक दु:खों से पीड़ित, दीन कृपण, अनाथ, बालक, वृद्ध क्लिश्यमानों के प्रति करुणा रखना। मिथ्यात्व के कारण खोटे हठग्राही अविनयों में माध्यस्थ भावना करना। ऐसी भावना भाने

वालों के अहिंसा आदि व्रत पूर्ण होते हैं।

आगे और भी भावनायें बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ।। ७–१२ ।।

अर्थ : संवेग और वैराग्य के लिये जगत के स्वभाव और देह के स्वभाव की भावना रखना। शुरु में कहे गये जगत का स्वभाव ऐसा है –यह लोक अनादिनिधन, वेत्रासन, झालर, मृदंग जैसे आकार का है। इस अनादि संसार में जीव अनन्तकाल तक नानायोनियों में निरंतर दु:ख भोगता हुआ परिभ्रमण करता रहता है। इसमें निश्चित कुछ भी नहीं है। जीवन जल के बुदबुदे का जैसा है, तुरंत विलय हो जाता है। भोगसंपदा है वह बादल के विकार बिजली जैसी चंचल है। इत्यादि जगत के ऐसे स्वभाव का चिंतवन करने से संसार से संवेग होता है, भय लगता है तथा काय का स्वभाव अनित्य है, दु:ख का कारण है, साररहित है, अपवित्र है इत्यादि। ऐसे चिंतवन से विषयों में राग न होने से वैराग्य उत्पन्न होता है। अत: जगत और काय के स्वभाव की भावना करना।

आगे पूछते है –हिंसा आदि से विरति व्रत है। पर हम यह नहीं जान पाये कि हिंसा आदि क्रियायें क्या है ?

आचार्य कहते हैं – सबको युगपत तो कहा नहीं जा सकता। अत: उनका स्वरूप अनुक्रम से कहेंगे। अत: आरंभ में कहे गये हिंसा के लक्षण का सूत्र कहते हैं –

।। प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा ।। ७–१३ ।।

अर्थ : प्रमत्त योग से प्राणों का वियोग करना हिंसा है। कषाय सहित होना तो प्रमाद है। ऐसे प्रमाद सहित आत्मा के परिणाम प्रमत्त है। प्रमत्त का योग प्रमत्तयोग है तथा इंद्रियों से लेकर जो दश प्राण है, उनका यथासंभव वियोग करना व्यपरोपण है। इस प्रकार प्रमत्तयोग से प्राणव्यपरोपण है वही हिंसा है। यह हिंसा प्राणियों के लिये दु:ख का कारण है, अत: इसे अधर्म का कारण भी कहते हैं। यहाँ प्रमत्तयोग विशेषण से यह बताया है कि केवल प्राणों के वियोग होना मात्र अधर्म का कारण (अर्थात् हिंसा) नहीं है।

यहाँ अन्य ग्रन्थ से आधा श्लोक है, उसका अर्थ ऐसा है –प्राणियों को प्राणों से अलग करता है, फिर भी हिंसा से युक्त नहीं होता है तथा अन्य किसी ग्रन्थ से दूसरी भी एक गाथा है, उसका अर्थ इस प्रकार है – कोई मुनि ईर्यासमितिपूर्वक गमन करता हुआ अपना पांव उठाता था, उसके पांव के नीचे कर्म द्वारा प्रेरित जीव आ पड़ा और मर गया। फिर भी इस कारण से उस मुनि को सूक्ष्म भी, किंचित्मात्र भी बंध नहीं है, ऐसा सिद्धांत में कहा है, जैसे अध्यात्मप्रमाण से ऐसा कहा है कि मूर्छा है वह ही परिग्रह है अन्य नहीं।

यहाँ कोई **तर्क** करता है –प्राणों का वियोग किये बिना भी प्रमत्तयोगमात्र से ही हिंसा मानी गयी है जैसा कि सिद्धांत में किसी ग्रन्थ से गाथा है जिसका अर्थ ऐसा है –जो अयत्नाचारपूर्वक प्रवर्तता है, उसकी प्रवृत्ति से जीव मरे या न मरे उसको हिंसा निश्चित ही होती है तथा जो यत्नसहित प्रवर्तता है – समितिसहित है, उसे हिंसामात्र से ही बंध नहीं है।

तब आचार्य कहते है – यह दोष नहीं है क्योंकि जो अयत्नाचारपूर्वक प्रवर्तता है उसको केवल प्रमत्तयोग ही नहीं है, भावप्राणों का व्यपरोपण भी है। ऐसा अन्य ग्रन्थ में कहा है, उस श्लोक का अर्थ इस प्रकार है – प्रमादसहित आत्मा है वह पहले तो अपने आत्मा को स्वयं ही स्वयं के द्वारा ही घातता है, फिर अन्य प्राणियों का घात हो या न हो। अत: प्रमाणसहित जीव के प्राणव्यपरोपण भी अवश्य है।

यहाँ विशेष : वार्तिक में कहा है – अपनी सावधानी के बिना इन्द्रियों का प्रचार (भोगों में प्रवृत्ति) का विशेष है वह प्रमत्त कहा जाता है अथवा प्रमत्त की तरह ही हो वह प्रमत्त है। यहाँ उपमा का वाचक इव शब्द का प्रत्ययार्थ में लोप है। अत: उपमा का ऐसा अर्थ है, जिस प्रकार मदिरा को पीने वाला मतवाला हो, तब उसको कार्य अकार्य का विचार नहीं होता। उसकी यहाँ उपमा है।

तथा जीवों के स्थान तथा उनके उत्पन्न होने के स्थान तथा जीवों का आधार आदि तो जाने नहीं और कषायों के उदय के अनुसार हिंसा के कारण में स्थिति करे, पर सामान्य हिंसा का यत्न न करे वह प्रमत्त है। अथवा प्रमाद के पन्द्रह भेदों रूप परिणमा हो, वह प्रमत्त है तथा योग शब्द है वह संबंध का सूचक है अथवा मन वचन काय की क्रिया को भी योग कहते हैं। इस प्रकार प्रमत्त का योग प्रमत्तयोग है जिसे हेतुरूप कहा है (कारण बताया है)। इस हेतु से प्राणों का व्यपरोपण हो वह हिंसा है।

तथा प्राण का ग्रहण करने से प्राणी का ग्रहण किया जानना। प्राणों के वियोग से प्राणी का वियोग होता है। प्राणी के अन्य भिन्न कोई अवयव है नहीं उसका वियोग कैसे संभव है ?

समाधान : ऐसा नहीं है। प्राणों के घात से प्राणी को दु:ख उत्पन्न होता है; अत: अधर्म होता है।

वह **पुन: कहता है** – प्राणों के घात से प्राणी को दु:ख नहीं होता है।

उससे कहते हैं – पुत्र, स्त्री आदि का वियोग होने पर ही प्राणी को दु:ख होता है, तब शरीर जो अत्यंत निकटवर्ती है, उसका वियोग होने पर दु:ख कैसे नहीं होगा ? तथा शरीर और जीव तो कर्मबंध की अपेक्षा एक ही हो रहे हैं, इसके वियोग में दु:ख अवश्य होता है। इस ही कारण प्रमत्त योग से और प्राणव्यपरोपण दोनों से हिंसा होती है।

कोई **ऐसा कहता है** – सर्व लोक प्राणियों से भरा है, तब मुनि अहिंसक कैसे हो सकता है ?

समाधान : ऐसा कहना निष्फल है; क्योंकि मुनि को प्रमत्तयोग नहीं है; अत: उनको हिंसा भी

नहीं है तथा सूक्ष्म जीव हैं, वे तो पीड़े जाते ही नहीं और जो बादर रक्षा योग्य हैं, उनका यत्न करता ही है। अत: उनको हिंसा कैसे हो ?

तथा जो सर्वथा एकान्तवादी हैं, उनके मत में प्राणी, प्राण, हिंस्य, हिंसक, हिंसा, हिंसाफल का अस्तित्व ही संभव नहीं है। उनका मत प्रमाण सिद्ध नहीं है।

आगे पूछते हैं – हिंसा का तो जैसा लक्षण बताया वैसा जाना। अब इसके अनन्तर कहे अनृत का लक्षण क्या है, वह बतावें ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। असदभिधानमनृतम् ।। ७–१४ ।।

अर्थ : प्राणियों को पीड़ा करने वाले अप्रशस्त बुरे वचन कहना अनृत है। यहां सत् शब्द प्रशंसा वाचक है। उस सत् का निषेध है वह असत् अप्रशस्त है। ऐसे असत् अर्थ का कथन अनृत है। ऋत अर्थात् सत्य, ऋत नहीं वह अनृत है। प्राणियों को पीडा देने वाले वचन है वे अप्रशस्त है। जिस वचन की वस्तु विषय विद्यमान हो अथवा विद्यमान न हो जहां हिंसा हो वह सब अनृत कहा जाता है। पहले ऐसा कहा था कि अन्यव्रत है वे अहिंसा व्रत की रक्षा के लिये हैं। अत: जो यहाँ हिंसा को करने वाला (अन्य को पीड़ा पहुंचाने वाला) हो, वह वचन अनृत है, ऐसा निश्चित जानना। यदि सर्वथा निषेध का ही अर्थ ग्रहण किया जावे तो शून्य का प्रसंग प्राप्त होता है, अत: युक्त नहीं है। यदि सर्वथा विपरीत अर्थ लिया जावे तो वस्तु के स्वरूप के अन्यथा कथन (मात्र के ही ग्रहण) का ही प्रसंग होगा। कुछ सत्यवचन ऐसे हैं जिनसे प्राणियों को पीड़ा होती है, वे यहाँ ग्रहण नहीं किये जा सकेंगे। अप्रशस्त शब्द में दोनों का ग्रहण हो गया। झूठ कहना भी अनृत है। तथा सत्य कहे पर उनसे प्राणियों को पीड़ा होय हिंसा हो वह भी अनृत है। ऐसा भावार्थ है।

आगे पूछते हैं– अनृत के अनंतर कहे स्तेय का लक्षण क्या है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। अदत्तादानं स्तेयम् ।। ७–१५ ।।

अर्थ : अदत्त अर्थात् बिना दिये वस्तु धन आदि का आदान अर्थात् लेना स्तेय है। आदान अर्थात् ग्रहण और अदत्त अर्थात् बिना दिये, इस प्रकार बिना दिये का ग्रहण अदत्तादान है।

यहाँ **तर्क :** यदि ऐसा है तो कर्मवर्गणा और नोकर्म वर्गणा ये किसी ने दी नहीं है, उनका ग्रहण अदत्तादान हुआ।

समाधान : यह दोष यहाँ नहीं है; क्योंकि यहाँ अदत्त शब्द कहा है। जिसका ऐसा अर्थ प्राप्त होता है कि जिसमें लेने देने का व्यवहार होता हो ऐसी धन आदि वस्तुयें ही अदत्त जानना। कर्म नोकर्म वर्गणा के ग्रहण में देने लेने का व्यवहार नहीं है, वे सूक्ष्म हैं, अदृष्ट हैं।

वह **पुन: कहता है** – यहाँ ऐसा भी प्रसंग आता है कि मुनि आहार लेने जाते हैं, तब वे गली

रास्ते के दरवाजे आदि होते है, उनमें प्रवेश करते हैं, वह भी बिना दिया ही होता है, अत: इसमें स्तेय का दोष आता है।

उससे कहते हैं – यह दोष भी नहीं आता; क्योंकि गली रास्ते के दरवाजे आदि लोगों ने सामान्यरूप से दे रखे हैं। कोई आओ, कोई जाओ, वहाँ वर्जन (किसी द्वारा रोका जाना) नहीं है। यहाँ भी प्रमत्तयोग की अनुवृत्ति है। गली आदि में प्रवेश करते मुनि को प्रमत्तयोग नहीं है; अत: यह अर्थ है कि जहाँ संक्लेश परिणाम सहित प्रवृत्ति होती है वहाँ स्तेय कहा जाता है। बाह्य वस्तु का ग्रहण हो या न हो प्रमत्त योग है तो स्तेय बन ही रहा है।

आगे चौथे अब्रह्म का लक्षण क्या है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। मैथुनमब्रह्म ।। ७–१६ ।।

अर्थ : मैथुन अर्थात् कामसेवन अब्रह्म है। चारित्र मोह का उदय होने पर स्त्री पुरुष के रागपरिणाम सहित होने पर उनमें परस्पर स्पर्शन की इच्छा होना मैथुन है, उसके भाव तथा कार्य का नाम मैथुन है; क्योंकि लोक में तथा शास्त्र में ऐसा ही प्रसिद्ध है। लोक में तो बाल गोपाल सभी जानते हैं कि स्त्री पुरुष के रागपरिणाम से जो चेष्टा होती है, वह मैथुन है तथा शास्त्र में भी घोड़े, सांढ के मैथुन की इच्छा में इत्यादि पाठ है अत: वहाँ भी मैथुन का ग्रहण किया गया है। यहाँ भी प्रमत्त योग की अनुवृत्ति है उस सहित स्त्री पुरुष युगल संबंधी रतिसुख के लिये की गयी चेष्टा ही मैथुन मानी जाती है। सब ही कार्यों में मैथुन नहीं है।

तथा जिसके पालने पर अहिंसा आदि गुणों में वृद्धि होती है वह ब्रह्म है, अत: जो ब्रह्म नहीं है वह अब्रह्म है। ऐसा अब्रह्म मैथुन है। इस मैथुन से हिंसा आदि दोष पुष्ट होते हैं, क्योंकि मैथुन सेवन में जो पुरुष तत्पर है वह स्थावर त्रस जीवों का घात करता है, झूठ वचन बोलता है, चोरी करता है, चेतन अचेतन परिग्रह का ग्रहण करता है–ऐसा जानना। यहाँ ऐसा कहने से स्त्रीपुरुष रागपरिणाम के बिना अन्य कोई कार्य करें तो वह मैथुन नहीं है। तथा दो पुरुष काम सेवन के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य करें, वह मैथुन नहीं है, ऐसा सिद्ध होता है तथा कामसेवन के परिणाम से एक ही की हस्त आदि से चेष्टा हो वह भी मैथुन है क्योंकि उसमें दूसरा रागपरिणाम का (हाथ आदि के संयोग से स्पर्श सुख का भान होता है) संकल्प है जैसे किसी को भूत लगा हो (कर्मरूपी पिशाच के संपर्क से दो हो गया है) वैसे यहाँ दूसरा काम (रूपी पिशाच) है; अत: मैथुन शब्द की सिद्धि है।

आगे पांचवें परिग्रह का लक्षण क्या है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। मूर्छा परिग्रह: ।। ७–१७ ।।

अर्थ : मूर्छा अर्थात् पर में ममत्व परिणाम परिग्रह है। बाह्य में तो गाय, भैंस, मणि, मोती आदि

चेतन अचेतन वस्तुयें और अंतरंग में रागादि ऐसे परिग्रह की रक्षा करना उपार्जन करना संस्कार करना रूप व्यापार मूर्छा है।

यहाँ **प्रश्न :** लोक में वायु आदि रोग के प्रकोप से अचेतन जैसा हो जाने को मूर्छा कहना प्रसिद्ध है। यहाँ उस अर्थ को क्यों नहीं ग्रहण किया ?

उत्तर : यह तो सत्य है लोक में इस ही को मूर्छा कहते हैं; परन्तु यह मूर्छि धातु है वह मोह सामान्य के अर्थ में प्रवर्तती है और सामान्य की प्रेरणा विशेष अर्थों में है। ऐसा होने से विशेष अर्थ यहाँ ग्रहण करना है क्योंकि यहाँ परिग्रह का प्रकरण है।

पुन: **प्रश्न :** ऐसा कहने पर भी बाह्य वस्तु में परिग्रह नहीं कहा जा सकेगा; क्योंकि आपने अभ्यंतर मूर्छा ही का ग्रहण किया है।

समाधान : यह सत्य है हमने प्रधानरूप से अभ्यंतर का ही ग्रहण किया है। पर बाह्य परिग्रह के न होने पर भी यह मेरा है, पर (अन्य वस्तु) में ऐसा संकल्प करने वाला व्यक्ति परिग्रह सहित ही है। बाह्य परिग्रह कहा जावे अथवा न कहा जावे (बाह्य में वस्तु हो अथवा न हो) बाह्य वस्तुओं का ग्रहण तो यहाँ हो ही जाता है; क्योंकि उनका आलम्बन ही मूर्छा का कारण है (कारण में कार्य का उपचार करके बाह्य वस्तुओं का परिग्रह में ग्रहण हो ही जाता है)। अथवा उन वस्तुओं को मूर्छा ही कारण होती है।

यहाँ **तर्क :** यह मेरा है ऐसा संकल्प यदि परिग्रहवाची है तो सम्यग्ज्ञान आदि में भी ऐसा संकल्प होता है, उन्हें भी परिग्रह कहना चाहिये। रागादि परिणामरूप अभ्यंतर परिग्रह की ही तरह ये भी हैं।

समाधान : यह दोष नहीं है; क्योंकि यहाँ भी प्रमतयोग की अनुवृत्ति है। और ज्ञानदर्शन चारित्रवान पुरुष है, वे मोह के अभाव के कारण अप्रमत्त ही हैं। अत: उनके मूर्छा नहीं है। इस प्रकार इनके निष्परिग्रहत्व सिद्ध है। यहाँ यह भी विशेष जानना कि ज्ञान आदि आत्मा के स्वभाव हैं, त्यागे नहीं जा सकते। अत: उनके होने पर भी परिग्रह सहितपना नहीं बनता तथा रागादि हैं, वे आत्मा के स्वभाव नहीं है। कर्म के उदय के आधीन है; अत: त्यागने योग्य हैं। अत: उनमें यह मेरा है ऐसा संकल्प परिग्रह ही है, यह कहना युक्त है। इन रागादि से ही सर्व दोष उत्पन्न होते हैं। ये सर्व दोषों के मूल हैं। यह मेरा है – ऐसे संकल्प से ही परिग्रह की रक्षा करना, उपार्जन करना आदि उत्पन्न होते है, जिनमें हिंसा अवश्य होती है। इनके निमित्त से झूठ बोलना, चोरी करना, मैथुन कर्म में यत्न करना आदि भी होते है। इन पापों के किये जाने से नरक आदि में अनेक प्रकार के दु:ख प्रवर्तते हैं।

आगे इस प्रकार उक्त अनुक्रम से हिंसा आदि में दोष जानने वाले पुरुष को अहिंसा आदि में गुणों का निश्चय हुआ और बड़े यत्नपूर्वक अहिंसा आदि का पालन करने लगा। जिस पुरुष के अहिंसा

आदि व्रत होते हैं, वह कैसा होता है, इसका सूत्र कहते हैं –

।। निःशल्यो व्रती ।। ७–१८ ।।

अर्थ : मिथ्या, माया और निदान ये तीन शल्य जिसके नहीं होते वह व्रती है। जो शृणति अर्थात् घाते, चुभे उसे शल्य कहते है। इस प्रकार के अर्थ से जो शरीर में प्रवेश करे घुस जावे ऐसे शस्त्र विशेष को शल्य कहा जाता है। उस जैसे ही चुभे मन में बाधा करे वह भी शल्य ही कहा जाता है; क्योंकि कर्म के उदय से हुआ मानसिक विकार भी प्राणियों को शरीर संबंधी मन संबंधी बाधा करता है अतः वह भी शल्य है उपचार से ऐसा नाम जानना। यह शल्य तीन प्रकार का है – माया शल्य, निदान शल्य, मिथ्यादर्शन शल्य। माया तो निकृति को कहा जाता है, इसे ठगने का परिणाम भी कहा जाता है। तथा विषयों को भोगने की वांछा को निदान कहते हैं एवं अतत्त्वश्रद्धान को मिथ्यादर्शन कहते हैं। इन तीनों से रहित हो वह निःशल्य है, व्रती है–ऐसा कहा है।

यहाँ **तर्क :** शल्य के अभाव को तो निःशल्य कहा तथा व्रतों के धारण से व्रती होता है। यहाँ व्रती का विशेषण निःशल्य बताया है। व्रत और निःशल्यता के विरोध है अतः यह विशेषण ठीक नहीं है। निःशल्य को व्रती कहना संभव नहीं होता, जैसे दंड के संबंध से तो दंडी कहा जाता है, छत्र के संबंध से छत्री कहा जाता है। दंडी के संबंध से छत्री कहना तो होता नहीं।

समाधान : यहाँ दोनों विशेषणों से व्रती कहना इष्ट है। केवल हिंसा आदि को छोड़ने मात्र व्रत के होने पर भी शल्यसहित को व्रती नहीं कहा है। जिसके शल्य का अभाव हो तब व्रत के होने से गृह आदि में बसने न बसने की अपेक्षा सागार, अनागार भेद करके व्रती कहने की विवक्षा है। जैसे जिसके बहुत दूध घृत हो उसको गायवाला कहें तथा जिसके दूध घृत का अभाव हो पर गाय विद्यमान हो उसे गायवाला कहना निष्फल है, उसी प्रकार शल्यसहित हो उसे व्रती होने पर भी व्रती कहना सत्य नहीं है। जो निशल्य हो वह ही व्रती है तथा यहाँ ऐसा भी उदाहरण है कि जो प्रधान हो उसका विशेषण अप्रधान भी होता है, जैसे कोई काटने वाला पुरुष काटने की क्रिया में प्रधान हो; परन्तु उसके ऐसा विशेषण किया जाता है कि तीक्ष्ण फरसी से काटता है, वहाँ तीक्ष्ण गुण विशेष वाली फरसी अप्रधान है पर काटने वाले पुरुष का विशेषण होती है, उसी प्रकार निशल्यत्व गुण विशेषण से युक्त जो व्रत उस व्रत सहित पुरुष प्रधान है, उसका विशेषण यह होता है, ऐसा जानना।

आगे ऐसे व्रतियों के भेद बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। अगार्यनगारश्च ।। ७–१९ ।।

अर्थः अगारी अर्थात् गृहस्थ और दूसरा अनगार अर्थात् मुनि – इस तरह व्रती के दो भेद हैं। बसने के लिये पुरुष जिसे अंगीकार करता है, उसे वेश्म, मंदिर, घर भी कहते हैं, जिसके यह हो वह

अगारी कहा जाता है तथा जिसके अगार न हो वह अनगार कहा जाता है। इस तरह व्रती दो प्रकार के हैं- अगारी, अनगारी।

यहाँ **तर्क :** इस (लक्षण) से तो विपर्यय की प्राप्ति भी होती है। शून्यागार, देवमंदिर आदि में आवास करते मुनि अगारी होंगे और जो विषयतृष्णा से निवृत्त नहीं हुये हैं ऐसे गृहस्थ जो किसी कारण से वन में जा बसे हैं, उनको अनगार मानना होगा।

आचार्य कहते हैं - यह दोष यहाँ प्राप्त नहीं होता है। यहाँ भाव अगार की विवक्षा है। चारित्र मोह के उदयवश अगार अर्थात् घर के प्रति जो अनिवृत्ति परिणाम है वह भाव अगार है। ऐसा भाव अगार जिसके हो वह वन में बसता हो तो भी अगारी ही कहा जावेगा और घर में बसे तो अगारी है ही। वह भावअगार जिसके न हो अभाव हो वह अनागार कहा जाता है।

यहाँ पुन: **तर्क :** अगार अर्थात् गृहस्थ को व्रती नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उसके परिपूर्ण व्रत नहीं है। व्रती कहना तो तभी संभव है, जब पूर्ण व्रत हों।

समाधान : यह दोष नहीं है। नैगम आदि नयों की अपेक्षा अगारी गृहस्थ को भी व्रती कहा जा सकता है (कहा जाता है)। जैसे एक साल (घर का कोठा) या नगर के एक कोने में रहने वाले को भी नगरवासी कहा जाता है, उसी प्रकार सकल व्रत नहीं होने पर भी एकदेश व्रत है; अत: नैगम, संग्रह, व्यवहार इन तीनों नयों की अपेक्षा ऐसा कहा जाता है। नैगम नय की अपेक्षा तो इस प्रकार है कि वह भविष्य में सकलव्रती होगा। इस तरह संकल्प मात्र की यहाँ अपेक्षा है। संग्रह नय सामान्यव्रती का ग्रहण करता है; अत: एकदेश व्रती भी उसमें शामिल है तथा व्यवहार नय भेद करता है अत: एकदेशव्रती व्रती का एक भेद है ही, एकदेश में सर्वदेश के उपचार से भी ऐसा कथन बन जाता है। ऐसा समझना।

आगे पूछते है कि हिंसा आदि पांच पापों में से कोई व्यक्ति एक पाप से निवृत्त हुआ हो, वह गृहस्थ व्रती है या नहीं?

आचार्य **उत्तर** देते हैं - नहीं है।

वह **फिर पूछता है** - कैसे नहीं है ?

उससे कहते हैं - पांचों ही पापों से एकदेश विरति यहाँ विवक्षित है। उसका सूत्र -

।। अणुव्रतोऽगारी ।। ७-२० ।।

अर्थ : जिसे पांचों पापों का अणुव्रत अर्थात् एकदेश त्याग हो वह अगारी अर्थात् गृहस्थव्रती है। अणुव्रत शब्द का अर्थ है अल्पव्रत। जिसके अणुव्रत हो उसे अगारी कहा जाता है।

यहाँ पूछते हैं - अगारी गृहस्थों के व्रतों का अणुपना कैसे है ?

उससे कहते हैं – उसके सर्वसावद्य अर्थात् सभी पापों से निवृत्ति अर्थात् अभाव तो असंभव है –हो नहीं सकता।

पुन: **प्रश्न** – ये किन पापों से निवृत्त हैं ?

वहाँ बताते हैं– त्रस प्राणियों के व्यपरोपण अर्थात् मारने से निवृत्त है; अत: इसके पहला अहिंसा नामक अणुव्रत है तथा जिस असत्य वचन से घर का विनाश हो, ग्राम का विनाश हो सकता हो–ऐसा स्वयं जाने उस असत्यवचन से निवृत्त होता है। स्नेह, मोह के वश असत्यवचन नहीं बोलता – इस प्रकार इस गृहस्थ के दूसरा अणुव्रत होता है। तथा अन्य को पीड़ा का कारण हो ऐसा अदत्तादान नहीं लेता। राजा आदि के भय से त्याग अवश्य होता ही है, उनके लेने की इच्छा भी नहीं होती। पर यदि परिणाम ऐसे हों कि (राजा आदि का) भय नहीं होता तो ले लेता तो फिर उसे व्रत में आदर ही नहीं है। (इस तरह अदत्तादान न लेने से) वह तीसरे अणुव्रत का धारी है तथा उपात्त अर्थात् अन्य की व्यहिता और अनुपात अर्थात् बिना ब्याही (कुंवारी) परस्त्री के संगम में रति अर्थात् राग नहीं होता, ऐसा गृहस्थ चौथे अणुव्रत का धारी है तथा धन धान्य क्षेत्र आदि परिग्रह का अपनी इच्छा के वश परिमाण करना, जितनी इच्छा हो उतना तो रखें (उससे अधिक नहीं रखने का संकल्प करे) वह गृहस्थ पांचवे अणुव्रत का धारी है (इस प्रकार से पांचों ही अणुव्रत के धारी को अगारी गृहस्थपना है)।

यहाँ **कोई पूछता है**– गृहस्थव्रती को त्रस के घात का त्यागी कहा; पर इस गृहस्थ के व्यापार आदि अनेक आरंभ है। उनमें त्रस की हिंसा अवश्य होती है, ऐसे में त्याग कैसे पले ? तथा शास्त्रों में ऐसे गृहस्थ के ग्यारह प्रतिमा रूप भेद कहे हैं, उन्हें हम समझे नहीं वे कैसे हैं ?

समाधान : श्रावक के ग्यारह प्रतिमारूप भेद कहे हैं, उनमें प्रथम प्रतिमा में ही स्थूल त्यागरूप पांचों ही अणुव्रतों का ग्रहण है। इसका लक्षण इस प्रकार बताया गया है – आठ तो मूलगुणों का पालन करे, सात व्यसनों को छोड़े सम्यग्दर्शन के अतिचार मलों को और दोषों को टाले – ऐसा कहने में उपरोक्त पांचों अणुव्रतों का स्थूलरूप से ग्रहण हो जाता है, क्योंकि किसी किसी शास्त्र में तो आठ मूलगुणों में पांच अणुव्रतों का पालन एवं मद्य–मांस–शहद का त्याग इस तरह आठ कहे हैं। किसी शास्त्र में पांच उदुंबर का त्याग और तीन मकार (मद्य–मांस–मधु) का त्याग – इस तरह आठ कहे हैं। किसी शास्त्र में अन्य प्रकार भी (आठ) कहे हैं, यह तो केवल विवक्षा भेद है।

यहाँ ऐसा समझना है –स्थूलरूप से पांचों पापों का ही त्याग है। पंच उदुंबर फल के त्याग में तो त्रस भक्षण का त्याग हुआ। शिकार के त्याग में त्रस को मारने का त्याग हुआ, चोरी तथा परस्त्री व्यसन त्याग ये तो दो अणुव्रत ही हुये, द्यूतकर्म आदि अतितृष्णा के त्याग में असत्य का त्याग और

परिग्रह की अतिचाह मिटी, मद्य-मांस-मधु के त्याग में त्रस को मारकर भक्षण करने का त्याग हुआ। इस तरह पहली ही प्रतिमा में पांचों अणुव्रतों की प्रवृत्ति संभव है (होती है)। पर इनके अतिचारों को दूर नहीं कर पाता, अत: व्रतप्रतिमा नाम नहीं प्राप्त करता। सम्यग्दर्शन के मल दोष अतिचार दूर हो सके है अत: दर्शनप्रतिमा कहलाती है। मनवचन काय कृतकारित अनुमोदना से अतिचार रहित प्रतिज्ञा का पालन करे तब प्रतिमा कही जावे। प्रतिमा मूर्ति को भी कहते हैं; अत: व्रत की सांगोपांग मूर्ति बने तब प्रतिमा कहलावे। इस दर्शन प्रतिमा का धारक पंचपरमेष्ठी का भक्त है अन्य (कुदेवों) की उपासना नहीं करता, संसार, देह, भोग से विरक्त है। इसके जो प्रतिज्ञा है, वह ऐसी है कि संसार के कार्य बिगड़े तो बिगड़ो, देह बिगड़े तो बिगड़ो, भोग बिगड़े तो बिगड़ो प्रतिज्ञा का भंग नहीं करना। इस प्रकार के दृढ परिणाम हो तब प्रतिज्ञा कही जाती है।

उसके त्रस का घात नहीं करने की प्रतिज्ञा ऐसी होती है -त्रस प्राणी को मन, वचन, काय से मारूंगा नहीं, अन्य को उपदेश देकर मरवाऊंगा नहीं, अन्य मारे तो उसे भला जानूंगा नहीं (उसकी अनुमोदना करूंगा नहीं) देवता के लिये, गुरु के लिये, मंत्र साधन के लिये, रोग के इलाज के लिये त्रस प्राणियों का घात नहीं करूंगा। व्यापार आदि कार्यों में यत्न रखे; परन्तु उन गृहस्थ के आरंभ के अनेक कार्य है कहाँ तक बचावें ? पर इसके अभिप्राय में मारने के परिणाम नहीं है; अत: पाप अल्प है तथा व्रत प्रतिमा में व्रतों के अतिचारों से बचने की चेष्टा है, आरंभ परिग्रह अल्प होते है पांचों पापों से बहुत भय होता है; परन्तु अप्रत्याख्यानावरणी कषाय के तीव्रस्थान के उदय में सकलव्रत नहीं धारण कर पाता है इत्यादि भावार्थ है।

आगे पूछते हैं- गृहस्थ अणुव्रती का इतना मात्र ही विशेष है या कुछ और भी है ? उसके विशेष बताने के लिये सूत्र कहते हैं -

।। दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोग परिमाणातिथिसंविभागव्रतसंपन्नश्च ।।७-२१ ।।

अर्थ : गृहस्थ अणुव्रती के दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदण्डविरति - ये तीन तो गुणव्रत हैं और सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोग परिमाण, अतिथिसंविभाग - ये चार शिक्षाव्रत, ये सात व्रत और भी होते हैं। इनको सात शील भी कहा जाता है। यहाँ विरति शब्द प्रत्येक के साथ लगाने पर तीन व्रत हुये और सामायिक आदि चार व्रत बतायें ही हैं। उन्हें ही बताते हैं -

दिक् अर्थात् पूर्व आदि दिशायें - इनमें प्रसिद्ध चिह्न जैसे पर्वत, नदी, ग्राम, नगर आदि तक मर्यादा बांध कर नियम करना दिग्विरति व्रत है। इसके बाहर त्रस स्थावर सब ही प्राणियों के घात का अभाव होने से इसके उपचार से महाव्रतपना होता है। लाभ होने पर भी इनके बाहर (किसी भी प्रकार

के कार्य के) परिणाम होते नहीं, जिससे लोभ कषाय का निरास होता है।

तथा दिशाओं में बांधे गये परिमाण में से भी काल की मर्यादा करके कम की मर्यादा करे कि इस माह में अथवा पक्ष में तथा इस दिन में अपने ही घर में रहना अथवा इस ही नगर में रहूंगा तथा इस स्थान बाजार दुकान तक की ही मर्यादा है (उपरोक्त मर्यादा बांधे काल तक इनसे बाहर नहीं जाऊँगा) इत्यादि प्रतिज्ञा करना देशविरतिव्रत है। यहाँ भी जितने क्षेत्र की मर्यादा की उसके बाहर हिंसा के अभाव के कारण महाव्रतपने का उपचार है।

तथा जिससे अपना पर का उपकार नहीं हो तथा अपने या पर के नाश का भय हो, पाप का कारण हो ऐसे कार्य अनर्थदण्ड है उनसे रहित होना अनर्थदंडविरतिव्रत है। यह पांच प्रकार का है – अपध्यान, पापोपदेश, प्रमादचरित, हिंसा प्रदान, अशुभश्रुति। अन्य का जय पराजय, वध बंधन, अंगछेदन, सर्वधन का हरण आदि कैसे हों ऐसा मन में चिंतन करना **अपध्यान** है। तिर्यचों को क्लेश पहुंचाने वाले, वाणिज्य का प्रसार करने वाले प्राणियों की हिंसा का तथा हिंसा के आरंभ आदि के पाप संयुक्त वचन बोलना **पापोपदेश** है। प्रयोजन के बिना भूमि को कूटना, जल का सींचना, वृक्ष को काटना आदि अवध अर्थात् पाप कार्य **प्रमादाचरित** है। विष, लोहे के कांटे, शस्त्र, अग्नि, रस्सी, चाबुक, चावका, दंडा आदि हिंसा के उपकरण (किसी अन्य को) देना **हिंसा प्रदान** है। हिंसा राग आदि को बढाने वाली दुष्टकथा का सुनना, सीखना, प्रवर्तन करना आदि **अशुभश्रुत** है।

अब सामायिक का कथन करते हैं– सामायिक शब्द का अर्थ बताते हैं। सम् उपसर्ग एकता के अर्थ में है। जैसे संगतं घृतं अर्थात् किसी वस्तु में घृत मिलाकर एक हो उसे संगतं घृतं कहा जाता है तथा तेल मिला हो, एक हो गया हो वहाँ संगतं तैलं कहा जाता है। इसी प्रकार यहाँ जानो। इस तरह एकत्वपूर्वक अयनं अर्थात् गमन हो, उसे समय कहते हैं और समय ही सामायिक है तथा जिसका प्रयोजन समय हो वह सामायिक है।

भावार्थ : स्वरूप से तथा शुभ क्रियाओं में एकता करके लीन होना सामायिक है। इतने क्षेत्र में इतने काल तक में अपने इस स्वरूप में तथा शुभक्रिया ही में लीन रहूँगा ऐसी मर्यादा करके सामायिक में बैठता है; अत: (उस गृहस्थ को) उतने देश काल संबंधी महाव्रत का उपचार है; क्योंकि सूक्ष्म अथवा स्थूल प्रकार से इसके हिंसा आदि का अभाव है।

यहाँ **कोई कहता है** – इस प्रकार तो सकलसंयम का प्रसंग आता है।

उससे कहते हैं – इसके सकल संयम के घातक प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय का सद्भाव (उदय है) है; अत: सकलसंयम नहीं है।

वह **पुन: कहता है** – ऐसा कहने पर तो महाव्रत का अभाव होगा, आप महाव्रत कैसे कहते है ?

उससे कहते हैं – उपचार से कहते हैं। जैसे कोई पुरुष किसी राज्य में प्रवेश करे, पर राज्य के किसी स्थान में उसका गमन नहीं भी हो तो भी कहा जाता है, उस पुरुष का राज में सर्वत्र प्रवेश है, सर्वगत है। उसी प्रकार यहाँ भी व्रत का अंगीकार है, सकलव्रत न होने पर भी एकदेश में सर्वदेश का उपचार करके व्रती कहा है।

तथा प्रोषध शब्द पर्व का वाचक है। अष्टमी, चतुर्दशी आदि को पर्व कहते हैं तथा पांचों ही इन्द्रियां अपने विषयों से छूटकर उसमें बसना उपवास कहा जाता है। जहाँ चार प्रकार के आहार का त्याग हो उसे उपवास कहा जाता है-ऐसा अर्थ है। अत: प्रोषध में उपवास हो वह प्रोषधोपवास है। अपने शरीर के लिये संस्कार के कारण जो स्नान सुगंध पुष्पमाला, आभूषण, आभरण आदि से रहित होकर पवित्र क्षेत्र अवकाश में तथा साधु मुनि जहाँ बसते है, उस क्षेत्र में तथा चैत्यालय में तथा अपने रहने के निवास में अलग से कोई प्रोषधोपवास करने का स्थान हो वहाँ धर्मकथा का सुनना, चिंतवन करना, इनमें मन लगाकर बैठे रहना, आरंभ आदि कुछ नहीं करना **प्रोषधोपवास** है।

तथा उपभोग अर्थात् भोजन, पानी, सुगंध, माला आदि जो केवल एक बार ही भोगने में आती है तथा परिभोग अर्थात् वस्त्र, आभूषण, सेज, आसन, गृह, यान, वाहन आदि जो बार-बार भोगने में आते हैं, इन दोनों का परिमाण उपभोगपरिमाण कहा जाता है। भोग पांच प्रकार का है – त्रसघात, प्रमाद, बहुवध, अनिष्ट, अनुपसेव्य। जिनका चित्त त्रस घात से निवृत्त है, उस पुरुष को मांस और मधु का तो सदा ही त्याग करना तथा मद्य (मदिरा-शराब) है वह मन मोहती (चित्त को भ्रमित करती) है। अत: प्रमाद छोड़ने के लिये इसका भी (सदा के लिये) त्याग करना तथा केवडा, केतकी, सहीजणा, अगथ्या के फूल आदि तथा अदरक, मूली आदि जमीकंद बहुत जीवों के उपजने के स्थान हैं, इन्हें अनन्तकाय भी कहते हैं वे सब ही त्यागने योग्य है; क्योंकि इनमें घात तो बहुत जीवों का है और फल अल्प है किंचित् स्वादमात्र फल है तथा यान, वाहन, आभरण आदि में मुझे इतना ही इष्ट है (चाहिये) इससे अधिक अनिष्ट है (नहीं चाहिये) उनका त्याग है ऐसे यहाँ अनिष्ट त्याग है तथा काल का नियम करके अथवा जीवनपर्यन्त के लिये यथाशक्ति इष्ट वस्तुओं में से भी सेवन नहीं करने हैं, उनका त्याग करना अनुपसेव्य त्याग है।

तथा जो संयम को पालता हुआ अतति अर्थात् विहार करता है, उसे अतिथि कहा जाता है अथवा जिसके आगमन की तिथि (निश्चित मिति तारीख) न हो वह अतिथि है। जैसे मिति (एकम्, दोज आदि तिथि) रूप काल के नियम के बिना आहार को आवे, वह अतिथि है। ऐसे अतिथि के लिये संविभाग अर्थात् अपनी भोजन आदि वस्तु में से एक भाग देना (अतिथि संविभाग है)। यह चार प्रकार का है – भिक्षा, उपकरण, औषध, वसतिका (रहने का स्थान)। मोक्ष के लिये उद्यमी, संयम

में तत्पर, प्रवीण, शुद्धाचारी अतिथि के लिये शुद्ध मन से निर्दोष भिक्षा भोजन आहार देना। तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को बढाने वाले उपकरण देना। योग्य औषध देना, परमधर्म की श्रद्धा करके वसतिका भी बनवाना तथा च शब्द है वह आगे कहे जाने वाले गृहस्थधर्म के समुच्चय के लिये है।

यहाँ ऐसा विशेष समझना - ग्यारह प्रतिमाओं के अनुक्रम में दूसरी व्रत प्रतिमा है, उसमें पांचों अणुव्रतों के अतिचार तो टाले ही हैं। ये सप्त शील कहे उनका यथाशक्ति आचरण करता है, उनमें अतिचार लग भी जाते है। तीसरी प्रतिमा सामायिक प्रतिमा है, इसमें सामायिक को अतिचार रहित पालन करता है। चौथी प्रतिमा प्रोषधोपवास प्रतिमा है, वहाँ प्रोषधोपवास का अतिचार रहित पालन करता है। पांचवीं सचित्त त्याग प्रतिमा है उसमें उपभोग परिमाण नामक शील के अतिचारों को टालता है। सचित्त के भक्षण का तो त्यागी होता ही है, अन्य कार्यों में भी सचित्त का यत्न रखता है। यहाँ सतरह नियम की अवश्य प्रवृत्ति होती है। छठी प्रतिमा रात्रिभोजन त्याग, दिवा स्त्रीसेवन त्याग है, यहाँ भी उपभोग परिभोग के परिमाण के अतिचार टालना ही विशेष है। यहाँ तक जघन्य श्रावक कहा जाता है।

तथा सातवीं प्रतिमा ब्रह्मचर्य है। यहाँ स्वस्त्री का भी त्याग नवबाड सहित शुद्ध अतिचार रहित होता है। आठवीं प्रतिमा आरंभ त्याग है। वहाँ कुटुंब सहित रहने से वणिज आदि आरंभ में दोष अतिचार उत्पन्न होते हैं; परन्तु उनका भी अतिचार रहित शुद्ध त्याग होता है तथा नवमी परिग्रह त्याग प्रतिमा है। पहले कुछ अल्प परिग्रह रूपया पैसा सम्बंधी ममत्व था उसका भी यहाँ त्याग है अतिचार नहीं लगाता है। यहाँ तक मध्यम श्रावक है तथा दशमी प्रतिमा अनुमतित्याग है वहाँ नवमी प्रतिमा में कुटुम्ब के साथ भोजन आदि करता था, उसमें भला मानने का दोष उत्पन्न होता था, इस दशमी प्रतिमा में उसका भी त्याग है। घर का कोई सदस्य अथवा अन्य कोई बुलावे, उसके यहाँ भोजन करता है घर से उदासीनवृत्ति रहती है। कभी घर में बैठता है, कभी मठ मंडप चैत्यालय आदि में बैठ निर्ममत्व रहता है। ग्यारहवीं प्रतिमा में घर का त्याग करके मुनि की तरह मंडप में रहता है, इसका नाम उद्दिष्टत्याग प्रतिमा है। अब वह अपने निमित्त बने भोजन आदि को भी अंगीकार नहीं करता है। ये उत्तम श्रावक है, एक कोपीन मात्र वस्त्र रखता है। इसका दूसरा भेद क्षुल्लक है उसका स्वरूप श्रावकाचारों से जानना। यहाँ सभी प्रतिमाओं के स्वरूप का भावार्थ लिखा है, विशेष कथन श्रावकाचार ग्रंथों से जानना तथा च शब्द से जिसका समुच्चय किया है, उसका आगे कथन करते हैं।

।। मारणांतिकीं सल्लेखनां जोषिता ।। ७-२२ ।।

अर्थ : यह श्रावक मरण के समय संल्लेखना का सेवन करने वाला होता है। अपने परिपाक को

प्राप्त हुये आयुकर्म का इन्द्रिय प्राण, बल प्राण (आदि प्राणों) का कारण के वश क्षय होना मरण है। उसका उस भव संबंधी अन्त को मरणान्त कहते हैं। अत: जिसका प्रयोजन मरणान्त है उसे मरणांतिकी कहते हैं तथा बाह्य में तो काय को तथा अभ्यंतर में कषायों का लेखन अर्थात् अनुक्रम से उनके कारणों को घटाना कृश करना संल्लेखना कहा जाता है। इस प्रकार की मरण के अन्त संबंधी संल्लेखना को जोषिता अर्थात् सेवन करने वाला गृहस्थ श्रावक होता है।

यहाँ कोई कहता है कि जोषिता शब्द कहा है, यहाँ स्पष्ट प्रकट अर्थ वाला सेविता शब्द क्यों नहीं कहा गया ?

उससे कहते हैं – यहाँ सेविता कहना उचित नहीं है क्योंकि जोषिता कहने से विशेष अर्थ बनता है, केवल सेविता ही का ग्रहण नहीं किया है। यहाँ प्रीतिपूर्वक भी अर्थ है। प्रीति के बिना बलपूर्वक संल्लेखना नहीं की जाती। प्रीति होने पर स्वयं ही संल्लेखना करता है। जोषिता शब्द में प्रीति और सेवन दोनों अर्थ है।

वह पुन: **तर्क** करता है – हमने इसे तो स्वीकार किया; परन्तु इसमें आत्मघात होता है; क्योंकि वह अपने अभिप्रायपूर्वक आयु आदि प्राणों की निवृत्ति करता है।

आचार्य कहते हैं – यहाँ यह दोष नहीं आता, क्योंकि यहाँ प्रमत्तयोग नहीं है, प्रमत्तयोगपूर्वक प्राणव्यपरोपण करना हिंसा है, अत: इसके हिंसा नहीं है, इसके रागादि दोषों का अभाव है। जो राग द्वेष मोह के वश होकर विष शस्त्र आदि उपकरणों से स्वयं का घात करता है, उसके आत्मघात होता है, संल्लेखना में ऐसा नहीं है। अत: यहाँ आत्मघात का दोष नहीं है। यहाँ अन्य ग्रंथ[1] से गाथा है उसका अर्थ इस प्रकार है – रागादि की उत्पत्ति न होने को सिद्धांत में अहिंसकपना कहा है तथा रागादि की उत्पत्ति होने को ही हिंसा जिनभगवान ने कहा है।

विशेष –प्राणियों को मरण अनिष्ट है। जैसे किसी व्यापारी ने व्यापार की अनेक प्रकार की वस्तुओं का संचय करके घर में रख रखा था, उसे घर का विनाश होना इष्ट नहीं है। पर उसके विनाश का कोई कारण आ बने तो उसे यथाशक्ति दूर करता है। यदि कारण दूर न हो सके तो जिस प्रकार भी अपने व्यापार की वस्तुयें जो घर में रखी थीं उनका विनाश न हो ऐसा यत्न करता है। इसी प्रकार गृहस्थ श्रावक भी व्रतशीलरूप व्यापार (मोक्षमार्ग) की वस्तुओं का संचय करके प्रवर्तता है, उनके आश्रय से यह जीवित है। उनका नाश तो चाहता नहीं है। परन्तु इनके नाश का कारण आ बने तो उस कारण जो जैसे अपने (व्रतशील आदि) गुण विरोधे न जावे (नष्ट न हों) वैसे दूर करता है; पर यदि नाश का कारण दूर न हो सके लाइलाज हो तो जिस प्रकार भी अपने (व्रतशील आदि) गुणों

---

१. पुरुषार्थसिद्धियुपाय, गाथा-४४

का नाश न हो ऐसा यत्न करता है। इसमें आत्मघात हुआ कैसे कहा जा सकता है ?

तब **वह पूछता है** – संल्लेखना मरण के अन्त समय में कही गयी है, तब मरण का (पूर्व में ही) ज्ञान कैसे हो ? तथा (मरण के) ज्ञान बिना कैसे संल्लेखना धारण करे ?

वहाँ कहते हैं – जरा, रोग, इन्द्रियों की हानि आदि दिखें तो अवश्य यह जाना जाता है कि अब यह शरीर नहीं रहेगा। तब प्रासुक आहार पानी से तथा उपवास आदि तप करके अनुक्रम से शरीर का बल क्षीण होता जावे वहां मरणपर्यन्त द्वादशभावना के चिंतवन में काल गमावे शास्त्रोक्त विधान से समाधि मरण करे।

पहले नि:शल्यो व्रती ऐसा कहा था, वहां तीसरा शल्य मिथ्यादर्शन बताया था।

इससे यह ज्ञान हुआ था कि सम्यग्दृष्टि ही व्रती होता है। मिथ्यादृष्टि व्रतों की क्रियारूप प्रवर्ते तो भी वह व्रती नहीं है। वहाँ पूछते हैं –सम्यग्दर्शन अतिचार सहित सापवाद होता है या अतिचार रहित निरपवाद होता है ? ऐसा पूछने पर कहते हैं कि कदाचित् मोहनीय कर्म के विशेष अर्थात् सम्यक्त्वप्रकृतिरूप अपवाद अर्थात् अतिचार होता है इसका सूत्र कहते हैं –

।। शंकाकांक्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवा: सम्यग्दृष्टेरतीचारा: ।। ७–२३ ।।

अर्थ : शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि प्रशंसा, अन्यदृष्टि संस्तवन – ये सम्यग्दृष्टि के पांच अतिचार है। सम्यक्त्व के आठ अंग नि:शंकित आदि का कथन पहले दर्शनविशुद्धि भावना के कथन में किया था। उनके प्रतिपक्षियों को दोष जानना।

यहाँ **प्रश्न** – प्रशंसा और संस्तव में क्या अन्तर है ?

उत्तर : मन से मिथ्यादृष्टि के ज्ञान चारित्र गुण को प्रकट करने के विचार को भला जानना तो प्रशंसा है और मिथ्यादृष्टि में विद्यमान अथवा अविद्यमान गुणों को प्रकट करने के वचन कहना संस्तव है। इसप्रकार इन दोनों में भेद है।

पुन: **प्रश्न :** सम्यग्दर्शन के आठ अंग बताये थे, अत: उनके प्रतिपक्षी उतने ही (अर्थात् आठ ही) अतिचार कहने चाहिये थे, पांच ही क्यों कहे ?

तब **कहते हैं** – यह दोष नहीं है। आगे पांच-पांच की संख्या में ही व्रत शील आदि के अतिचार कहेंगे। अत: यहाँ भी प्रशंसासंस्तव में अन्य अतिचारों को गर्भित करके पांच ही कहे हैं।

तथा यहाँ यह भी विशेष जानना कि मुनि और श्रावक दोनों ही सम्यग्दृष्टि होते हैं, अत: ये अतिचार दोनों के ही संभव है।

आगे पूछते हैं – सम्यग्दृष्टि के अतिचार तो बताये पर ऐसे अतिचार व्रतों, शीलों में भी होते हैं क्या ?

ऐसा **पूछने पर कहते हैं** – हां, होते हैं – ऐसा कहकर उन अतिचारों की संख्या बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। व्रतशीलेषु पंचपंच यथाक्रमम् ।। ७–२४ ।।

अर्थ : पांच व्रत, सात शील और एक संल्लेखना इन सबमें अनुक्रम से पांच पांच अतिचार होते हैं। यहाँ व्रतशील का द्वंद्वसमास है।

यहाँ **तर्क :** शील का ग्रहण (को कहना) अनर्थक है। व्रत के ग्रहण से ही शील का ग्रहण हो जाता है, क्योंकि शील भी व्रत ही है।

उत्तर : अनर्थक नहीं है। यहाँ विशेष ज्ञान कराने के लिये शील का ग्रहण हुआ है। ये शील हैं वे व्रतों की रक्षा के लिये है, ऐसा जाना जाता है। यहाँ शील के ग्रहण से दिग्विरति आदि का ग्रहण समझना तथा अगारी का अधिकार होने से ऐसा समझना कि ये जो पांच पांच अतिचार आगे बताये जावेंगे, वे अगारी गृहस्थ श्रावक के व्रत शीलों में है – ऐसा कहा है।

आगे प्रथम ही अहिंसा नामक अणुव्रत के अतिचार बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ।। ७–२५ ।।

अर्थ : बंध, वध, छेदन, अतिभार लादना, अन्नपान रोकना – ये अहिंसाणुव्रत के पांच अतिचार हैं। प्राणियों को मनोवांछित गमन करने से रोकना बांधना तो बंध है। डंडे, चाबुक, बैंत से पीटना, चोट मारना वध है; पर प्राणव्यपरोपण को इस वध में शामिल नहीं करना है; क्योंकि यह तो हिंसा ही है। कान, नाक आदि अंग उपांगों को छेदना छेदन है। न्याय बोझ (जितना उचित है) से अधिक भार लादकर चलाना अतिभारारोपण है तथा गाय आदि प्राणियों को भूखा प्यासा रखना (समय पर) अन्न जल आदि न देना, अन्नपान निरोध है। ये अहिंसाणुव्रत के पांच अतिचार हैं।

आगे दूसरे अणुव्रत के अतिचार बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमंत्रभेदाः ।। ७–२६ ।।

अर्थ : मिथ्याउपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार, साकारमंत्रभेद – ये सत्याणुव्रत के पांच अतिचार हैं। स्वर्ग, मोक्ष के लिये (सच्चे) कारणरूप क्रियाओं से अन्य प्राणियों को अन्यथा प्रवर्तन करना मिथ्योपदेश है तथा स्त्रीपुरुष द्वारा एकान्त में की गयी क्रिया विशेष का प्रकट करना रहोभ्याख्यान है। दूसरे के कहे किये बिना अन्य की प्रेरणा से किसी को ठगने के लिये झूठा लेख लिखना कूटलेखक्रिया है – इसने ऐसा कहा था अथवा ऐसा किया था ऐसा अपनी इच्छा से बना कर लिखना कूटलेखक्रिया है तथा किसी ने चांदी, सोना अथवा अन्य द्रव्य धरोहररूप रखा हो पर उसकी संख्या मात्र उस धरने वाले को विस्मृत हो गयी हो; अतः वापस मांगने पर कम मांग ली

गयी हो तो उससे कहना कि इतनी ही रखी थी, अपनी ले जाओ –इस तरह उसे अल्पसंख्या बताना जितनी उसने धरोहर रखी थी उतनी न बताना न्यासापहार है। तथा प्रयोजनवश प्रकरणवश अंग की चेष्टा द्वारा अथवा भौंहे, भृकुटि के विक्षेप द्वारा इत्यादि चेष्टाओं से अन्य का अभिप्राय जानकर चुगली करने के लिये अथवा ईर्ष्या आदि वश प्रकट कर देना साकारमंत्र भेद है। ये सत्य अणुव्रत के पांच अतिचार हैं।

आगे अचौर्य अणुव्रत के अतिचार बताते हैं –

।। स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपक व्यवहारा: ।।७–२७।।

अर्थ : स्तेनप्रयोग, तदाहृतादान, विरुद्धराज्यातिक्रम, हीनाधिक मानोन्मान, प्रतिरूपकव्यवहार – ये अचौर्य अणुव्रत के पांच अतिचार हैं। कोई चोरी करता हो, उसे स्वयंप्रेरणा देना, अन्य से कहकर प्रेरित कराना, अन्य प्रेरित कर रहा हो उसकी सराहना करना, भला मानना स्तेनप्रयोग है। स्तेन का अर्थ चोर है, उसे प्रेरित करे तथा चोर को प्रेरित नहीं भी किया, सराहना भी नहीं की; परन्तु चोर के द्वारा चुराकर लाये गये द्रव्य को ग्रहण करना तदाहृतादान है। योग्यन्याय का उल्लंघन करके अन्य प्रकार लेन देन करना अतिक्रम है, यह यदि राज्य के विरुद्ध किया जाता है तो विरुद्धराज्यातिक्रम जानना। तथा मान अर्थात् प्रस्त आदि को नापने की वस्तुयें उन्मान अर्थात् तराजू से तोलने के बाट आदि को कम मात्रा वाले रखकर उनसे तो अन्य को देना तथा अधिक मात्रा वालों से पर से लेना इत्यादि कुटिलता से लेन देन करना हीनाधिकमानोन्मान है। बनावटी चांदी, सोना, रूपया आदि ठगने के लिये बनाकर उनसे कपटपूर्वक व्यवहार करना, खोटी वस्तु को क्रिया से असली दिखाकर कपट करना प्रतिरूपव्यवहार है – ये अदत्तादान विरति अणुव्रत के पांच अतिचार हैं।

आगे ब्रह्मचर्य अणुव्रत के अतिचार बताते हैं –

।। परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशा: ।।७–२८।।

अर्थ : परविवाहकरण, परिगृहीतइत्वारिकागमन, अपरिगृहीतइत्वारिकागमन, अनंगक्रीडा, कामतीव्राभिनिवेश – ये ब्रह्मचर्य अणुव्रत के पांच अतिचार हैं। कन्या को देना, उसकी शादी करना तो विवाह हैं, अन्य का विवाह कराना परविवाहकरण है तथा जो अन्य पुरुष के पास गमन करे वह इत्वरी कही जाती है। इस शब्द को निंदावाचक बनाने के लिये इसके साथ क प्रत्यय लगाकर इत्वरिका बना है। जिसका एक ही पुरुष भर्ता हो वह परिगृहीता कहलाती है, इसके पास गमन को परिगृहीत इत्वरिकागमन कहते हैं तथा जो वेश्या अथवा व्यभिचारिणी हो, जिसके अनेक भर्ता (स्वामी) हो, उसे अपरिगृहीता इत्वरिका कहा जाता है। इसके पास गमन अपरिगृहीत इत्वरिका गमन है। तथा अंग अर्थात् प्रजनन लिंग तथा योनि के अतिरिक्त अन्य रीति से काम क्रीड़ा

अनंगक्रीड़ा है तथा काम का बढता परिणाम कामतीव्राभिनिवेश कहा जाता है। इसमें काम सेवन का अभिप्राय निरन्तर प्रवर्तता है। ये स्वदारासन्तोष नामक अणुव्रत के पांच अतिचार हैं।

आगे पांचवें अणुव्रत के अतिचार बताते हैं –

।। क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः ।। ७–२९ ।।

अर्थ : क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य इनके (बांधे गये) प्रमाणों का उल्लंघन करना पांचवें अणुव्रत के अतिचार हैं। क्षेत्र तो अनाज उत्पन्न करने के खेत को कहते हैं, वास्तु अगार घर को कहते हैं, हिरण्य चांदी आदि के व्यवहार (वाली वस्तुयें), सुवर्ण अर्थात् सोना, धन गाय आदि (पालतु जानवर), धान्य तंदुल आदि (खाने के अनाज), दासी–दास अर्थात् नौकर स्त्री पुरुष, कुप्य अर्थात् कपास, रेशम, चन्दन आदि। यहाँ दो दो के युगल अर्थात् क्षेत्र–वास्तु, हिरण्य–सुवर्ण, धन–धान्य, दास–दासी – इस प्रकार चार और एक कुप्य इस तरह पांच हुये। इनका जितना परिमाण किया हो कि मैं इतना –इतना ही रखूंगा अधिक नहीं, अधिक का त्याग है, उसका अतिलोभ के कारण उल्लंघन करना मर्यादा को बढा लेना – ये परिग्रह परिमाण व्रत के पांच अतिचार हैं।

इस तरह पांचों अणुव्रतों के अतिचार बताये, आगे शीलव्रतों के अतिचार कहेंगे। पहला जो दिग्विरति नामक शील है उसके अतिचार बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि ।। ७–३० ।।

अर्थ : ऊर्ध्व, अधः, तिर्यक् – इन तीनों तरफ की मर्यादा का व्यतिक्रम करना तथा क्षेत्र को बढा लेना, मर्यादा की हो उसे भूल कर अन्य मर्यादा कर लेना – ये दिग्विरति के पांच अतिचार हैं। दिशा की जो मर्यादा की थी उसका उल्लंघन कर जाना अतिक्रम है। यह संक्षेप में तीन प्रकार का है – ऊर्ध्व अतिक्रम, अधः अतिक्रम, तिर्यक् अतिक्रम। पर्वत आदि चढने में मर्यादा से अधिक ऊपर चढ जाना **ऊर्ध्व अतिक्रम** है। कूप आदि में मर्यादा से ज्यादा नीचे उतर जाना **अधः अतिक्रम** है। बिल गुफा आदि में प्रवेश **तिर्यक् अतिक्रम** है। दिशाओं में जो मर्यादा की थी लोभ के वश अधिक के अभिप्राय से उसे बढा लेना **क्षेत्रवृद्धि** है। यह अतिक्रम प्रमाद से लोभ से अथवा परिग्रह के निमित्त से होते है तथा निर्धारित की हुयी मर्यादा को भूल जाना, याद नहीं रखना **स्मृत्यंतराधान** है। ये दिग्विरति के पांच अतिचार हैं।

आगे देशविरतिव्रत के अतिचार बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ।। ७–३१ ।।

अर्थ : आनयन, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात, पुद्गलक्षेप – ये देशविरतिव्रत के पांच अतिचार हैं। जहाँ तक की मर्यादा (देशविरति में) की हो प्रयोजन के वश उसके बाहर के क्षेत्र से

अन्य को कह कर उससे वस्तु मंगा लेना (भेज देना) **आनयन** है। अन्य को कहना कि तुम ऐसा करो वह **प्रेष्यप्रयोग** है (नौकर आदि के द्वारा मर्यादा किये गये क्षेत्र के बाहर से इष्ट व्यापार सिद्ध करना प्रेष्य प्रयोग है) तथा स्वयं ने जितने क्षेत्र की मर्यादा की हो उसके बाहर के पुरुष आदि को खांसी, खंखार आदि शब्द करके अपना प्रयोजन समझा देना **शब्दानुपात** है। इस ही प्रकार अपना शरीर रूप दिखाकर अपना प्रयोजन (निर्धारित क्षेत्र के बाहर के व्यक्ति को) समझा देना **रूपानुपात** है। इस ही प्रकार कुछ कंकर, पत्र आदि फेंककर समझा देना **पुद्गलक्षेप** है – ये पांच देशविरतिव्रत के अतिचार हैं।

अनर्थदण्डविरति व्रत के अतिचार बताते हैं –

।। कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि ।। ७–३२ ।।

अर्थ : कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्षाधिकरण, उपभोगपरिभोगअनर्थक्य – ये अनर्थदण्ड विरति व्रत के पांच अतिचार हैं। राग के तीव्र उदय में जिसमें हास्य मिला हो ऐसा नीच हीन मनुष्यों द्वारा कही जाने वाली गाली आदि भंडवचन अन्य को कहना **कंदर्प** है। तथा गाली आदि सहित हास्य के वचन भी कहना तथा शरीर से भी निंदा योग्य क्रिया करना, जिसे लोक में खवाखसी आदि भी कहते हैं, वह **कौत्कुच्य** है तथा धीठता लिये बहुत प्रलाप बकवास करना **मौखर्य** है। बिना विचारे बिना प्रयोजन अनावश्यक क्रियायें जैसे फिरना, इधर–उधर घूमना, कूदना आदि करना **असमीक्ष्याधिकरण** है। यहाँ बिना प्रयोजन मन वचन काय इन तीनों में से किसी की क्रिया न करना ऐसा समझना तथा नि:प्रयोजन खाने पीने की सामग्री अथवा वस्त्र आभूषण आदि को अधिक मात्रा में एकत्रित करना **उपभोगपरिभोगानर्थक्य** है। ये अनर्थदंडविरति के पांच अतिचार हैं।

आगे सामायिक के अतिचार बताते हैं –

।। योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ।। ७–३३ ।।

अर्थ : योग अर्थात् मन वचन काय के कार्य इनका बुरी तरह चिंतवन प्रवर्तन करना, ये तीन और सामायिक में अनादर क्रिया पाठ आदि का भूल जाना – ये सामायिक के पांच अतिचार हैं। योग का स्वरूप तो पहले बताया ही जा चुका है। योग का दुष्प्रणिधान अर्थात् खोटी प्रवृत्ति करना – ये तीन प्रकार का है – वचनदुष्प्रणिधान, कायदुष्प्रणिधान, मनदुष्प्रणिधान। यहाँ भावार्थ यह है कि सामायिक करते समय सामायिक में तो मन वचन काय की प्रवृत्ति रहे नहीं और अन्य कार्य में प्रवृत्ति हो वह अतिचार है तथा अनादर अर्थात् सामायिक में उत्साह का न होना, जिस तिस प्रकार समय पूरा करना वह है तथा पाठ क्रिया आदि याद न रहना भूल जाना स्मृत्यनुपस्थान है। ये सामायिक के पांच अतिचार हैं।

आगे प्रोषधोपवास के अतिचार बताते हैं –

।। अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ।। ७–३४ ।।

अर्थ : अप्रत्यवेक्षित अर्थात् बिना देखे, अप्रमार्जित अर्थात् बिना शोधे । १. बिना देखे, बिना शोधे भूमि पर क्षेपण (अर्थात् मलमूत्र आदि करना), २. बिना देखे, बिना शोधे उपकरणों को उठाना रखना, ३. बिना देखे, बिना शोधे संथारा करना अर्थात् बिछाना – ये तीन और ४. प्रोषध के प्रति अनुत्साह अर्थात् इसे निरादर से करना, ५. (भूख से पीड़ित होने के कारण) क्रियाओं को भूल जाना – ये प्रोषधोपवास के पांच अतिचार हैं । प्रोषधोपवास की प्रतिज्ञा लेकर जहाँ बैठना उस भूमि में जीव हैं या नहीं, नेत्रों से यह देखना प्रत्यवेक्षणा है । कोमल पीछी आदि उपकरण से झाड़ना प्रमार्जन है । उन दोनों के अभाव में **उत्सर्ग** अर्थात् भूमि में मल मूत्र क्षेपणा अरिहन्त आचार्य की पूजा के उपकरण तथा गंधमाला धूप आदि सामग्री तथा अपने पहनने के वस्त्र आदि उठा लेना **आदान** है । भूमि पर बिछाकर संथारा करना **संस्तरोपक्रमण** – ये तीन हुये तथा क्षुधा से पीड़ित होने पर उपवास आदि में आवश्यक क्रियायें न करना तथा उत्साहरहित निरादरपूर्वक काल पूरा करना **अनादर** है तथा क्रिया आदि याद न रखना **स्मृत्यनुपस्थान** है । ये प्रोषधोपवास के पांच अतिचार हैं ।

आगे उपभोगपरिभोग परिमाण व्रत के पांच अतिचार बताते हैं –

।। सचित्तसम्बन्धसम्मिश्राभिषवदुष्पक्वाहाराः ।। ७–३५ ।।

अर्थ : सचित्तवस्तु, सचित्त से मिली वस्तु, सचित्त से संबंधित वस्तु, द्रव्यरूप वस्तु, बिना पकी वस्तु – इनका आहार करना उपभोगपरिभोग परिमाणव्रत के पांच अतिचार हैं । जीव सहित वस्तु **सचित्तवस्तु** है । उस सचित्त से छुई हुई वस्तु **सचित्त संबंध** वस्तु है । सचित्त से मिली हुई वस्तु **सम्मिश्र** है । इनमें प्रमाद के कारण अथवा अतिभूख से अथवा तीव्रराग से प्रवृत्ति होती है । द्रव्यरूप रस (जैसे सिरका आदि) तथा पुष्टि करने वाली वस्तु **अभिषव** है तथा जो भली प्रकार **न पकी** हो ऐसी वस्तु – इन पांच प्रकार की वस्तुओं का आहार करना उपभोगपरिभोगपरिमाण के पांच अतिचार हैं ।

आगे अतिथिसंविभाग के अतिचार बताते हैं –

।। सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ।। ७–३६ ।।

अर्थ : सचित्तवस्तु में रखना, सचित्त वस्तु से ढक देना, अन्य का नाम करना, मात्सर्य करना, काल का उल्लंघन करना – ये अतिथि संविभाग के पांच अतिचार हैं । **सचित्त** अर्थात् जीव सहित वस्तु जैसे कमल के पत्र पातल आदि में रखना –मुनियों को देने योग्य आहार आदि रख देना तथा **अपिधान** अर्थात् उस सचित्त वस्तु से ही ढक देना तथा अन्य दातार द्वारा दी गयी आहार आदि देने योग्य वस्तु को अपना नाम करना तथा अन्य को स्वयं देकर अन्य का नाम करना, अपना नाम न करना **परव्यपदेश**

है तथा दान देने में आदर न रखना निरादरता से देना तथा अन्य देने वाला यथाविधि दे उसकी सराहना न करना अदेखसा भाव करना **मात्सर्य** है तथा अकाल में अर्थात् काल का उल्लंघन कर भोजन देना **कालातिक्रम** है। इस तरह अतिथिसंविभाग शील के ये पांच अतिचार हैं।

इस तरह सात प्रकार के शीलों के (पांच पांच) अतिचार बताये। अब आगे संल्लेखना के अतिचार बताते हैं –

।। जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबंधनिदानानि ।। ७–३७ ।।

अर्थ : १. जीने की इच्छा, २. (शीघ्र) मरने की इच्छा, ३. मित्रों से अनुराग, ४. सुख का अनुबंध, ५. निदान करना – ये संल्लेखना के पांच अतिचार हैं। **आशंसा** –वांछा इच्छा को कहते हैं, अत: जीने अथवा (शीघ्र) मरने की इच्छा करना तथा पहले मित्रों के संग जो क्रीडाएं की थीं, उनको बारंबार स्मरण करना **मित्रानुराग** है। पहले जो सुख भोगे थे, उनको प्रीतिविशेष के निमित्त बार–बार याद करना तथा वर्त्तमान में सुख की ही चाहना **सुखानुबंध** है तथा भोग की वांछा करके मुझे ऐसे भोग मिलें ऐसा चित्त में बांधना **निदान** हैं। ये संल्लेखना के पांच अतिचार हैं।

भावार्थ : यहाँ पांच पांच ही अतिचार बताये हैं। इससे यह समझा जा सकता है कि अतिचार पांच पांच ही हैं पर ऐसा नहीं समझना। जहाँ पांच कहे हैं, वहाँ बहुवचन है। अत: इनमें इनके समान अन्य अनेक गर्भित हैं; अत: यथासंभव समझ लेना। श्रीगुरु का शरण इनके जानने को अथवा व्रतों को निर्दोष करता है। यहाँ व्रतशील के अतिचारों का कथन किया होने से ऐसा भी आशय सूचित होता है कि तीर्थङ्कर नामक नामकर्म की प्रकृति के आस्रव के जो कारण बताये हैं, उनमें शीलव्रतेष्वनतिचार भावना कही है, अत: उनके अतिचारों का यहाँ कथन किया है।

आगे पूछते हैं – आपने तीर्थङ्कर नाम प्रकृति के आस्रव के कारणों के निर्देश में कहा था कि शक्तितस्त्यागतपसी तथा शीलविधान में अतिथि संविभाग कहा उसमें त्याग को दान का लक्षण कहा था, पर दान का लक्षण अभी तक नहीं जाना जा सका। वह अब बतावें। ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ।। ७–३८ ।।

अर्थ : अपने स्वयं के और अन्य के उपकार के लिये अपने धन आदि का त्याग करना दान है। अपने और पर के उपकार को अनुग्रह कहते हैं। अपना उपकार तो पुण्य का संचय होना है और अन्य का उपकार सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की वृद्धि होना है तथा स्व का अर्थ यहाँ धन आदि है। इस प्रकार अनुग्रह के लिये स्व का अतिसर्ग अर्थात् त्याग दान है।

आगे पूछते हैं – ये दान है, उसका फल एक ही अविशिष्ट अर्थात् विशेष रहित है, अथवा कुछ

विशेष स्वरूप है? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ।। ७–३९ ।।

अर्थ : विधि के विशेष, द्रव्य के विशेष, दातार के विशेष, पात्र के विशेष – इनके विशेष होने पर फल में विशेष होता है। दान देने की विधि में तो आदरपूर्वक दान देना, अनादर से दान न देना – ये विशेष हैं। मुनि को दान देने में तो नवप्रकार भक्ति बतायी गयी है – प्रतिग्रह अर्थात् पड़घाना (बुलाना), ऊँचा आसन देना, पाद प्रक्षालन करना, पूजन करना, प्रणाम करना, मन–वचन–काय की शुद्धि करके भोजन देने की शुद्धि करना – ये विधि के विशेष हैं। तप स्वाध्याय की वृद्धि करने वाला आहार देना द्रव्य का विशेष है। तथा दातार के सातगुण कहे हैं। अन्य के दान का तो नाम नहीं करना, इसमें निरादरता का भाव है। क्रोध करके न देना, क्षमा से देना, कपट से न देना, अन्य देने वाले से ईर्ष्या करके उसके अवगुण न निकालना – इसे अनसूया कहते हैं तथा देने का अथवा दिये हुये का बाद में विषाद पछतावा न करना, दान देकर बड़ा हर्ष मानना, दिये का गर्व न करना – ये दातार के गुण के विशेष हैं तथा मोक्ष का जो कारण है ऐसे सम्यग्दर्शन आदि गुण जिनमें हों यह पात्र का विशेष है। इन विशेषों से दान के फल में भी विशेष होता है। जैसे जैसी धरती हो उसमें जैसा बीज डाला जावे तथा बोने वाले की क्रिया के विशेष से वैसे ही धान्य आदि फल उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार यहाँ जानना।

यहाँ ऐसा भी भावार्थ है कि अन्यमती कोई अपने अथवा पर के मांस आदि देने को भी दान कहते हैं। मांस आदि अपने अथवा पर के उपकार के कारण नहीं है तथा लेने वाला योग्य पात्र नहीं है। अत: उसके देने का फल खराब ही है तथा पात्र, कुपात्र, अपात्र के जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट के भेद से तथा इसी प्रकार विधि द्रव्य दातार के भेद से फल में भी विविधता होती है, जिसे अन्य ग्रंथों से जानना। यह स्याद्वादियों के मत में सिद्ध है, सर्वथा एकांतवादी के नित्य निष्क्रीय आदि पक्ष हैं तथा क्षणिकता है। इनके परिणामपरिणामी का अभाव होने से कुछ भी निर्बाध सिद्ध नहीं है तथा भावों की विशुद्धता, संक्लेशता फल में प्रधान होती है, केवल बाह्य निमित्त की प्रधानता नहीं है, क्योंकि ऐसा कहा है कि कोई वस्तु तो विशुद्धतापूर्वक अपात्र को दी हुई भी अच्छे फल को देती है तथा कोई वस्तु संक्लेश परिणाम सहित होकर पात्र को देने पर भी भला फल नहीं देती है। तथा कोई वस्तु पात्र तथा अपात्र को दी हुई भी तथा न दी हुयी भी विशुद्ध परिणामों के योग से शुभ फल ही देती है। इस प्रकार स्याद्वादमत बहुत गहन है। श्रीगुरु ही इसका निर्वाह करते हैं, हर किसी का इसके कथन में बल नहीं चलता है। जैसे कूप का मैंढक समुद्र का पार नहीं पाता है, वैसे ही जानना।

इस प्रकार सातवें अध्याय में आस्रव पदार्थ का भेद जो पुण्य का बंध करने वाले अणुव्रत, महाव्रत, समिति रूप क्रिया तथा उनकी भावनायें, अतिचार टालना, दान का स्वरूप आदि कहे हैं, उनको सुनकर भव्यजीव इन्हें मोक्षमार्ग के कथंचित सहकारी जानकर इनका सेवन करो, जिससे अनुक्रम से शुद्धात्मा के स्वरूप का अनुभव करके मोक्ष प्राप्त करें। श्रीगुरु का ऐसा उपदेश है।

सवैया

आस्रवपदार्थ का भेद शुभवृत्तिरूप,
पंच पापपरिहार समिति सुहावनी।
शील के अनेक भेद यती घरवासी वेद,
अतीचार टारे विधि धारे महा पावनी।।
दानदेय भाव छानि पात्र मानि दुःखी जानि,
पावे फल तिस्यों स्याद्वाद ये कहावनी।
सातमी सुसंधि कथा सुनूं मुनि कही यथा,
पुण्य लेस होय बंध काटि मोक्ष भावनी।।

इस प्रकार जिसमें तत्त्वार्थ का अधिगम है ऐसे मोक्षशास्त्र में सप्तम अधिकार पूर्ण हुआ।

अष्टम अध्याय

दोहा

आठ करम के बंध कूं, काटि भये निकलंक।
नमूं सिद्ध परमातमा, मन वच काय निशंक।।

अर्थ : आठों प्रकार के कर्मों के बंध को काटकर जो निकलंक (कलंक रहित) हो गये हैं, ऐसे सिद्ध परमात्मा को मैं निशंक होकर मन-वचन-काय से नमस्कार करता हूँ।

इस प्रकार मंगल के लिये सिद्ध परमात्माओं को नमस्कार करके आठवें अध्याय की वचनिका लिखता हूँ, इसमें सर्वार्थसिद्धि नामक टीका करने वाले के वचन हैं। आस्रव पदार्थ का तो व्याख्यान किया जा चुका है, अब इसके अनन्तर जिसका नाम आता है, वह बंध पदार्थ है; अत: अब उसका व्याख्यान किया जाना योग्य है। इसके (बंध के) व्याख्यान योग्य होने पर पहले बंध के कारणों की स्थापना करते हैं; क्योंकि बंध होता है, वह कारणपूर्वक ही होता है। अत: उसका सूत्र कहते हैं -

।। मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाबन्धहेतव: ।।८-१ ।।

अर्थ : १. मिथ्यादर्शन, २. अविरति, ३. प्रमाद, ४. कषाय, ५. योग - ये बन्ध के पांच कारण हैं। उनमें मिथ्यादर्शन आदि तो पहले बताये थे, वे ही हैं। तत्त्वार्थश्रद्धान का प्रतिपक्षी अतत्त्वार्थश्रद्धान तथा आस्रव के कथन में जो मिथ्यादर्शन क्रिया का कथन किया है, उसे तो मिथ्यादर्शन जानना। तथा पहले विरति का कथन किया था, उसकी प्रतिपक्षी अविरति है तथा आस्रव के कथन में आज्ञा व्याप आदि की तथा अनाकांक्षा क्रिया बताई थी उनमें प्रमाद का अन्तर्भाव है। यह प्रमाद कल्याणरूपी कार्यों में अनादर स्वरूप है तथा आस्रव के कथन में इन्द्रियकषाय आदि सूत्र कहा है। यह कषाय अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलन- इस प्रकार चार भेदरूप है। तथा उस ही आस्रव के कथन में पहले ही सूत्र में काय, वचन, मन योग कहे थे, वे ही यहाँ जानना।

मिथ्यादर्शन दो प्रकार है - १. नैसर्गिक (अगृहीत) २. परोपदेशक (गृहीत)। परोपदेश के बिना ही मिथ्यात्वकर्म के उदय के वश आत्मा में तत्त्वार्थश्रद्धान के अभावरूप परिणाम प्रकट हो वह तो नैसर्गिक है तथा अन्य के उपदेश के निमित्त से हो वह चार प्रकार का है - १. क्रियावादी २.अक्रियावादी ३. अज्ञानी ४. वैनयिक। अथवा पांच प्रकार का है - १. एकान्त २.विपरीत ३. संशय ४. वैनयिक ५. अज्ञानी। पदार्थ में अनेक धर्म हैं, उनमें ऐसा कोई अभिप्राय रखना कि वस्तु धर्मीमात्र है, अथवा

धर्म मात्र ही है अथवा किसी एक धर्म को ग्रहण कर कहना कि वस्तु इस एक धर्म मात्र ही है, अस्तित्वमात्र ही है, नास्तित्वमात्र ही है, एकवस्तुमात्र ही है, यह रचना एक पुरुष मात्र ही है तथा अनेक ही है, नित्य ही है, अनित्य ही है इत्यादि एक नय (दृष्टिकोण) का पक्षपात करे, वह तो **एकांत** है। निग्रन्थ मोक्षमार्ग है, उसे सग्रन्थ बताना (मानना), केवली को कवलाहार करता कहना, स्त्री को मोक्ष बताना इत्यादि विपर्ययरूप **विपरीत मिथ्यात्व** है तथा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र त्रयात्मक मोक्षमार्ग बताया है, वह है या नहीं है, ऐसा संशय करना **संशय मिथ्यात्व** है तथा सभी देवों, सभी शास्त्रों, सभी मतों को समान मानना, सब ही का विनय करना सम्यक् और मिथ्या का भेद न जानना **वैनयिक मिथ्यात्व** है तथा हित अहित की परीक्षा से रहित अंधे की तरह परिणाम **अज्ञान मिथ्यात्व** है। यहाँ अन्य ग्रन्थ से गाथा है उसका अर्थ इस प्रकार है –क्रियावादियों के तो एक सौ अस्सी (१८०) भेद हैं, अक्रियावादियों के चौरासी (८४) भेद हैं, अज्ञानवादियों के सड़सठ (६७) भेद हैं, वैनयिकवादियों के बत्तीस भेद हैं। इस तरह सर्वथा एकान्तवादियों के तीन सौ तरेसठ (३६३) भेद हैं।[१]

यहाँ विशेष यह है कि अविरति बारह प्रकार की है। पांच इन्द्रियों और एक मन के विषयों में राग सहित प्रवृति – ये छह और छहकाय के जीवों की रक्षा न करना – ये छह। इस तरह ये बारह प्रकार की अविरति है तथा अनन्तानुबंधी आदि सोलह कषाय और नव नोकषाय–इस तरह पच्चीस (२५) कषायें हैं। नो अर्थात् ईषत्, किंचित्, अल्प–ऐसा अर्थ ग्रहण करना है, कषायों का अभाव – अर्थ ग्रहण नहीं करना है। तथा चार मनोयोग, चार वचनयोग, पांच काययोग – इस तरह योग के तेरह भेद हैं। अहारक और आहारक मिश्र काय योग ये प्रमत्तसंयत को ही होते हैं, इन्हें भी गिनने पर योग पन्द्रह भी हैं। प्रमाद अनेक प्रकार का हैं। भाव, काय, विनय, ईर्यापथ, भिक्षा, प्रतिष्ठापन, शयनासन, वाक्य – ये आठ शुद्धियों और दशलक्षण धर्म में उत्साहरहित परिणामों का होना प्रमाद है। इस तरह बंध के पांच कारण, समस्त अर्थात् सभी एकत्रित अथवा व्यस्त अर्थात् अलग–अलग भी हैं, इसे ही बताते हैं–

मिथ्यादृष्टि गुणस्थानवालों को तो पांचों ही कारणों से बंध होता है। सासादन, मिश्र तथा असंयतसम्यग्दृष्टि–इन तीन गुणस्थानों में अविरति आदि चार बंध के कारण हैं। संयतासंयत के अविरति है वह विरति से मिश्रित है और प्रमाद, कषाय, योग –ये चार कारण हैं। प्रमत्तसंयत के प्रमाद, कषाय, योग – ये तीन कारण हैं। अप्रमत्त आदि चार गुणस्थान वालों के कषाय और योग– ये दो ही कारण हैं। उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली इन तीन गुणस्थानवालों के केवल योग ही कारण है तथा अयोगकेवली बंधरहित है (उन्हें बंध नहीं होता है) ऐसा जानना।

यहाँ विशेष कथन करते हैं – प्रथम तो बंध से पहले ही बंध के कारण बताये हैं, उसमें यह बताया

१.गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा–८७६

है कि बिना कारण बंध नहीं होता है तथा कूटस्थ अथवा सर्वथानित्य के भी बंध नहीं होता है। सन्तान की अपेक्षा तो अनादि बंध (अनादि से ही बंध है – कुछ बंध करता जाता है, कुछ नया होता जाता है – इस प्रकार संतति चलती आ रही है) है। तथा पुरातन बंध झड़ गया है, नवीन बंध हुआ है, इस अपेक्षा बंध आदि सहित है। मिथ्यात्व नैसर्गिक और परोपदेशक – इस तरह दो प्रकार का है। नैसर्गिक तो एकेन्द्रिय आदि सभी संसारी जीवों के अनादि काल से प्रवर्त रहा है, इसे अगृहीत भी कहते हैं तथा जो अन्य के उपदेश से प्रवर्ते वह परोपदेशक है, इसे गृहीत भी कहते हैं।

इसके क्रियावादी आदि चार तो मूलभेद और इनसे उत्तर भेद तीन सौ तरेसठ (३६३) बताये हैं। वे कैसे होते है, वह बताते हैं– प्रथम ही क्रियावादी के एक सौ अस्सी (१८०) भेद हैं। उनमें मूल भेद पांच हैं – १. काल, २. ईश्वर, ३. आत्मा, ४. नियति, ५. स्वभाव। तथा स्वयं से, अन्य से, नित्यरूप से, अनित्यरूप से इन चार को उपरोक्त पांच में से प्रत्येक के साथ प्रत्येक को लगाकर, (ऐसे बनने वाले बीस भेदों में से प्रत्येक के साथ) जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष, पाप, पुण्य– ये नव पदार्थ उन प्रत्येक के साथ अलग–अलग लगाने से इनको परस्पर गुणा करने पर (४ गुणा ५=२०, २० गुणा ९ = १८०) एक सौ अस्सी हो जाते हैं। इसका उदाहरण– जीव पदार्थ स्वयं से ही काल द्वारा अस्तित्वरूप किया जाता है, जीव पदार्थ अन्य से काल द्वारा अस्तित्वरूप किया जाता है, जीव पदार्थ काल द्वारा नित्यत्व से अस्तित्व किया जाता है, जीव पदार्थ काल द्वारा अनित्यत्व से अस्तिरूप किया जाता है। इस ही प्रकार अजीव पदार्थ पर घटित करना। इस तरह काल अपेक्षा नव पदार्थों से छत्तीस भंग हुये। इस ही तरह ईश्वर, आत्मा, नियति, स्वभाव इन चार से भी छत्तीस छत्तीस भंग हो जाते है। इस प्रकार क्रियावाद के कुल एक सौ अस्सी भेद होते हैं।

इनका आशय बताते हैं – कालवादी कहता है, यह काल है वही सबको उपजाता है, काल ही सबका नाश करता है, काल ही सबको सुलाता है, निद्रा देता है तथा जगाता है। यह काल किसी से भी जीता नहीं जा सकता, सबके ऊपर खड़ा है (सब पर अपना प्रभुत्व रखता है)। ईश्वरवादी कहता है– यह जीव अज्ञानी है, अनीश्वर है, असमर्थ है, इसको सुख, दु:ख, स्वर्ग–नरक में गमन आदि सभी कार्य ईश्वर करता है – ईश्वरवादी का ऐसा आशय है। तथा आत्मवादी कहता है – पुरुष एक ही है, महात्मा है, देव है, सर्वव्यापी है, उसके सब अंग गूढ हैं, चेतना सहित है, निर्गुण है, परम उत्कृष्ट है। अर्थात् यह सर्व सृष्टि की रचना पुरुषमय है, दूसरा कोई नहीं है, ऐसा आत्मवादी की मान्यता है। तथा नियतवादी कहता है –जिसकाल, जिसके द्वारा, जैसे, जिसके नियम से हो, उसकाल, उसके द्वारा, उस प्रकार से, उसके ही हो, ऐसा नियम है – ऐसा नियतवादी का अभिप्राय है। तथा स्वभाववादी कहता है– देखो कंटक को नुकीला कौन करता है ? तथा पशु पक्षियों आदि के

अनेक प्रकार कौन करता है ? इससे जाना जाता है कि स्वभाव ही ऐसा करता है। ऐसा स्वभाववादी का मानना है। इस तरह क्रियावाद के भेद बताये।

अक्रियावाद के मूल दो भेद हैं – नास्तिक स्वत: परत:। इन दोनों को पुण्य पाप को छोड़कर सात पदार्थों के साथ लगाने (घटित करने) पर चौदह भेद हुये। तथा काल, ईश्वर, नियति, आत्मा, स्वभाव–इन पांच को प्रत्येक भेद के साथ अलग अलग घटित करने पर (५ गुणा १४=७०) सत्तर भेद हुये। तथा काल और नियति के साथ सात पदार्थों को पुन: नास्तित्व पर लगाने से चौदह फिर हुये। सब मिलकर अक्रियावादी के (७० गुणा १४=८४) चौरासी भंग हुये। इसके उदाहरण– जीव पदार्थ काल द्वारा स्वयं से ही नास्तिकस्वरूप किया जाता है। जीव पदार्थ काल द्वारा पर से नास्तिकरूप किया जाता है। इस तरह अजीव आदि पर घटित करने पर (२ गुणा ७=१४) चौदह भंग हुये। तथा ईश्वर आदि चार प्रत्येक पर घटित करने से चौदह–चौदह भेद हुये। इस तरह सब मिलकर (५ गुणा१४ = ७०) सत्तर भेद हुये। तथा इस ही प्रकार चौदहभंग काल और नियति इन दो पर नास्तित्वपना लगाने से हुये, जैसे जीव काल से नास्तित्वरूप किया जाता है। जीव नियति से नास्तित्व किया जाता है। इस तरह सात पदार्थ से चौदह भंग हुये। यहाँ विशेष यह हुआ कि परत: स्वत: नहीं कहा, नास्तित्व ही कहा। इस तरह अक्रियावादी के चौरासी (८४) भंग हैं।

अब **अज्ञानवादी** के सड़सठ (६७) भंग बताते हैं। यहाँ नव पदार्थों पर अस्ति नास्ति आदि वचन के सात भंगों को घटित करना। तब तरेसठ (६३) होते हैं। उदाहरण – जीव पदार्थ अस्तिस्वरूप है यह कौन जानता है ? कोई भी नहीं जानता। जीव नास्तिस्वरूप है, यह कौन जानता है ? कोई भी नहीं जानता। इस तरह सातों ही भंग नव पदार्थों पर घटित करना तथा नव पदार्थ का भेद न करके केवल एक शुद्ध पदार्थ ग्रहण करके अस्ति, नास्ति, अस्तिनास्ति, अवक्तव्य–ये चार भंग घटित करने। तब चार हुये। इसमें ऐसा कथन है – पदार्थ है या नहीं है या दोनों रूप है या अवक्तव्य है–ऐसा कौन जानता है ? कोई नहीं जानता। यहाँ भावार्थ यह है कि सर्वज्ञ कोई है नहीं और सर्वज्ञ के बिना कौन जान सकता है ? इस तरह अज्ञान का पक्ष हुआ; अत: सब मिलकर अज्ञानवादी के सड़सठ (६७) भंग हुये।

अब **वैनयिक वाद** के बत्तीस भंगों का कथन करते हैं। विनय मन वचन काय और ज्ञान इन चारों से होती है। यह देव, राजा, ज्ञानी, यति, वृद्ध, बाल, माता, पिता–इन आठ का होता है। तब प्रत्येक के साथ चारों को (अलग अलग) घटित किये (४ गुणा ८=३२) बत्तीस भंग हुये। इनका अर्थ सरल है –जैसे देवमात्र का विनय करने से सर्वसिद्धि होती है इस तरह जानना।

इस प्रकार ये तीन सौ तरेसठ वाद स्वच्छंद प्रवर्तने वाले पाखंडी मिथ्यादृष्टियों के निकाले हुये हैं,

जो व्याकुल करने वाले हैं। अज्ञानी लोकों के तो चित्त को हरते हैं, रंजायमान करते हैं। ज्ञानी यथार्थ जानते हैं। इस तरह के अन्य भी वाद है। पौरुषवादी कहता है- आलस्यवान उत्साह रहित हो वह कुछ भी फल प्राप्त नहीं करता है। जैसे बालक माता के स्तन को खेंच कर दूध पीवे तो दूध मिल जावे, अन्यथा नहीं पी सकता, अत: पौरुष ही से कार्य सिद्ध होता है, बिना पौरुष कुछ नहीं होता।

देववादी कहता है-हम तो केवल देव ही को उत्तम मानते हैं, पौरुष अनर्थक है, उसे धिक्कार है। प्रत्यक्ष देखो- कर्ण राजा इतना बड़ा पुरुष था तो भी युद्ध में हार गया। दैववाद ऐसा है।

संयोगवादी कहता है- वस्तुओं का संयोग मिलने पर ही कार्य सिद्धि होती है। देखो एक पहिये से रथ नहीं चलता। अंधा और पंगु अलग-अलग तो वन में भटकते रहते हैं, दोनों का संयोग हो जावे तो नगर में पहुँच जाते हैं। संयोगवाद ऐसा है।

लोकरूढिवादी कहता है- लोक में एक बार रूढि चल जावे तो फिर देव भी आकर मिलकर उसका निवारण करना चाहें तो निवारण नहीं कर सकते। देखो, द्रौपदी ने अर्जुन के गले में वरमाला डाली थी, पर लोक परस्पर कहते लगे कि वरमाला पांडवों के गले में डाली, यह कहावत अब तक चली आती है। कोई मिटा सका नहीं।

इस तरह संक्षेप में एकान्तपक्ष का कथन किया। कहाँ तक कहा जावे ? जितने वचन के मार्ग हैं, उतने ही नयों के वाद हैं तथा जितने नयों के वाद हैं, उतने ही अन्यमत हैं, जो सब मिथ्या हैं; क्योंकि सर्वथा एकान्तपक्ष ग्रहण करके कहे गये हैं, अत: सभी परमत हैं तथा वे ही नय के वचन सर्व ही सम्यक् हैं, सत्य हैं, जैनमत के हैं, क्योंकि वे कथंचित प्रकार से कहे गये होते हैं।

तथा स्वामि समन्तभद्र आचार्य ने आप्त की परीक्षा के लिये देवागम स्तोत्र की रचना की है। उसमें सत्यार्थ (सच्चे) आप्त की स्थापना और असत्यार्थ (आप्त) के निराकरण के निमित्त दश पक्ष स्थापित किये हैं। १.अस्तिनास्ति, २.एक अनेक, ३. नित्य अनित्य, ४. भेद अभेद, ५. अपेक्ष अनपेक्ष, ६. दैव पौरुष, ७. अन्तरंग बहिरंग ८. हेतु अहेतु ९. अज्ञान से बंध अल्पज्ञान से मोक्ष १०. अन्य को दुखित करे स्वयं को सुख करे तो पाप और अन्य को सुख करे अपने को दु:ख करे तो पुण्य। इस तरह दश पक्षों में सप्तभंग लगाने पर सत्तर भंग होते हैं। उनके सर्वथा एकान्त में दूषण दिखाये हैं। जिसने ऐसा कहा है, वह तो आप्ताभास है और उसे ही अनेकान्त से साधा हो तो दूषण रहित है, सर्वज्ञवीतरागदेव के द्वारा भाषित है; अत: अनेकान्त से कथन करने वाला सत्यार्थ आप्त है, इस प्रकार सम्यक् और मिथ्या का निर्णय किया है। जिसे देवागम स्तोत्र की अष्टसहस्री नामक टीका से जानना।

तथा उन तीन सौ तरेसठ कुवादों (का प्रचार करने वाले) आचार्य इस काल में हुये हैं, उनमें से कुछ के नाम राजवार्तिक तथा गोम्मटसार ग्रन्थ से जानना। उनमें से कुछ अज्ञानवादी चर्चा करते हैं

कि वेदों में जो क्रिया, आचरण यज्ञ आदि का विधान किया है, उस विधान से क्रिया आदि करने वाले अज्ञानी कैसे हो सकते हैं ?

उनसे कहते हैं– उनका अभिप्राय प्राणियों के वध से धर्मसाधन करने का है; अत: वे अज्ञानी हैं।

यहाँ वे कहते है – वेद अपौरुषेय है, उसमें कर्त्ता का दोष नहीं आता, अत: प्रमाण है, अत: उस आगमप्रमाण से प्राणियों का वध करना धर्म है।

उनसे कहते हैं–जिसमें प्राणियों के वध करने को धर्म कहा हो वह आगम ही नहीं हो सकता। सब प्रणियों के हित का उपदेश दे वह आगम है। वेद में कहीं तो हिंसा का निषेध किया है, कहीं हिंसा करने को धर्म कहा है; अत: विरुद्ध वचनों का उनमें कथन होने से वे प्रमाणभूत नहीं है तथा अरिहंत भाषित आगम में हिंसा का निषेध ही है, अत: प्राणियों का वध धर्म का कारण नहीं हो सकता।

वे **पुन: कहते हैं**– अरिहंत के आगम को प्रमाणिक कैसे कहते हो ?

उनसे कहते हैं –अरिहंत सर्वज्ञ हैं तथा वीतराग हैं, अत: उनके वचन सत्यार्थ ही हैं। वे अतिशयरूप ज्ञान की खान हैं। उनमें अनेक चमत्काररूप (जो अन्यों ने नहीं जाने हों) वस्तुस्वरूप लिखा है; अत: प्रमाण है।

वे **पुन: कहते हैं** – अन्यमतों के आगम में भी चमत्काररूप लिखे हैं।

उनसे कहते हैं – चमत्कारस्वरूप कुछ लिखा होगा तो अरिहंत के आगम से ही लेकर लिखा होगा।

वे **पुन: कहते हैं** – ऐसा तो आप अपनी श्रद्धामात्र से कहते है।

उनसे कहते हैं – यह न्याय है कि जहाँ बहुत वस्तुओं का बहुत प्रकार से वर्णन हो तथा वैसा पूर्ण वर्णन अन्य स्थानों पर नहीं हो, तो यह जाना जाता है कि जहाँ पूर्णरूप से लिखा हो वह तो आदि है, मूल है और जहाँ थोडा सा कथन किया हो वहाँ यह जाना जाता है कि पूर्ण में से लेकर अपना नाम चलाया है।

यदि वे पुन: कहें – अन्यमतों के आगम में जो कुछ अरिहंत के आगम से लेकर लिखा हो उसे प्रमाणभूत क्यों न माना जावे ?

उनसे कहते हैं –जो लिखे हैं वे सार रहित हैं; क्योंकि जैनागम में तो सर्व ही वस्तुओं का स्वरूप लिखा है, उनमें से कुछ साररहित वस्तुएं लेकर लिख दी तो वे तो निरर्थक ही होगी।

यदि जो प्राणीवध को धर्म लिखा है, उसे धर्म माना जावे तो हिंसक जीवों को सबको धर्मसाधन मानना पड़ेगा।

वह **फिर कहता है**– यज्ञ के अतिरिक्त अन्य स्थान पर प्राणीवध करे, वह तो स्वयं के लिये ही है (धर्म के लिये नहीं है)।

उनको कहते है – प्राणियों का वध तो दोनों स्थानों पर समान ही है, दोनों ही स्थानों पर समान दु:ख होता है, इसमें विशेष क्या है ?

वे **पुन: कहते है** – मंत्र विधान से पशु का होम करने पर पाप नहीं होता।

उनको कहते हैं– मंत्र की सामर्थ्य तो तब मानी जावे जब केवल मंत्र के ही बल से पशुओं को बुलाकर होमो। होम के लिये तो रस्से से बांध बांध कर पटके जाते हैं, इस तरह मारने में मंत्र की सामर्थ्य क्या रही ? अत: यह तो प्रत्यक्ष से विरुद्ध है कि मंत्र की सामर्थ्य से होम में पाप नहीं होता तथा जैसे शस्त्र आदि से पशुओं को मारने पर पाप होता है वैसे ही मंत्र से मारने पर भी पाप ही होगा, हिंसा का दोष तो मिटेगा नहीं; क्योंकि पशु को बांधकर होम में डालने से अशुभ परिणाम ही होते हैं और अशुभ परिणामों से तो पाप ही होता है।

तथा **उनसे पूछते हैं**– मंत्रपूर्वक होम किया जाता है, तो इस क्रिया का कर्त्ता कौन है ? यदि पुरुष को बताते हो और पुरुष को नित्य कहोगे तो उसके करने के परिणाम नहीं हो सकते ? परिणाम तो अनित्य के होते हैं तथा यदि अनित्य कहोगे तो स्मरण आदि के अभाव में क्रिया और क्रिया के करने से होने वाले फल को लेने वाला कौन होगा ? तथा पुरुष को एक ही मानोगे तो कर्त्ता, कर्म आदि का कुछ भी भेद संभव नहीं होगा, प्रत्यक्ष विरोध आवेगा। इत्यादि विचार करने पर तो जिनने हिंसा में धर्म प्रतिपादन किया है उनके सब वचन रागी, द्वेषी, विषयी प्राणियों के कहे भासित होते हैं, अत: प्रमाणभूत नहीं हैं।

इस प्रकार मिथ्यादर्शन के अनेक भेद हैं। उनको भली प्रकार समझकर जिन उपायों से मिथ्यात्व से निवृत्ति हो वैसे उपाय करना। यथार्थ जिनागम को जानकर अन्यमत का प्रसंग (साथ) छोड़ना और अनादि से पर्यायबुद्धि के कारण जो नैसर्गिक मिथ्यात्व है, उसे छोड़कर अपने स्वरूप को यथार्थ जानकर बंध से निवृत्ति होना। जैसे बने वैसे इस ही का अभ्यास करना। यह ही श्रीगुरुओं का प्रधान उपदेश है।

आगे बंध के कारण तो बताये, अब बंध का कथन करना योग्य है, वह बताते है–

।। सकषायत्वाज्जीव: कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्ध: ।। ८–२ ।।

अर्थ : यह जीव कषाय सहित होने पर कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, वह बंध है। कषाय सहित वर्तन को सकषाय कहते हैं, उसका भाव सकषायत्व है। ऐसे कषायत्व को पांचवी विभक्ति करके हेतु कारण कहा है। यह हेतु कहने का क्या प्रयोजन है वह बताते हैं –

जैसे पेट में अग्नि का जैसा आशय होता है, उसके अनुसार आहार को ग्रहण करता है, उसी

प्रकार तीव्र, मंद, मध्यम जैसा कषाय का आशय (की प्रबलता) होता है, उसके अनुसार स्थिति, अनुभाग प्राप्त किये हुये कर्म (परमाणुओं) का ग्रहण होकर बंध होता है। ऐसा ज्ञान कराने के लिये (पांचवी विभक्ति करके) कहा है।

यहाँ **प्रश्न :** आत्मा तो अमूर्तिक है, इसके हाथ तो हैं नहीं, कर्मों का ग्रहण कैसे करता है ? ऐसे प्रश्न का **उत्तर** देने के लिये ही सूत्र में जीव शब्द कहा है, यहाँ जो प्राणों को धारण करके जिये वह जीव है। जिनके आयु नामक प्राण का सम्बन्ध है, अत: वे जीव हैं। यदि आयु कर्म का सम्बन्ध न हो तो जिन्दा न रहे। इस प्रकार के जीवों को ही हस्तसहित कहा जाता है। इस तरह के जीव ही कर्मों को ग्रहण करते हैं।

प्रश्न : कर्मयोग्यान् ऐसा कहने में अक्षर कम कहे जाते, यहाँ कर्मणो योग्यान् क्यों कहा गया ?

उसका प्रयोजन बताते हैं – यहाँ भिन्न विभक्ति का उच्चारण किया है, वह अन्य वाक्य को बताने के लिये है। वह अलग वाक्य क्या है ? यह बताते हैं –

कर्म से जीव कषाय सहित होता है, एक वाक्य तो यह हुआ। यहाँ कर्म शब्द के पांचवी विभक्ति करके हेतु किया है; क्योंकि कर्मरहित जीव के कषाय का लेश भी नहीं है। ऐसा कहने से यह प्रयोजन है कि जीव और कर्मका अनादि सम्बन्ध है। इससे ऐसे तर्क का निराकरण हुआ कि अमूर्तिक जीव मूर्तिक कर्म से कैसे बंधता है ? यदि ऐसा न हो, बंध को नवीन ही माना जावे तो जीव पहले सर्वथा शुद्ध मानना होगा एवं सिद्धों की तरह बंध का अभाव मानना पड़ेगा।

तथा दूसरा वाक्य इस प्रकार है – जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। अर्थ के वश विभक्ति पलट लेनी चाहिये – इस न्याय से कर्म शब्द के छठी विभक्ति से संबंध का अर्थ किया है तथा पुद्गल कहकर यह बताया है कि कर्म है वह पुद्गल परमाणु का स्कंध है, पुद्गल स्वरूप ही है। इसमें पुद्गल के और कर्म के तादात्म्य संबंध बताया है क्योंकि कई वैशेषिक मत आदि वाले कहते हैं कि कर्म आत्मा ी का अदृष्ट नामक गुण है, उसका निराकरण इससे हो जाता है; क्योंकि यदि केवल आत्मा ही क गुण हो तो संसार का कारण नहीं हो सकता है। तथा आदि से ऐसी क्रिया कही है वह हेतु के और तुमान के भाव को प्रकट करने के लिये कही है।

हेतु तो मिथ्यार्शन आदि जो पहले कहे हैं वे हैं और हेतुमान पुद्गलकर्म का बंध है, जिसका कर्त्ता जीव है। इससेऐसा अर्थ सिद्ध होता है कि मिथ्यादर्शन आदि के आवेश से गीला, चिकना हुये आत्मा के चारों तरु से योगों के विशेष के कारण सूक्ष्म और एकक्षेत्रावगाह में स्थित अनन्तानंत पुद्गल परमाणुओं ा विभाग रहित मिल जाना बंध है, ऐसा कहा है।

जैसे पात्र (बर्त) के विशेष हंडिया आदि में रखे गये अनेक रस, बीज, फूल, फल आदि का

मदिरा रूप परिणमन होता है, वैसे ही आत्मा में सम्मिलित (के साथ लगे) पुद्गल योगों द्वारा खेंचे जाकर योग एवं कषाय के वश कर्मभावरूप परिणाम को प्राप्त होते है, ऐसा जानना। तथा सूत्र में स शब्द अन्य की निवृत्ति के लिये है, यह ही एक बंध है, अन्य नहीं है। ऐसा कहने से गुण और गुणी में जो बंध होता है, उसे यहाँ बंध नहीं मानना तथा बंध शब्द है वह कर्मसाधन है तथा करणसाधन,कर्तृसाधन, भावसाधन भी है। पिछले बंध की अपेक्षा तो आत्मा बंध करके नया बंध करता है; अत: बंध को कारण भी कहते हैं तथा जो आत्मा बंधा वह बंध, इस तरह कर्म भी कहा जाता है तथा आत्मा बंधरूप स्वयं ही परिणमता है; अत: बंध को कर्त्ता भी कहा जाता है। तथा बंधनरूप क्रिया ही भाव इस प्रकार बंध को क्रियारूप भी कहते हैं। इस प्रकार विवक्षा से प्रत्यय का अर्थ सिद्ध होता है। तथा ऐसा जानना कि आत्मा के कार्मणशरीररूप एक खजाना है, जिसमें कर्मरूप अनाज भरा रहता है। उसमें से पुराना तो भोगने में आता जाता है, नया और भरने में आता रहता है। इसका क्रम (नया भरना) टूटे तब मोक्ष हो।

आगे पूछते है कि यह बंध क्या एकरूप ही है अथवा इसके कई प्रकार हैं ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधय: ।।८–३।।

अर्थ : प्रकृति, स्थिति, अनुभाग (अनुभव), प्रदेश – ये बंध की चा विधि है। प्रकृति तो स्वभाव को कहते है, जैसे नीम वृक्ष की प्रकृति कडुआपन है, गुड की प्रकृति मीठापन है, उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म की प्रकृति पदार्थ को न जानने देना है। दर्शनावरण की प्रकृति दार्थ को न देखने देना है। वेदनीय की प्रकृति सुख दु:ख का संवेदन है। दर्शन मोह की प्रकृति तत्त्वार्थ का अश्रद्धान है। चारित्र मोह की प्रकृति संयम का अभाव है। आयुकर्म की प्रकृति भव का धाण करना है। नामकर्म की प्रकृति नारकी आदि नाम के लिये कारण होना है। गोत्र कर्म की प्रकृतिऊँचा नीचा स्थान प्राप्त कराना है। अन्तराय कर्म की प्रकृति दान आदि में विघ्न करना है। ऐसे लक्षण वाला कार्य किया जाना अर्थात् जिससे होता है वह प्रकृति है।

तथा उस प्रकृति स्वभाव से (जितने काल) छूटे नहीं, उतने काल केस्थिति कहते हैं। जैसे बकरी गाय भैंस आदि के दूध जब तक अपने मीठे स्वभाव से छूटे नहीं (मीठरहे) वह उसकी स्थिति है। इस ही प्रकार ज्ञानावरण आदि का अपने स्वभाव पदार्थ को न जानना दि से न छूटना स्थिति है। तथा उन कर्मों के रस का तीव्र मंदरूप अनुभव अनुभाग है। जैसे बकरी, य, भैंस आदि के दूधों में तीव्र मंद आदि भाव से रस, स्वाद, चिकनाई आदि का विशेष होता है,सी ही कर्मपुद्गलों का अपनी सामर्थ्य में प्राप्त हुये विशेष को अनुभव (अनुभाग) कहते हैं।

तथा (बंधे) परमाणुओं की गिनती कि इतने परमाणु बंधे हैं, वह प्रदेश है। जितने पुद्गल परमाणुओं का स्कंध कर्मभावरूप परिणमा उन परमाणुओं की गिनती इसमें की जाती है। विधि शब्द प्रकार का वाचक है। ये प्रकृति आदि उस बंध के प्रकार हैं। योग से तो प्रकृति, प्रदेश, बंध होता है। कषाय के निमित्त से स्थिति-अनुभाग बंध होता है। योग और कषायों की हीनाधिकता से बंध में भी विविधता होती है। यहाँ अन्य ग्रंथ से गाथा है, उसका अर्थ इस प्रकार है -आत्मा योग से तो प्रकृति प्रदेश बंध करता है और कषाय से स्थिति अनुभाग करता है। यदि योग कषायरूप न परिणमे तथा वे छिन्न हो जावें, नष्ट हो जावे तब आत्मा को बंध स्थिति का कोई कारण रहता नहीं।

आगे प्रथम कहा जो प्रकृतिबंध उसके भेद बताने के लिये सूत्र कहते हैं -

।। आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः ।। ८-४ ।।

अर्थ : ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अन्तराय - ये कर्म की आठ मूल प्रकृतियाँ हैं। आद्य अर्थात् प्रथम जो प्रकृतिबंध वह ज्ञानावरण आदि आठ भेदों वाला है, ऐसा जानना।

जो आवरण करे या जिससे आवरण हो (ढका जावे) उसे आवरण कहते है। इसे ज्ञान और दर्शन के साथ अलग-अलग जोड़ना है - ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा जो वेदन करावे अथवा जिससे वेदना हो वह वेदनीय है। जो मूढ करे, भुलावे अथवा जिससे मूढ हुआ जावे, भूला जावे, वह मोहनीय है तथा जिसके कारण नरक आदि भव प्राप्त हों अथवा जो भव को प्राप्त करे, वह आयु है तथा जो आत्मा को नाम दिलावे तथा जिससे नाम किया (कहा) जावे, वह नामकर्म है तथा जिससे ऊँचा नीचा कहा जावे, वह गोत्र है तथा दातार और देने योग्य वस्तु में अन्तर डाले, वह अन्तराय कर्म है। आत्मा के एक ही परिणाम से ग्रहण किये गये पुद्गल ज्ञानावरण आदि अनेक भेदों को प्राप्त होते हैं। जैसे एक बार खाया गया अन्न - रस रुधिर आदि अनेक रूपों में परिणमता है, उसी प्रकार जानना।

यहाँ **कोई कहता है** -ज्ञानावरण है वही मोह है, क्योंकि हिताहित की परीक्षा न होने दे वह ज्ञानावरण और वही मोह - इनमें भेद क्या ?

समाधान : पदार्थ को यथार्थ न जानने दे, वह ज्ञानावरण तथा पदार्थ को यथार्थ जानकर भी यह ऐसा ही है, ऐसी रुचिरूप सत्यार्थ में श्रद्धान का अभाव मोह है, इस प्रकार भेद है। अथवा कार्य के भेद से भी कारण में भेद होता है (जाना जाता है) अज्ञान और अदर्शन तो ज्ञानावरण, दर्शनावरण के कार्य है तथा अतत्त्वश्रद्धान, रागद्वेषरूप इष्ट अनिष्ट बुद्धि मोह का कार्य है। इस ही प्रकार कार्य के भेद से कारण में भेद सभी मूल एवं उत्तर प्रकृतियों से सर्वत्र जानना तथा कर्म के भेद हैं वे शब्द की अपेक्षा तो एक से लेकर संख्यात है। सामान्य से तो बंधरूप कर्म एक ही है। वही पुण्य-पाप के भेद से दो

प्रकार है तथा वही अनादि-सांत, अनादि-अनन्त, सादि-सांत इस तरह तीन प्रकार का है। तथा भुजाकार, अल्पतर तथा अवस्थित रूप भेद से भी तीन प्रकार का कहा जाता है तथा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश भेद से चार प्रकार का है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के निमित्त के भेद से पांच प्रकार का है। छह जीव निकाय के भेद से छह प्रकार का है। मोह, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ - ये सात कारण हैं, इनकी अपेक्षा सात प्रकार का है। ज्ञानावरणी आदि के भेद से आठ प्रकार का है। इस तरह शब्द अपेक्षा तो संख्यात भेद हैं तथा अध्यवसाय स्थानों के भेद से असंख्यात भेद हैं। पुद्गल परिणाम रूप स्कंध के भेद से अनन्त भेद हैं। अथवा ज्ञानावरण आदि के अनुभव के अविभाग प्रतिच्छेदों की अपेक्षा अनन्त भेद हैं।

अब इनका अनुक्रम कहने का प्रयोजन बताते हैं। ज्ञान है वह तो आत्मा के अधिगम (जानने) के लिये निमित्त है, अत: प्रधान है, इसलिये सबसे पहले ज्ञानावरण को कहा। इसके बाद दर्शनावरण को कहा। यह दर्शन अनाकार उपयोग स्वरूप है; अत: युक्त है (क्योंकि यह साकारोपयोगरूप ज्ञान से अप्रकृष्ट है, पर वेदनीय आदि से प्रकृष्ट है)। इसके बाद वेदनीय कहा क्योंकि ज्ञानदर्शन सुख दु:ख के वेदन से अव्यभिचारी है, (विपक्षी घट आदि में वेदन नहीं पाया जाता)। ज्ञानदर्शन और सुख दु:ख वेदन का विरोधी होने से इसके बाद मोहनीय को कहा; क्योंकि मोही होकर सुख दु:ख हिताहित का विचार नहीं करता है। इसके बाद आयु कर्म कहा क्योंकि सुख दु:ख आदि भव के आश्रय हैं, भव के लिये आयु निमित्त है अत: युक्त है। इसके बाद नामकर्म कहा क्योंकि नामकर्म आयु के उदय के आश्रय है। गति आदि के उदय में गोत्र कार्यकारी होता है। इसके बाद अन्तराय कहा क्योंकि प्रयोजन कहने के बाद बचे उसे अन्त में ही कहा जावे। इस तरह इनके क्रम का प्रयोजन जानना।

आगे पूछते हैं - कर्मबंध प्रकृति के भेद तो आठ प्रकार बताये, अब उत्तर प्रकृतिबंध बतावे। ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं -

।। पंचनवद्वयष्टाविंशति चतुर्द्विचत्वारिंशद द्विपंचभेदा यथाक्रमम् ।। ८-५ ।।

अर्थ : मूल प्रकृतियाँ आठ बताई, इनके यथाक्रम पांच, नव, दो, अठाईस, चार, बयालीस, दो और पांच भेद हैं।

यहाँ **तर्क :** सूत्र में द्वितीय का ग्रहण करना था; क्योंकि उत्तर प्रकृतिबंध दूसरा है।

आचार्य कहते हैं - पारिशेष्यन्याय से दूसरे का ग्रहण सिद्ध होता है। दो भेदों में एक का नाम कहा जावे तब दूसरा बिना नाम कहे ही जान लिया जाता है; अत: सूत्र में द्वितीय का ग्रहण नहीं करना था। आदि का (पहला) मूल प्रकृतिबंध आठ भेद वाला कहा है, अत: अवशेष उत्तर प्रकृतिबंध का ही विधान है, ऐसा जान लेना तथा सूत्र में भेद शब्द है, उसे पांच आदि संख्या के साथ जोड़ना

चाहिये। इस प्रकार पांच भेद ज्ञानावरण के, नवभेद दर्शनावरण के, दो भेद वेदनीय के, अट्ठाईस भेद मोहनीय के, चार भेद आयु के, बयालीस भेद नाम के, दो भेद गोत्र के और पांच भेद अन्तराय के है – ऐसा समझना।

आगे पूछते हैं – आपने ज्ञानावरण कर्म के पांच भेद बतायें, वे कौनसे हैं, यह बतावें ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। मतिश्रुतावधिमन:पर्ययकेवलानाम् ।। ८–६ ।।

अर्थ : मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय, केवल – ये पांच प्रकार के ज्ञान हैं, इनका आवरण करने वाले पांच भेद ज्ञानावरण के हैं। मति आदि ज्ञान तो पहले बताये, वे ही हैं। इनके आवरण करने से आवरण में भेद होते हैं। इस तरह ज्ञानावरणकर्म की पांच उत्तर प्रकृतियां हैं।

यहाँ **तर्क :** अभव्य जीव को मन:पर्यय ज्ञान, केवलज्ञान की शक्ति है या नहीं है ? यदि शक्ति है तो उसके अभव्यत्व का अभाव सिद्ध होगा और यदि शक्ति नहीं है तो उनके इन दोनों ज्ञान का आवरण कहना व्यर्थ होगा।

समाधान : यहाँ आदेश वचन (नय अपेक्षा) कथन होने से यह दोष नहीं है। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा तो अभव्य में भी मन:पर्ययज्ञान, केवलज्ञान की शक्ति संभव है तथा पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा उस शक्ति का अभाव कहा जाता है।

वह **पुन: पूछता है** – ऐसा कहने से तो भव्य और अभव्य का भेद कहना संभव नहीं होगा; क्योंकि दोनों में उनकी शक्ति का सद्भाव कहा है।

उससे कहते हैं – शक्ति के सद्भाव की अपेक्षा तो भव्य अभव्य का भेद नहीं ही है। व्यक्त होने के सद्भाव असद्भाव की अपेक्षा यह भेद है। जिसको सम्यग्दर्शन आदि की व्यक्ति होगी, उसे भव्य कहते हैं और जिसको व्यक्ति नहीं होगी वह अभव्य है जैसे स्वर्णपाषाण को अंधपाषाण कहना, जिसमें से सुवर्ण निकलेगा वह तो सुवर्णपाषाण है, जिसमें से सुवर्ण (होते हुये भी) निकाला नहीं जा सकेगा, उसे अंधपाषाण कहा जाता है, इस प्रकार जानना।

यहाँ **कोई कहता है** – मति आदि ज्ञान के आवरण कहा है –ये ज्ञान सद्रूप है या असद्रूप हैं ? यदि सद्रूप है तो विद्यमान है आवरण कैसा ? और यदि असद्रूप है तो विद्यमान ही नहीं है, तब आवरण किसके कहा जावेगा ? इस तरह दोनों ही पक्षों में आवरण कहना बनता नहीं।

समाधान : यहाँ भी आदेश वचन (नय अपेक्षा कथन) जानना। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा तो सत् के आवरण कहा जाता है, जैसे सद्रूप आकाश के मेघपटल का आवरण देखा जाता है, उस प्रकार जानना तथा पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा असत् के भी आवरण कहा जाता है, क्योंकि उत्पत्ति को रोकने

वाले को भी आवरण शब्द से कहा जाता है। यदि एकान्त से सत् के और असत् के आवरण कहा जावेगा तो ज्ञान को क्षयोपशमिक होना नहीं बनेगा (नहीं कहा जा सकेगा)। तथा ज्ञान कुछ भिन्न पदार्थ तो है नहीं, आत्मा के ही गुण पर्यायस्वरूप है; अत: जब आवरण हो तब उस पर्याय की व्यक्ति नहीं हो पाती है और जब आवरण न हो (का अभाव हो) तब ज्ञान व्यक्त प्रगट होता है। जैसे प्रत्याख्यान संयम भाव अलग कोई पदार्थ नहीं है, आत्मा में ही शक्ति रूप है। जब तक प्रत्याख्यानावरण कर्म का सद्भाव होता है, तब तब तो प्रत्याख्यान प्रगट नहीं होता और जब इसके आवरण का अभाव हो तब आत्मा के प्रत्याख्यानपर्याय की व्यक्तता होती है, इसी प्रकार यहाँ भी जानना। ऐसा यह ज्ञानावरण कर्म है। इसके उदय में आत्मा में जानने की सामर्थ्यहीन होती है, तब स्मरण नहीं होता, धर्मश्रवण नहीं होता, अज्ञान के वश अनेक दु:खों को भोगते हैं।

आगे पूछते हैं ज्ञानावरण कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ तो बताई, अब दर्शनावरण कर्म की प्रकृति के उत्तर भेद बतावें ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च ।।८–७।।

अर्थ : चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल – इन चार दर्शनों के आवरणरूप चार प्रकृतियाँ और निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि – इन पांच निद्राओं सहित दर्शनावरण कर्म की (४ + ५ = ९) नव उत्तर प्रकृतियाँ हैं। चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल इनके आवरण की अपेक्षा करके चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण तथा मद, खेद, ग्लानि आदि को दूर करने के लिये सो जाना निद्रा है तथा उस निद्रा का अधिक–अधिक फिर–फिर आना निद्रानिद्रा है तथा आत्मा को सोते में भी चलायमान करे, शोक, खेद आदि से उत्पन्न बैठे हुये के भी नेत्र, शरीर में विकार उत्पन्न हो वह प्रचला है। तथा वह ही पुन: पुन: प्रवर्ते, वह प्रचलाप्रचला है तथा जिसमें सोते हुये भी पराक्रम, सामर्थ्य बहुत प्रकार हो, सोता हुआ ही उठकर कुछ कार्य कर आवे फिर सो जावे, पर यह न जाने कि मैंने कुछ किया था, वह स्त्यानगृद्धि है। स्त्यायति धातु के अनेक अर्थ होते हैं, उन अर्थों में से यहाँ सोना अर्थ ग्रहण किया है तथा गृद्धि धातु का भी यहाँ दीप्ति अर्थग्रहण किया है। इस प्रकार सोते हुये भी जो आत्मा पराक्रम से दीप्त हो ऐसा अर्थ हुआ। जिसके उदय में आत्मा बहुत रौद्रकर्म कर डाले वह स्त्यानगृद्धि है। यहाँ निद्रा आदि से दर्शनावरण कर्म समानाधिकरण से (अधिकरण एकसा होने से) सम्बन्ध कर लेना; क्योंकि इनका आधार भी दर्शनावरण ही है। अत: निद्रादर्शनावरण, निद्रानिद्रादर्शनावरण इत्यादि समझना।

यहाँ **कोई पूछता है–** निद्रा तो पाप प्रकृति है और सोने से तो प्राणियों को सुख का अनुभव होता है, वह कैसे है ?

समाधान : निद्रा का आना तो पाप का ही उदय है; क्योंकि आत्मा के स्वभाव जो दर्शन, ज्ञान, वीर्य है, उनका घात होता है तथा सोने से खेद, ग्लानि आदि मिटते भी हैं, वह इसके संग सातावेदनीय का उदय है तथा असाता का उदय मंद होता है, उसकी यह निद्रा सहकारी मात्र है। अत: यह प्राणी सुख भी मानता है। परमार्थ से तो कुछ सुख होता नहीं तथा दर्शनावरण के उदय में चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण के उदय से तो नेत्र आदि इन्द्रियों से अवलोकन नहीं होता है। एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय हो तब तो इन्द्रियां ही कम होती है तथा जिसके नेत्र हो उसके नेत्र बिगड़ जाते हैं। अवधि और केवल दर्शनावरणों के उदय से तो दोनों दर्शन प्रगट ही नहीं होते तथा निद्रा के उदय में अंधकार अवस्था है। निद्रानिद्रा के उदय में महाअंधकार है। प्रचला के उदय में बैठा-बैठा ही घूमता है, नेत्र चलते है, गात्र चलते है, देखते हुये भी नहीं देखता। प्रचलाप्रचला के उदय में अत्यंत घूमे, ऊँघे, शरीर में सुई आदि चुभाई जावे तो भी नहीं जागे। तथा स्त्यानगृद्धि का स्वरूप ऊपर कहा ही है।

आगे तीसरी मूल प्रकृति वेदनीय को उत्तर प्रकृति के भेद बताने के लिये सूत्र कहते हैं -

।। सदसद्वेद्ये ।। ८-८ ।।

अर्थ : वेदनीय कर्म की साता और असाता ये दो उत्तर प्रकृतियाँ है। जिसके उदय में देव आदि गतियों में शरीर संबंधी और मन संबंधी सुख की प्राप्ति होती है, वह साता वेदनीय है। सत् अर्थात् प्रशस्त सराहने योग्य वेदन जहाँ हो, वह सद्वेद्य कहा जाता है तथा जिसके उदय में (फल में) नरक आदि गतियों में अनेक प्रकार के दु:ख होते हैं, वह असातावेदनीय है। असत् अर्थात् अप्रशस्त वेदन हो वह असद्वेद्य है।

आगे चौथे मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियों के भेद कहने के लिये सूत्र कहते हैं -

।।दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदा: सम्यक्त्वमिथ्यात्व-तदुभयान्यकषायकषायौहास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सा स्त्रीपुंनपुंसकवेदा अनन्तानुबन्ध्य-प्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनविकल्पाश्चैकश: क्रोधमानमायालोभा: ।। ८-९ ।।

अर्थ : दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय, अकषायवेदनीय, कषायवेदनीय - इन चार की यथाक्रम तीन, दो, नव, सोलह संख्या है। दर्शनमोहनीय के तीन भेद सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और मिश्र है। बंध की अपेक्षा तो एक मिथ्यात्व ही भेद है, पर सत्ता की अपेक्षा तीन प्रकार होता है। जिसके उदय में सर्वज्ञ भाषित स्वर्ग मोक्षमार्ग से पराङ्मुख होकर तत्त्वार्थ के श्रद्धान में उत्साहरहित होकर अपना हित अहित जानने में असमर्थ हो जावे, ऐसा मिथ्यादृष्टि हो उसका इसप्रकार का भाव मिथ्यात्व है। और इसी मिथ्यात्व के भेद को सम्यक्त्व प्रकृति संज्ञा दी गई है, शुभपरिणामों की विशुद्धता से जिसका विपाक रसहीन हो गया हो, उदासीन की तरह अवस्थित होता हुआ आत्मा के श्रद्धान को रोक नहीं

सके, उसके उदय को वेदता हुआ पुरुष सम्यग्दृष्टि ही कहा जाता है, वह **सम्यग्प्रकृति** है तथा वही मिथ्यात्व अपने कुछ शुद्ध और कुछ अशुद्ध रस वाला हो, जैसे अमल (कोदूं) को जल से धोते-धोते उसकी मदशक्ति कुछ मिट गयी हो कुछ रह गयी हो, ऐसा हो उसे **मिश्र** कहते हैं, इसे सम्यग्मिथ्यात्व भी कहते हैं। इसके उदय में आत्मा का श्रद्धान नामक परिणाम मिथ्यात्व और सम्यक्त्व दोनों से मिला हुआ मिश्ररूप होता है, जैसे नशीले कोंदे धोने से आधे शुद्ध हुये हो, उनको कोई भात में पकाकर खावे, तब उसके निमित्त से कुछ नशीले, कुछ चेतन ऐसे मिश्र परिणाम होते हैं, वैसे जानना।

तथा चारित्र मोहनीय के दो भेद - अकषायवेदनीय व कषायवेदनीय है। यहाँ ईषत् अर्थात् किंचित कषाय को अकषाय (अल्पकषाय) कहा है। यहाँ अ को निषेधवाचक न समझकर अल्पवाचक अर्थ में समझना। इसके नव भेद हास्य आदि हैं। जिसके उदय में हास्य प्रकट हो, उसे हास्य कहते हैं। जिसके उदय में किसी वस्तु में कुछ आसक्ति होना रति है। रति से विपरीत कुछ न सुहाना अरति है तथा जिसके उदय में इष्ट के वियोग से खेदरूप परिणाम होकर सोच करना रूदन करना शोक है तथा जिसके उदय में दु:खकारी पदार्थ को देखकर उद्वेग करना, डरना, भागना हो वह भय है तथा जिसके उदय में अपने दोष को छुपाना, पर का दोष देखकर परिणाम मलिन होना जुगुप्सा है तथा जिसके उदय में स्त्री संबंधी भाव प्राप्त हो, वह स्त्रीवेद है। जिसके उदय में पुरुष संबंधी भाव प्राप्त हों, वह पुरुषवेद है। जिसके उदय में नपुंसक संबंधी भाव प्राप्त हो, वह नपुंसकवेद है।

कषायवेदनीय के सोलह भेद हैं। अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ - ये चार, अप्रत्याख्यानावरणी क्रोध, मान, माया, लोभ - ये चार, प्रत्याख्यानावरणी क्रोध, मान, माया, लोभ - ये चार, संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ - ये चार - इस तरह सोलह हुये।

मिथ्यात्व को अनंत कहते हैं; क्योंकि मिथ्यात्व अनंत संसार का कारण है। इस मिथ्यात्व का अनुसरण करने वाली साथ लगी, इससे अनुराग करने वाली हो, वह अनन्तानुबंधी है। इसके उदय में सर्वथा एकान्तरूप झूठे तत्त्व में तो अनुराग प्रीति होती है, अनेकान्तरूप सच्चे तत्त्वार्थ से द्वेष होता है। झूठ को सच्चा मानकर उसका पक्ष करना, उसमें सत्यार्थ का अभिमान करना और हमारा मानना ही सत्यार्थ है - ऐसी चेष्टा होती है तथा उसके उदय में एकदेश त्यागरूप श्रावक के व्रत किंचितमात्र भी ग्रहण न कर सके, उस देश ईषत्प्रत्याख्यानावरण को अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं। जिसके उदय में सकल संयम को प्राप्त न कर सके, सकलप्रत्याख्यान का आचरण न हो सके, वह प्रत्याख्यानावरण है तथा संयम के साथ एक होकर दैदीप्यमान रहे तथा जिसके होते हुये भी संयम दैदीप्यमान रहे, वह संज्वलन है।

यहाँ वेदों के भाव का विशेष कथन इस प्रकार है - स्त्री से रमने आदि विकारी भाव हो वह तो

पुरुषवेद का भाव है तथा नपुंसकवेद में स्त्रीपुरुष दोनों से रमने आदि विकारी भाव होते हैं। तथा स्त्रीवेद के भाव का विशेष ऐसा है - लज्जा करके नम्रीभूतपना होना, मन की ग्लानि का प्रकट न दिखना, काम का अभिप्राय रहना, नेत्रों का विभ्रम होना, आलिंगन में सुख मानना, पुरुष से रमने की इच्छा रहना इत्यादि है। तथा ऐसे विशेष भाव कदाचित् पुरुष को भी हो, तब उसके भी स्त्रीवेद का ही उदय कहा जाता है तथा नपुंसक को भी ऐसे भाव कदाचित् हो, तब स्त्रीवेद का उदय ही कहा जाता है। तथा स्त्री को भी कदाचित् पुरुष, नपुंसक के भावरूप वेद का उदय होता है। द्रव्य स्त्री, पुरुष, नपुंसक शरीर के आकार से होते हैं। ये आकार नामकर्म के उदय से होते हैं।

क्रोधादि परिणाम का विशेष कथन करते हैं - जिससे अपना और पर का घात हो, उपकार न माने, अहित ही करने वाले क्रूर परिणाम हो, उसे अमर्ष कहते हैं, इसे ही क्रोध कहते हैं।

भावार्थ यह है कि परद्रव्य परिणमे उसमें ऐसा भाव होना, यह इस प्रकार क्यों परिणमा ? - इस तरह रुष्टता क्रोध है। इसकी तीव्र मंद अपेक्षा चार अवस्थायें हैं। उनके चार दृष्टांत इस प्रकार हैं। **तीव्रतर** तो पाषाण की रेखा जैसा है, जो बहुत काल तक भी न मिटे। **तीव्र** है वह पृथ्वी की रेखा जैसा है, जो थोड़े से काल में मिट जाती है। **मंद** धूल की रेखा के समान है, जो अल्पकाल में ही मिट जाती है। **मंदतर** जल की रेखा के समान है, जो तत्काल मिट जाती है। इस तरह वासना से क्रोध में विशेष होते हैं।

तथा जाति आदि आठ मद मद के कारण हैं, जिनके अवलम्बन से अन्य के आगे नमने रूप परिणाम नहीं होते, वह मद है। इसके भी तीव्र मंद की अपेक्षा चार दृष्टांत हैं। **तीव्रतर** तो पाषाण के स्तंभ जैसा होता है, जिसके टुकड़े तो हो जावे पर नमें नहीं। **तीव्र** अस्थि जैसा होता है जो किसी कारण विशेष के होने पर कुछ काल बाद नम जाती है तथा **मंद** काष्ठ जैसा होता है, जो नमने का कारण मिलने पर अल्पकाल में ही नम जाता है तथा **मंदतर** बेल के तंतु के समान होता है, जो तत्काल नम जाता है। ये मान का विशेष है।

तथा माया का विशेष -अन्य को ठगने के लिये दूसरों से छुपाकर मन-वचन-काय की कुटिलता का विचार माया है। इसके भी तीव्र मंद अपेक्षा चार दृष्टांत हैं। तीव्रतर तो बांस के झुरमुट की जड़ जैसा होता है, जिसका अन्य को ज्ञान हो नहीं पाता (सकता) एवं अन्य ठगाया जावे तो बहुत काल तक प्रवर्ते, कहीं न मिटे। तीव्र है वह मैंढे के सींग जैसा होता है, जिसकी वक्रता थोड़ी है, थोड़े काल में मिट जाती है। तथा मंद गोमूत्रक के समान दो-चार मोड़े रूप वक्रता है तो अल्पकाल में मिट जाती है, तथा मंदतर खुरपे अथवा लिखने के कलम जैसी है, जिसकी वक्रता एक मोड़रूप है, तुरन्त मिट जाती है। यह माया का विशेष है।

तथा लोभ का विशेष - अपने उपकार को कर सकने वाले द्रव्य आदि वस्तुओं की वांछा का

अभिप्राय में रहना लोभ है। इसके भी तीव्र मंद अपेक्षा चार दृष्टांत हैं। तीव्रतर तो किरिमिजी रंग जैसा है, जिसका बहुत काल में भी मिटना नहीं होता, कठिन होता है। तीव्र है वह काजल के रंग जैसा है, जो थोड़े ही काल में मिट जाता है। मंद है वह कीचड़ लगे जैसा है, अल्पकाल में जिसका रंग उतर जाता है। मंदतर है वह हल्दी के रंग जैसा है, जो तुरन्त उड़ जाता है। यह लोभ का विशेष है।

इस प्रकार दर्शन मोह की तीन प्रकृतियाँ और चारित्र मोह की कषायरूप पच्चीस प्रकृतियाँ – इस प्रकार (मोहनीय कर्म की) अठाईस प्रकृतियाँ है।

आगे आयुकर्म की उत्तर प्रकृतियाँ बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ।। ८–१० ।।

अर्थ : नारक, तिर्यंचयोनि, मनुष्य, देव – ये आयुकर्म की चार प्रकृतियाँ हैं। नरक आदि में भव के सम्बन्ध से आयुकर्म नाम किया गया है। नरक में उत्पन्न होने के लिये जो कर्म कारण है, वह नरक आयु है। तिर्यंचयोनि में उत्पन्न होने के लिये जो कर्म कारण है, वह तैर्यग्योन है। मनुष्यरूप से उत्पन्न होने के लिये जो कर्म कारण है, वह मनुष्यायु है। तथा देव में उत्पन्न होने के लिये जो कर्म कारण है, वह देवायु है। भावार्थ यह है कि जिस पर्याय में यह जीव उत्पन्न हो उसमें जिन्दा रहना, मरना इस आयुकर्म के अधीन है। उस पर्याय संबंधी दु:ख तथा सुख आयुपर्यंत भोगता है।

इसके अनन्तर कहे नामकर्म की उत्तर प्रकृतियों को बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। गतिजातिशरीरांगोपांगनिर्माणबन्धनसंघातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगन्धवर्णानुपूर्व्यागुरु–लघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छवासविहायोगतय: प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्म–पर्याप्तिस्थिरादेययश:कीर्तिसेतराणि तीर्थकरत्वं च ।। ८–११ ।।

अर्थ : नामकर्म नामक मूल प्रकृति के गति आदि बयालीस भेद हैं। जिसके उदय से आत्मा अन्य पर्याय के लिये गमन करे वह **गति** है, जो चार प्रकार ही है – नरकगति, तिर्यग्गति, मनुष्यगति, देवगति। तथा उन गतियों में जिस अव्यभिचारी समानभाव से एकपनेरूप अर्थ की प्राप्ति होती है वह **जाति** है। यह पांच प्रकार की है – एकेन्द्रिय जातिनामकर्म, द्वीन्द्रियजातिनामकर्म, त्रीन्द्रियजातिनामकर्म, चतुरिन्द्रियजातिनामकर्म, पंचेन्द्रियजाति नामकर्म। तथा जिसके उदय से आत्मा को शरीर की रचना मिलती है, वह **शरीर नामकर्म** है, जो पांच प्रकार का है – औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्मण। तथा जिसके उदय से अंग–उपांग उत्पन्न होते हैं, वह **अंगोपांग नामकर्म** है जो तीन प्रकार है – औदारिक, वैक्रियक, आहारक अंगोपांग नामकर्म। तथा जिसके उदय से नेत्र आदि की यथास्थान तथा यथाप्रमाण निष्पत्ति होती है, वह **निर्माणनामकर्म** है। इसके दो भेद हैं – स्थान निर्माण, प्रमाण निर्माण। तथा शरीर नामकर्म के उदय के वश जो पुद्गल के स्कंधों का परस्पर प्रदेशों

का अनुप्रवेश होकर बंधन होना **बंधननामकर्म** है, जो शरीर के नाम से ही जिनके नाम है, ऐसे पांच प्रकार हैं।

तथा जिसके उदय से औदारिक आदि शरीरों के परमाणु परस्पर अनुप्रवेश होकर एकरूप होकर छिद्ररहित हो मिलते है, वह **संघात नामकर्म** है, वह भी शरीरों के नाम से ही पांच प्रकार है तथा जिसके उदय से औदारिक आदि शरीरों के आकार उत्पन्न होते हैं, वह **संस्थान नामकर्म** है। वह छह प्रकार का है – समचतुरस्रसंस्थान, न्यग्रोधपरिमंडल संस्थान, स्वातिसंस्थान, कुब्जक संस्थान, वामन संस्थान, हुंडक संस्थान। जिसमें ऊपर नीचे बराबर समानभागरूप शरीर के अवयव हों – जैसे प्रवीण कारीगर के बनाये सर्व अवयव यथास्थान सुन्दर हों, वैसे समचतुरस्रसंस्थान है तथा जिस शरीर के अवयव ऊपर के तो बड़े हों और नीचे छोटे हों, जैसे बड़वृक्ष वह न्यग्रोधपरिमंडल है तथा इससे उल्टा ऊपर से छोटा हो नीचे बड़ा हो, वह स्वाति है – जैसे बांबी होती है, वैसा आकार हो। जिसमें पीठ पर बड़ा (बहुत पुद्गलों का पिंड हो जाना अर्थात् कुबड़ा) होना कुब्जक संस्थान है तथा जिसमें सभी अंग छोटे हों, वह वामन है। जिसमें सभी अंग उपांग रुंड मुंड (बेतरतीब) हों, वह हुंडक संस्थान है।

तथा जिसके उदय से हड्डियों के बंधन का विशेष हो, वह संहनन नामकर्म है। वह छह प्रकार का है उसमें जिसके उदय में अस्ति अर्थात् हड्डियों के बीच संधियाँ वज्रमय हैं और वज्रमय नसों के बंधनवलय से बंधी हो वह वज्रवृषभनाराच संहनन है। जिसमें हड्डियों की संधियाँ वज्रमय हो तथा बड़े कीले हो, पर वज्रमयवलयबंधन न हो वह वज्रनाराच संहनन है तथा जिसमें हड्डियों की संधियों में कीले तो हों, पर वज्रमय न हो और वज्रमयी वलयबंधन भी न हों, वह नाराच संहनन है तथा जिसमें हड्डियों की संधियों में कीले एक ही तरफ हो दूसरी ओर न हो, वह अर्द्धनाराच संहनन है। हड्डियों की संधियाँ छोटी कीलों सहित हो, वह कीलक संहनन है तथा जिसमें हड्डियों की संधियों में अन्तर हो पर चारों तरफ बड़ी छोटी नसें लिपटी हो एवं मांस से भरा हो वह असंप्राप्तसृपाटिका संहनन है।

तथा जिसके उदय में स्पर्श प्राप्त होता है, वह **स्पर्श नामकर्म** है। यह आठ प्रकार का है – कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, स्निग्ध, रूक्ष, शीत, ऊष्ण तथा जिसके उदय से रस प्राप्त हो, वह **रसनामकर्म** है, यह पांच प्रकार का है – तिक्त (चरपरा), कटुक (कडुआ), कषाय (कसैला), अम्ल (खट्टा), मधुर (मीठा)। तथा जिसके उदय में गंध प्राप्त हो, वह **गंध नामकर्म** है, यह दो प्रकार का है – सुरभि (सुगंध), असुरभि (दुर्गन्ध)। तथा जिसके उदय में वर्ण (रंग) प्राप्त हो, वह वर्णनामकर्म है, इसके पांच भेद है –कृष्ण (काला), नीला, रक्त (लाल), पीत (पीला), शुक्ल (सफेद)।

तथा जिसके उदय में पहले शरीर का आकार बना रहे, नये शरीर की वर्गणा का ग्रहण न हो, वह **आनुपूर्व्यनामकर्म** है। इसका उदय उत्कृष्टरूप से तीन समय के लिये विग्रहगति में ही रहता है। यह

चार प्रकार है - नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्वी, मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, देवगतिप्रायोग्यानुपूर्वी।

तथा जिसके उदय में तथा जिसके उदय में लोहे के पिण्ड की तरह भारी होकर नीचे गिर पड़े नहीं अथवा आक के फफूंद के तरह हल्का होकर ऊपर उड़ नहीं सके, वह **अगुरुलघुनामकर्म** है (न भारी, न हल्का)। इस कर्मप्रकृति को शरीर संबंधी जानना। द्रव्य को जो स्वाभाविक अगुरुलघु नामक गुण है, इसे वह न समझना।

तथा जिसके उदय में अपना घात स्वयं से ही हो वह **उपघातनामकर्म** है तथा जिसके उदय में अपना घात अन्य के द्वारा हो, वह परघात नामकर्म है।

जिसके उदय में आतापमय शरीर प्राप्त हो, वह **आताप नामकर्म** है। यह सूर्य विमान में पृथ्वीकायिक जीवों में होता है।

तथा जिसके उदय में शरीर में उद्योत हो, वह **उद्योत नामकर्म** है। यह चन्द्रमा के विमान के, पृथ्विकायिक ज़ीवों के तथा जुगनु आदि जीवों के उदयरूप होता है।

तथा जिसके उदय में उच्छवास आता है, वह **उच्छवास नामकर्म** है।

जिसके उदय में आकाश में गमन का विशेष हो, वह **विहायोगति नामकर्म** है। विहाय का अर्थ आकाश है। यह दो प्रकार का है -प्रशस्त, अप्रशस्त - इन्हें शुभचाल और अशुभ चाल भी कहते हैं। इसे जीव के कर्म के उदयवश एक आत्मा द्वारा भोगी जाने वाली भली बुरी चाल जानना। क्रियावान द्रव्य के द्वारा स्वभाव से ही गमन होता है, उसे यहाँ ग्रहण नहीं करना।

जिसके उदय में एक आत्मा के द्वारा एक शरीर भोगा जावे, ऐसा शरीर प्राप्त हो, वह **प्रत्येक नामकर्म** है तथा जिसके उदय में बहुत जीवों को भोगने के लिये केवल एक ही शरीर हो, वह **साधारण नामकर्म** है।

जिसके उदय में द्वीन्द्रिय आदि जीव के रूप में जन्म हो, वह त्रस नामकर्म है और जिसके उदय में एकेन्द्रिय में जन्म हो, वह **स्थावर नामकर्म** है।

जिसके उदय में अन्य को प्रिय लगे, वह **सुभग नामकर्म** है तथा जिसके उदय में रूप आदि सुन्दर होने पर भी अन्य को प्रीति न उपजे, वह **दुर्भगनामकर्म** है।

जिसके उदय में स्वर मनोज्ञ हो, वह **सुस्वर नामकर्म** है, इसके विपरीत बुरा स्वर हो, वह **दुःस्वर नामकर्म** है।

जिसके उदय में शरीर रमणीक सुन्दर हो, वह **शुभ नामकर्म** है और इसके विपरीत असुन्दर शरीर हो, वह **अशुभ नामकर्म** है।

जिसके उदय में सूक्ष्म शरीर प्राप्त हो, वह **सूक्ष्म नामकर्म** है तथा जिसके उदय में अन्य को बाधा करे, रोके (अथवा अन्य के द्वारा रोका जा सके) ऐसा शरीर प्राप्त हो, वह **बादर नामकर्म** है।

तथा जिसके उदय में आहार आदि पर्याप्तियाँ पूर्ण हो सके, कर सके वह **पर्याप्ति नामकर्म** है। ये पर्याप्तियाँ छह प्रकार की हैं - आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छवास, भाषा, मन। तथा जिसके उदय में छहों पर्याप्तियां पूर्ण न करे, वह **अपर्याप्तिनामकर्म** है।

जिसके उदय में शरीर के अंगोपांग दृढ हो, वह **स्थिर नामकर्म** है। इसके विपरीत अस्थिर नामकर्म है।

जिसके उदय में शरीर प्रभासहित हो, अन्य सहारी न सके वह **आदेय नामकर्म** है। प्रभारहित हो वह अनादेय नामकर्म है।

जिसके उदय में पवित्र गुण लोक में प्रकट हों, वह **यश:कीर्ति नामकर्म** है। जिसके उदय होने पर गुण तो प्रकट न हो सकें और अवगुण प्रकट हों, वह **अपयशकीर्ति नामकर्म** है।

जिसके उदय में अचिंत्य विभूति विशेष सहित अरिहंत पद प्राप्त हो, वह **तीर्थङ्कर नामकर्म** है।

यहाँ **कोई कहता है** – गणधर, चक्रवर्ती आदि भी बड़ी विभूति प्राप्त करते हैं, उनकी प्रकृतियों को क्यों नहीं कहा?

उससे कहते हैं – वे उच्चगौत्र आदि के उदय में होते हैं, अत: अलग से नहीं कही तथा तीर्थङ्कर होते हैं वे मोक्षमार्ग का प्रवर्तन करते हैं, यह फल चक्रवर्ती आदि के नहीं होता।

ऊपर कही उनमें चौदह प्रकृतियाँ तो पिंडरूप हैं, जिनके पैंसठ भेद हैं। गति के चार, जाति के पांच, शरीर के पांच, अंगोपांग के तीन, निर्माण के दो, बंधन के पांच, संघात के पांच, संस्थान के छह, संहनन के छह, स्पर्श के आठ, रस के पांच, गंध के दो, वर्ण के पांच, आनुपूर्वी के चार, विहायोगति के दो - इस तरह पैंसठ है। तथा प्रत्येक शरीर आदि दश प्रकृतियाँ प्रतिपक्ष सहित है, अत: बीस हुई। एवं आठ प्रकृतियाँ अगुरुलघु आदि हैं। इस तरह अठाईस प्रकृतियाँ अपिंडरूप हैं – इस तरह सब मिलाकर तिरानवे प्रकृतियाँ हैं। सूत्र में इकतीस प्रकृतियों की तो अलग विभक्ति की है, वे प्रतिपक्षी जानना। दश को सेतर पद देकर अलग विभक्ति की वे सप्रतिपक्षी है, तीर्थङ्कर की विभक्ति अलग से की है वह उसकी प्रधानता बताने के लिये की है।

नामकर्म की उत्तर प्रकृतियों के भेद बताये, अब आगे गोत्र कर्म की प्रकृतियों के भेद बताते हैं -

।। उच्चैर्नीचैश्च ।। ८-१२ ।।

अर्थ : उच्चगोत्र, नीचगोत्र - ये गोत्रकर्म की दो प्रकृतियाँ हैं। गोत्र कर्म दो प्रकार का है - उच्चगोत्र, नीचगोत्र। जिसके उदय में लोक पूजित कुल में जन्म हो, वह उच्चगोत्र है तथा इसके

विपरीत निंद्यकुल में जन्म का कारण हो, वह नीच गोत्र है।

आगे आठवें अन्तराय कर्म की उत्तर प्रकृतियों को बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ।। ८–१३ ।।

अर्थ : दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य – इन पांच में विघ्न करने वाली अन्तराय कर्म की पांच प्रकृतियाँ हैं। यहाँ अन्तराय उत्पन्न करने की अपेक्षा भेद किये हैं, दान का अन्तराय, लाभ का अन्तराय आदि। जिसके उदय में देने की इच्छा करे, पर दिया न जावे वह दानान्तराय है। लेने की इच्छा हो पर प्राप्ति न हो वह लाभान्तराय है। भोगने की इच्छा हो पर भोग नहीं पावे वह भोगान्तराय है। उपभोग करने की इच्छा हो, पर उपभोग नहीं कर पावे वह उपभोगान्तराय है। किसी कार्य का उत्साह करे, पर उत्साह योग्य सामर्थ्य न हो, वह वीर्यान्तराय है। ये अन्तराय कर्म की पांच प्रकृतियाँ है।

इस प्रकार प्रकृतिबंध के भेद कहे, अब स्थितिबंध के भेदों का कथन करना है, जो दो प्रकार का है– उत्कृष्ट, जघन्य। जिन प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति समान है, उनके निर्देश के लिये सूत्र कहते हैं –

।। आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः ।। ८–१४ ।।

अर्थ : शुरू में कहे गये ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, वेदनीय – ये तीन तथा अन्तराय – इन चारों कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागर तक की बंध सकती है। यहाँ आदितः शब्द तो मध्य में कहे गये एवं अन्त में कहे गये कर्मों को न ग्रहण करने के लिये कहा है तथा अन्तराय कर्म को तो अलग से कहा ही है। सागरोपम का स्वरूप पहले बताया ही था। कोड़ाकोड़ी कोटाकोटी (अर्थात् एक करोड़ गुणा एक करोड़) को कहते हैं। तथा परा शब्द उत्कृष्ट बताने के लिये ग्रहण किया है। इस प्रकार अर्थ यह हुआ कि ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, वेदनीय, अन्तराय – इन चारों कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागर की है।

यह (इतनी) स्थिति मिथ्यादृष्टि संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव को ही बंधती है, अन्य जीवों को कितनी स्थिति बंधती है, वह आगम से जानना। एकेन्द्रिय पर्याप्त जीव के एक सागर के सात भागों में से तीन भाग, द्वीन्द्रिय पर्याप्त के पच्चीस सागर के सात भागों में से तीन भाग, त्रिन्द्रिय पर्याप्त के पचास सागर के सात भागों में से तीन भाग, चतुरिन्द्रिय पर्याप्त के एक सौ सागर के सात भागों में से तीन भाग, असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त के एक हजार सागर के सात भागों में से तीन भाग तथा अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय के अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर की (उत्कृष्ट स्थिति) जानना। तथा एकेन्द्रिय आदि (अपर्याप्तकों) के ऊपर कहे गये भागों में से पल्य का असंख्यातवां भाग हीन जानना। बंधने के प्रथम समय से लेकर जितने काल तक अवस्थान (उसका फल मिलता) रहे, उसे स्थिति जानना।

आगे मोहनीयकर्म की उत्कृष्ट स्थिति बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। सप्ततिर्मोहनीयस्य ।।८-१५।।

अर्थ : मोहनीयकर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर ही है। यहाँ कोड़ाकोड़ी सागर उत्कृष्ट की अनुवृत्ति करना। यह उत्कृष्ट स्थिति भी संज्ञीपंचेन्द्रिय पर्याप्त मिथ्यादृष्टि को ही बंधती है। अन्य को कितनी स्थिति बंधती है, वह आगम से जानना।

आगे नाम और गोत्रकर्म की उत्कृष्ट स्थिति बताने के लिये सूत्र कहते हैं-

।। विंशतिर्नामगोत्रयो: ।।८-१६।।

अर्थ : नामकर्म और गोत्रकर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागर है। यहाँ भी उत्कृष्ट कोड़ाकोड़ी सागरोपम की अनुवृत्ति करना। यह उत्कृष्ट स्थिति भी संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त मिथ्यादृष्टि को ही बंधती है। अन्य को कितनी स्थिति बंधती है, वह आगम से जानना।

आगे आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति बताने के लिये सूत्र कहते हैं -

।। त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुष: ।।८-१७।।

अर्थ : आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागर है। यहाँ उत्कृष्ट की ही अनुवृत्ति ग्रहण करना। यह स्थिति भी संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त को ही बंधती है। (यहाँ ध्यान दें - अन्य सात कर्मों की उत्कृष्ट स्थितियाँ तो संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त मिथ्यादृष्टि को ही बंधती है, पर आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनों को बंध सकती है)। अन्य जीवों की आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति आगम से जानना।

आगे कर्मों की उत्कृष्ट स्थितियाँ तो बता दी, अब जघन्य स्थितियों का कथन करना है, उनमें से पांच कर्मों की जघन्य स्थिति तो समान है, जिसे अलग से कहेंगे, शेष तीन कर्मों की जघन्य स्थिति में विशेष है, उसे पहले बताने के लिये दो सूत्र कहते हैं -

।। अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य ।।८-१८।।

अर्थ : वेदनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बारह मुहूर्त है। यहाँ अपरा कहा है (अपरा अर्थात् पर - उत्कृष्ट से विपरीत) अत: जघन्य स्थिति समझना।

।। नामगोत्रयोरष्टौ ।।८-१९ ।।

अर्थ : नामकर्म और गोत्रकर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त है। यहाँ अपरा स्थिति अन्तर्मुहूर्त शब्दों की अनुवृत्ति ग्रहण करना।

अब आगे जो ५ कर्म शेष हैं, उनकी जघन्य स्थिति बताने के लिये सूत्र कहते हैं -

।। शेषाणामन्तर्मुहूर्ता ।।८-२०।।

अर्थ : शेष अर्थात् बाकी बचे पांच कर्म ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, अन्तराय, मोहनीय और

आयु की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। इनमें से ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, अन्तराय – इन तीन कर्मों की जघन्य स्थिति तो सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान वाले को बंधती है और मोहनीयकर्म की जघन्य स्थिति अनुवृत्ति बादर सांपराय अर्थात् नवमें गुणस्थान वाले को बंधती है। आयु कर्म की जघन्य स्थिति संख्यातवर्ष की जिनकी आयु हो – ऐसे कर्मभूमि के मनुष्य तिर्यंचों को बंधती है।

आगे पूछते हैं, ज्ञानावरण आदि कर्मों की दोनों प्रकार की स्थितियाँ बताई, अब इनके अनुभव का लक्षण क्या है, वह बतावें ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। विपाकोऽनुभवः ।। ८–२१ ।।

अर्थ : कर्मप्रकृति का पककर उदय में आना, उसके रस (फल) का अनुभव होना अनुभव है। यहाँ विपाक शब्द के दो अर्थ हैं – एक तो विशिष्ट प्रकार का पाक वह विपाक कहा जाता है और दूसरे नाना पाक हो, उसे विपाक कहा जाता है। पहले कहे हुये तीव्र मंद कषायरूप भावास्रव के विशेष से उन कर्मों के पाक में रस विशेष होता है, वह तो विशिष्ट विपाक है और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के निमित्त के भेद से कर्म के पाक में नाना प्रकार होना विपाक है। इनमें शुभ परिणामों के प्रकर्ष से शुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभव बंधता है तथा अशुभ प्रकृतियों का हीन अनुभव बंधता है। तथा अशुभ परिणामों का प्रकर्ष होने पर अशुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभव बंधता है तथा शुभ प्रकृतियों का हीन अनुभव बंधता है। ऐसे कारण के वश प्राप्त हुआ अनुभव दो प्रकार से वर्तता है – स्वमुख से, परमुख से।

मूल जो आठ कर्म प्रकृतियाँ हैं – उनका अनुभव स्वमुख से ही प्रवर्तता है। अपने अपने बंध के अनुसार उदय आता है। अन्यकर्म का अन्य कर्मरूप होकर उदय आता नहीं है तथा उत्तर प्रकृतियों में तुल्य जातिकर्म हो, उनका परमुख से भी अनुभव होता है (एक ही मूलकर्म की उत्तर प्रकृतियाँ – एक प्रकृति दूसरी प्रकृतिरूप होकर भी अनुभव में आती है)। इनमें भी आयुकर्म के भेद तो परमुख से (एक भेद दूसरे भेद में बदल कर) उदय में आते नहीं है, जो आयु बंधे उसका ही उदय होता है। दर्शनमोह और चारित्रमोह में भी परस्पर पलटना होता नहीं है। जो बंधे वही उदय में आता है। इसे ही स्पष्ट करते हैं – नरक आयु तो तिर्यंच आदि आयु होकर उदय में नहीं आता। मनुष्य आयु नरक तिर्यंच (देव) आयु होकर उदय में नहीं आती। इसी प्रकार अन्य भी जानना तथा दर्शनमोह तो चारित्रमोहरूप होकर उदय में नहीं आता और चारित्रमोह दर्शनमोह होकर उदय में नहीं आता।

आगे **शिष्य कहता है** – पूर्व में संचित किये नाना प्रकार के कर्मों का अनुभव है, वह तो हमने जान लिया, परन्तु यह नहीं जाना कि अनुभव प्रसंख्यात अर्थात् जो प्रकृति गणना में आई उस स्वरूप ही है या अप्रसंख्यात अर्थात् कुछ और प्रकार भी है ?

ऐसा पूछने पर **आचार्य कहते है** – प्रसंख्यात ही है। जो प्रकृति गणना में आयी उस ही रूप उदय में आकर भोगी जाती है – ऐसा है। इसे सूत्र से कहते हैं –

।। स यथानाम् ।। ८–२२ ।।

अर्थ : प्रकृति का जो नाम होता है, उसका वैसा ही अनुभव है। ज्ञानावरणी कर्म का फल ज्ञान का अभाव है, (जानने की) शक्ति की व्यक्ति न होना है। दर्शनावरणी का फल दर्शनशक्ति की व्यक्ति न होना है। इस ही प्रकार जिसका जैसा नाम है, वैसे ही अर्थरूप सर्वकर्म प्रकृतियों का भेद सहित प्रतीति में, अनुभव में आता है।

आगे शिष्य कहता है – कर्म के विपाक को अनुभव कहा, वहाँ कर्म भोगने के बाद आभरण की तरह लगे रहते हैं या भोग लेने के बाद साररहित होकर गिर पड़ते हैं, झड़ जाते हैं ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। ततश्च निर्जरा ।। ८–२३ ।।

अर्थ : उस अनुभव के बाद निर्जरा ही है। भोगने के बाद कर्म झड़ जाते हैं। आत्मा को सुख दु:ख देने और अपनी पहले बंधी स्थिति के पूरी हो जाने पर उनका अवस्थान (मौजूदगी) रहती नहीं, इस प्रकार उस कर्म से निवृत्ति ही हो जाती है, जैसे खाया भोजन पचकर झड़ जाता है, उस तरह झड़ जाते हैं। इसे ही निर्जरा कहते हैं – यह निर्जरा दो प्रकार की होती है – सविपाक से उत्पन्न निर्जरा, अविपाक से उत्पन्न निर्जरा। जिस संसाररूप समुद्र में चार गतियाँ हैं और अनेक जाति के विशेषों वाले भवभ्रमण हैं, में बहुतकाल से भ्रमते इस प्राणी के शुभ और अशुभ कर्म अनुक्रम से परिपाक को प्राप्त होकर स्थिति पूरी करके अनुभव अर्थात् भोगने के उदयावलीरूप नाले में जाकर अपना फल देकर झड़ जाते है, उसे सविपाक निर्जरा कहते हैं। और जो कर्म अपनी स्थिति करके उदयकाल को प्राप्त नहीं हुआ है तथा तपश्चरण आदि उपचार क्रियाओं के विशेषों की सामर्थ्य से बिना उदय में आये हुये ही को बलपूर्वक उदीरणा करके उदयावली में लाकर वेदन करना, भोगना – जैसे आम अथवा फनस के फल को पाल में देकर शीघ्र पका लिया जाता है, वैसे पका लेना अविपाक निर्जरा है तथा सूत्र में च शब्द निर्जरा के अन्य भी निमित्त है – ऐसा बताने के लिये है। इस सूत्र में तो कहा है कि अनुभव से निर्जरा होती है, आगे **तपसानिर्जरा** – ऐसा सूत्र कहेंगे, जिससे तप से भी निर्जरा होती है, यह ज्ञात करावेंगे।

आगे पूछते हैं – इस (बंध के) अध्याय में निर्जरा का कथन करने का क्या प्रयोजन ? संवर के बाद निर्जरा का कथन करना चाहिये था; क्योंकि संवर के बाद निर्जरा का नाम आता है, अत: उसी प्रकार कथन करना चाहिये था।

समाधान : यहाँ लघुकरण (संक्षिप्त करने) का प्रयोजन है। यदि संवर के बाद इसका कथन करते तो वहाँ भी विपाकोऽनुभव: को पुन: कहना पड़ता; अत: यहाँ कहने से पुन: नहीं कहना पड़ेगा। यहाँ विशेष कथन करते हैं –

कर्म प्रकृतियाँ दो प्रकार की है – घात प्रकृतियाँ, अघात प्रकृतियाँ। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय – ये चार तो घातिकर्म हैं तथा वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र – ये चार अघातिकर्म हैं तथा घातियाकर्मों की प्रकृतियाँ (उत्तर प्रकृतियाँ) दो प्रकार की हैं – सर्वघाति, देशघाति। यहाँ केवलज्ञानावरण, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, केवलदर्शनावरण, दर्शनमोह तथा चारित्रमोह की संज्वलन कषाय और नोकषायों को छोड़कर बारह कषायें बंध की अपेक्षा – ये बीस प्रकृतियाँ सर्वघाति हैं तथा ज्ञानावरण की शेष चार, दर्शनावरण की शेष तीन, अन्तराय की पांच, संज्वलन कषाय चार और नव नोकषाय – ये पच्चीस प्रकृतियाँ देशघाति है, यह कथन भी बंध की अपेक्षा जानना।

तथा अन्य विशेष कथन कहते हैं – पांच प्रकार के शरीर, पांच प्रकार के बंधन, पांच प्रकार के संघात, छह प्रकार के संस्थान, छह प्रकार के संहनन, तीन प्रकार के अंगोपांग, आठ प्रकार के स्पर्श, पांच प्रकार के रस, दो प्रकार की गंध, पांच प्रकार के वर्ण, प्रत्येक और साधारण – ये दो, स्थिर व अस्थिर – ये दो, शुभ व अशुभ – ये दो, अगुरुलघु,उपघात, परघात,उद्योत, निर्माण – ये बासठ प्रकृतियाँ तो पुद्गल विपाकी हैं, पुद्गल ही में अपना फल देती हैं अर्थात् शरीर संबंधी हैं। तथा आनुपूर्वियाँ चार क्षेत्रविपाकी अर्थात् इनके विपाक जीव के प्रदेशों के आकार रूप है तथा चारों आयु भवविपाकी अर्थात् फल भवधारण मात्र है तथा शेष प्रकृतियाँ जीव विपाकी है, ये जीव के उपयोग आदि शक्ति में अपना फल देती हैं।

ज्ञानावरणी की पांच, दर्शनावरणी की नव, अंतराय की पांच, मोहनीय की अट्ठाईस – इस प्रकार घातिकर्म की ये सैंतालीस प्रकृतियाँ तथा वेदनीय की दो, गोत्र की दो, नामकर्म की सत्ताईस, जिनके नाम – चारों गतियाँ, पांचों जातियाँ, दो विहायोगति, त्रस व स्थावर – ये दो, सूक्ष्म व बादर – ये दो, पर्याप्त व अपर्याप्त – ये दो, सुस्वर व दु:स्वर – ये दो, सुभग व दुर्भग – ये दो, आदेय व अनादेय – ये दो, यश:कीर्ति व अयशकीर्ति – ये दो, श्वासोच्छवास, तीर्थङ्कर – इस प्रकार ये सब मिलकर अठत्तर[1] प्रकृतियाँ जीव विपाकी हैं। उपरोक्त सत्तर (पुद्गल विपाकी ६२, क्षेत्रविपाकी ४, भवविपाकी ४ – इस तरह ६२ + ४ + ४ = ७०) प्रकृतियाँ तथा ये मिलकर कुल एक सौ अड़तालीस प्रकृतियाँ है।

आगे कहते है – अनुभव बंध तो कहा, अब प्रदेश बंध का कथन करना योग्य है, उसका कथन

करते इतने बातें कहनी है – प्रदेश बंध का कारण क्या है ? कौनसे काल में यह होता है ? किससे होता है ? उसका क्या स्वभाव है? किसमें होता है ? कितने परिमाण में परमाणु हैं ? इस तरह अनुक्रम से प्रश्न के भागों की विवक्षा (अपेक्षा) लेकर उनके उत्तर के लिये सूत्र कहते हैं –

।। नामप्रत्यया: सर्वतो योगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिता:
सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशा: ।। ८–२४ ।।

अर्थ : ज्ञानावरण आदि प्रकृतियों के लिये कारणरूप तीन काल संबंधी भावों में योग के विशेष से सर्व ही आत्मा के प्रदेशों में सूक्ष्म एकक्षेत्रावगाहरूप से स्थित अनन्तानन्त पुद्गल के स्कंध बंधते हैं, उसको प्रदेश बंध कहते हैं। नाम के लिये कारण हो, उसको नामप्रत्यय कहा जाता है। यहाँ नाम शब्द से सर्व ही कर्मप्रकृतियों का ग्रहण है; क्योंकि **स यथानाम** ऐसा सूत्र अनुभव बंध में कहा है, अत: नाम कहने से प्रकृति जानना। ऐसा कह करके तो प्रदेशबंध के कारणपना बताया। तथा सर्वत: अर्थात् सभी भवों में यहाँ तस् प्रत्यय सप्तमी विभक्ति के अर्थ में है; क्योंकि व्याकरण में ऐसा सूत्र है – दृश्यतेऽन्यतोऽपि। इस कथन से सप्तमी विभक्ति में भी तस् प्रत्यय होता है। यह कहकर काल का ग्रहण किया है (काल को बताया है) क्योंकि एक जीव के अतीतकाल में अनन्त भव बीत चुके हैं, आगामी काल में संख्यात अथवा असंख्यात अथवा अनन्त भव होंगे तथा योगविशेषात् कहने से मन–वचन–काय के योग के विशेष से पुद्गल कर्मभाव होकर जीव के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं– ऐसा कहकर निमित्त विशेष का स्वरूप बताया है।

तथा सूक्ष्म आदि शब्द के ग्रहण से कर्म के ग्रहण योग्य पुद्गल के स्वरूप का वर्णन किया है। ग्रहण के योग्य जो पुद्गल हैं, वे सूक्ष्म हैं, स्थूल नहीं है। तथा एकक्षेत्रावगाह शब्द अन्य क्षेत्र का अभाव बताने के लिये है। आत्मा के प्रदेशों में ही रहते हैं, अन्य स्थान पर नहीं तथा स्थिता कहकर यह बताया है कि स्थित ही हैं, चलते नहीं हैं तथा ऊपर नीचे तिर्यक् सब ही आत्म प्रदेशों में व्याप्त होकर स्थित होते हैं। तथा अनन्तानन्त प्रदेश शब्द से अन्य परिमाण का अभाव बताया है, संख्यात नहीं हैं, असंख्यात नहीं हैं, अनंत नहीं हैं। जो पुद्गल कर्मरूप होते हैं, वे एक समय में समयप्रबद्ध जितने होते हैं, उनका प्रमाण अभव्य राशि से अनन्तगुणे तथा सिद्ध राशि के अनन्तवें भाग हैं तथा घनांगुल के असंख्यातवें भागक्षेत्र में अवगाह करते हैं, ऐसे हैं। तथा वे एक, दो, तीन, चार, संख्यात, असंख्यात समय की स्थिति को लेकर स्थित है। पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध, चार स्पर्श गुण लिये आते हैं। आठ प्रकार की कर्म प्रकृतियों के योग्य है। उन्हें योग के वश से आत्मा स्वयं ग्रहण करता है। इस तरह प्रदेश बंध का स्वरूप संक्षेप में कहा, उसे जानना।

आगे बंध पदार्थ के अनन्तर पुण्य–पाप को भी गिनने की प्रेरणा है, वे पुण्य–पाप बंधपदार्थ में

अन्तर्भूत हैं – ऐसा जानना। तब ऐसा बताना ही चाहिये कि पुण्य क्या है ? और पाप क्या है ? अत: पहले पुण्य प्रकृतियों की संख्या बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ।। ८–२५ ।।

अर्थ : सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम, शुभ गोत्र – ये पुण्य प्रकृतियाँ हैं। शुभ प्रशस्त को कहा जाता है। सराहने योग्य हो, वह शुभ है। इस शुभ शब्द को आयु, नाम, गोत्र तीनों के साथ लगाना – इस प्रकार शुभ आयु, शुभ नाम, शुभ गोत्र ऐसा समझना। शुभ आयु तो तीन हैं –तिर्यंच आयु, मनुष्य आयु, देव आयु। शुभनाम प्रकृतियाँ सैंतीस हैं – मनुष्यगति, देवगति, पंचेन्द्रिय जाति, पांच शरीर, तीन अंगोपांग, समचतुरस्रसंस्थान, वज्रवृषभनाराच संहनन, प्रशस्त वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, मनुष्य व देवगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, परघात, उच्छवास, आताप, उद्योत, प्रशस्त विहायोगति, त्रस बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, सुभग, शुभ, सुस्वर, आदेय, यश:कीर्ति, निर्माण, तीर्थङ्कर तथा इस ही प्रकार उच्चगोत्र और सातावेदनीय – ये बयालीस प्रकृतियाँ पुण्यकर्म की है।

आगे पाप प्रकृतियों का ज्ञान कराने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। अतोऽन्यत् पापम् ।। ८–२६ ।।

अर्थ : (ऊपर कही) पुण्य प्रकृतियों को छोड़कर शेष रही सभी प्रकृतियाँ पाप प्रकृतियाँ हैं। यहाँ पुण्यरूप बताई कर्म प्रकृतियों के समूह से अन्य कर्म पाप हैं – ऐसा कहा गया है। वे कौन–कौनसी हैं? ज्ञानावरण की पांच, दर्शनावरण की नव, मोहनीय की छब्बीस, अन्तराय की पांच, नरक गति, तिर्यंचगति, जातियाँ चार, संस्थान पांच, संहनन पांच, अप्रशस्त वर्ण, गंध, रस, स्पर्श – ये चार, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, उपघात, अप्रशस्तविहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण शरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दु:स्वर, अनादेय, अयशकीर्ति – ये चौंतीस नामकर्म की प्रकृतियाँ तथा असातावेदनीय, नरकआयु, नीचगोत्र – इस तरह ये बयासी प्रकृतियाँ पापकर्म की है। इस तरह पुण्य और पाप प्रकृतियाँ सब मिलकर एक सौ चौबीस हुई। यह कथन बंध की अपेक्षा है। बंध प्रकृतियाँ एक सौ बीस कही गयी है। (वर्ण, गंध, रस, स्पर्श – ये चार पुण्यरूप भी होते है तथा पापरूप भी, अत: दोनों ओर गिने जाने से चार बढकर एक सौ चौबीस हो जाती हैं।)

(बंध अपेक्षा प्रकृतियाँ एक सौ अड़तालीस के स्थान पर एक सौ बीस ही क्यों गिनी जाती है – यह बताते हैं।) दर्शन मोह की तीन प्रकृतियों में बंध एक मिथ्यात्व प्रकृति का ही है, अत: दो प्रकृतियाँ कम हुई। बंधन और संघात शरीर से अविनाभावी है; अत: शरीर में ही अन्तर्भूत किये जाने से दश प्रकृतियाँ ये घटीं। तथा वर्ण आदि बीस है, इन्हें संक्षेप में चार ही कहा है, अत: सोलह ये घटीं। इस तरह अठाईस प्रकृतियों के घटने से एक सौ बीस प्रकृतियाँ रह जाती है।

तथा इन्हीं (वर्ण आदि बीस प्रकृतियों) को सत्ता की अपेक्षा गिनने पर (इनके पुण्यरूप भी और पापरूप भी दोनों प्रकार होने से) दुबारा गिनने से एक सौ अड़सठ प्रकृति होती है। उनमें पुण्य प्रकृतियाँ अड़सठ है। वे कौन-कौनसी हैं ? वेदनीय की एक, आयु की तीन, गोत्र की एक तथा नाम की तिरेसठ - गति दो, जाति एक, शरीर पांच, बंधन पांच, संघात पांच, संस्थान एक, संहनन एक, अंगोपांग तीन, वर्ण आदि बीस, आनुपूर्वी दो, विहायोगति, त्रस आदि दश, अगुरुलघु, परघात, उच्छवास, आताप, उद्योत, निर्माण, तीर्थंकर - ये (अड़सठ) हैं तथा पाप प्रकृतियाँ सौ है - घातिकर्मों की सैंतालीस,वेदनीय एक, आयु एक, गोत्र एक, नामकर्म की पचास में गति दो, जाति चार, संस्थान पांच, संहनन पांच, वर्ण आदि बीस, आनुपूर्वी दो, त्रस स्थावर आदि दश, उपघात, अप्रशस्त विहायोगति - ये पचास हैं। (इस प्रकार कुल एक सौ पाप प्रकृतियां है।)

इस प्रकार बंध पदार्थ का वर्णन किया। यह अवधि, मन:पर्यय, केवलज्ञानियों के तो प्रत्यक्ष प्रमाणगम्य है, प्रत्यक्ष जानते हैं तथा अन्य के उनके उपदेशरूप आगम प्रमाणगम्य है; अत: भव्यजीवों को उनका उपदेश आगम से जानकर इस कर्म बंधन के विध्वंस का उपाय करना योग्य है।

छप्पय

बंध च्यारि परकार बांधि संसार भमे जिय,
मिथ्या अविरत अरु प्रमाद हू कषाय योग लिय।
दु:ख अनेक परकार जनममरणादिक भुगतहिं,
गिनत नांहि सविकार ज्ञान परभाव सु जुगतहि।।

जिन आगम सरधानविन चारित सत्यारथ नहीं।
इम शुद्धातम अनुभव विगरि मुकति नाहि मुनि यो कही।।

चौपाई

पुण्य पापमय है संसार। दोऊ करम बंध परकार।।
ऐसैं पुण्य गहौ जिय सार। जो शिवमारग में सहकार।।

इस प्रकार तत्त्वार्थ का जिसमें अधिगम है - ऐसे मोक्षशास्त्र में आठवां अध्याय पूर्ण हुआ।

नवम अध्याय

दोहा

आस्रव रोकि विधानतैं, गहि संवर सुखरूप।
पूर्वबंध की निर्जरा, करी नमूं जिनभूप।।

अर्थ : (जिनागम में कहे अनुसार) विधान से आस्रव को रोककर सुखस्वरूप संवर को ग्रहण करके पूर्व में बंधे कर्मों की निर्जरा की है, ऐसे जिनभूप (जिनदेव) को मैं नमस्कार करता हूँ।

इस प्रकार मंगल के लिये जिनराज को नमस्कार करके नवमें अध्याय के आरंभ में ''सर्वार्थसिद्धि'' की टीका के कर्त्ता कहते हैं- बंधपदार्थ का तो कथन किया, अब इसके अनन्तर जिस संवर नामक पदार्थ का नाम आता है, उसका कथन करने का अवसर है; अत: उसके आदि में सूत्र कहते हैं-

।। आस्रवनिरोध: संवर: ।। ९-१ ।।

अर्थ : आस्रव का निरोध संवर है। नवीन कर्म को ग्रहण करना आस्रव है। इसका व्याख्यान तो पहले हो चुका है। इस आस्रव का निरोध संवर है, जो दो प्रकार का है- १. भावसंवर २. द्रव्य संवर। संसार के लिये कारणरूप क्रियाओं से निवृत्ति अर्थात् उनका न होना भाव संवर है तथा उस क्रिया के रोकने से उसके निमित्त से जिन कर्मपुद्गलों का ग्रहण होता था, उनका विच्छेद होना, ग्रहण होना रूक जाना द्रव्य संवर है - इसका विचार करते हैं। किस गुणस्थान में किस आस्रव का संवर होता है, वह बताते हैं-मिथ्यादर्शन के उदय के वशीभूत आत्मा को मिथ्यादृष्टि कहा जाता है। इस गुणस्थान में मिथ्यादर्शन को प्रधान करके जिन कर्मों का आस्रव होता था, उस मिथ्यादर्शन के निरोध अर्थात् अभाव से सासादन आदि अगले गुणस्थानों में उनका संवर होता है। वे प्रकृतियाँ कौन सी हैं, वह बताते हैं- १. मिथ्यात्व, २. नपुंसकवेद, ३. नरकआयु, ४. नरकगति, ५. एकन्द्रिय, ६. द्वीन्द्रिय, ७. त्रीन्द्रिय, ८. चतुरिन्द्रिय, ९. हुंडक संस्थान, १०. असंप्राप्त सृपाटिका संहनन, ११. नरकगत्यानुपूर्वी, १२. आताप, १३. स्थावर, १४. सूक्ष्म, १५. साधारण शरीर, १६.अपर्याप्त – इन सोलह प्रकृतियों का संवर हुआ। इनका आस्रव सासादन आदि ऊपर के गुणस्थानों में नहीं होता।

तथा असंयम तीन प्रकार का है- १. अनन्तानुबंधी कषायों के उदय कृत २. अप्रत्याख्यानावरण कषायों के उदय कृत ३. प्रत्याख्यानावरणी कषायों के उदयकृत। इस असंयम के निमित्त से जिन प्रकृतियों का आस्रव होता था, उस उस असंयम के अभाव में उन उन का संवर होता है, वही बताते

हैं। निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, स्त्रीवेद, तिर्यंच आयु, तिर्यंच गति, मध्य के चार संस्थान, मध्य के चार संहनन, तिर्यंचगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, उद्योत, अप्रशस्तविहायोगति, दुर्भग, दु:स्वर, अनादेय, नीचगोत्र – इन पच्चीस (२५) प्रकृतियों का तो अनन्तानुबंधी कषाय के उदयकृत असंयम को प्रधानकर आस्रव होता था, एकेन्द्रिय से लेकर सासादनसम्यग्दृष्टि तक सब ही जीव इनका बंध करते थे, उस अनन्तानुबंधी असंयम का अभाव होने से सासादन से आगे के गुणस्थानों में इनका संवर होता है।

और अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से हुये असंयम के निमित्त से अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, मनुष्य आयु, मनुष्य गति, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, वज्रवृषभनाराचसंहनन, मनुष्यगति प्रायोग्यानुपूर्वी – इन दश प्रकृतियों का आस्रव एकेन्द्रिय से लेकर असंयत सम्यग्दृष्टि तक के जीव बंध करते थे, उस अप्रत्याख्यानावरण कृत असंयम के अभाव से उसके ऊपर के देशसंयत आदि गुणस्थानों में इनका संवर होता है तथा सम्यग्मिथ्यात्व नामक तीसरे गुणस्थान में आयु का बंध नहीं होता है।

और प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से होने वाले असंयम के होने पर प्रत्याख्यानावरण गुणस्थान वाले जीव तक बंध करते थे, उस असंयम का अभाव होने पर उनका भी संवर होता है। अगले प्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानों में उनका बंध नहीं है। तथा प्रमत्त सहित जीवों के असातावेदनीय, अरति, शोक, अस्थिर, अशुभ, अयश:कीर्ति – ये छह प्रकृतियाँ प्रमाद के निमित्त से बंधती थी, प्रमाद का अभाव होने पर इनका संवर होता है। अप्रमत्त आदि गुणस्थानों में उनका बंध नहीं होता है।

तथा देवायु का बंध प्रमत्त गुणस्थान वाला करता है और अप्रमत्त भी उसके निकटवर्ती है, अत: उसको भी (देवायु का) बंध होता है। आगे अपूर्वकरण आदि गुणस्थानों में उसका भी बंध नहीं होता है। तथा जिसकर्म का आस्रव कषाय होने पर ही होता है, उनका प्रमाद आदि के अभाव ही से अभाव नहीं हो जाता है; क्योंकि वे कषाय प्रमादादि भाव से रहित तीव्र, मध्य,जघन्य भाव से अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय – इन तीन गुणस्थानों में भी रहती हैं। वहाँ अपूर्वकरण गुणस्थान के शुरु के संख्यातवें भाग में निद्रानिद्रा[1], प्रचला – ये दो प्रकृतियाँ बंधती हैं। इसके आगे संख्यातवें भाग में तीस प्रकृतियाँ बंधती हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं– देवगति, पंचेन्द्रिय जाति, वैक्रियक, आहारक, तैजस, कार्मण – ये चार शरीर, समचतुरस्रसंस्थान, वैक्रियक और आहारक शरीरांगोपांग, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, देवगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छवास, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, निर्माण, तीर्थंकर। तथा इस

१.निद्रा-निद्रा का अभाव तो दूसरे गुणस्थान में ही हो गया था, अत: यहाँ निद्रा प्रकृति की ही बात होनी चाहिये।

ही अपूर्वकरण गुणस्थान के अन्त समय में हास्य, रति, भय, जुगुप्सा – इन चार प्रकृतियों का बंध है। ये वहाँ सम्बन्धी तीव्रकषाय के निमित्त से बंधती हैं; अत: उस उस भाव सम्बन्धी कषाय का अभाव होने पर उनका उस भाव से ऊपरबंध का अभाव होता है, अत: वहाँ उनका संवर हुआ।

तथा अनिवृत्तिबादरसांपराय के आरंभ के समय से लेकर संख्यात भाग में पुरुषवेद, संज्वलन क्रोध – इन दो का बंध होता है। इसके ऊपर के शेष रहे संख्यात भाग में (संज्वलन) मान, माया – ये दो प्रकृतियाँ बंधती है। तथा इस ही के अन्त समय में संज्वलन लोभ बंधता है। इस तरह इन पांच प्रकृतियों का बंध मध्यम कषाय के निमित्त से होता है। सो जिस कषाय का अभाव जिस भाग में हो गया उसके ऊपर के भाग में उनका संवर होता है। तथा सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान में सूक्ष्मलोभ पाया जाता है, इसे मंद भी कहते हैं। इसके निमित्त से ज्ञानावरण की पांच, दर्शनावरण की चार, यश:कीर्ति, उच्चगोत्र, अन्तरायकर्म की पांच – इन सोलह प्रकृतियों का आस्रव होता है। उस कषाय का अभाव होने पर उपशान्तकषाय आदि गुणस्थानों में उनका बंध नहीं होता है। तथा केवल योग के ही निमित्त से उपशान्त कषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली गुणस्थानों में एकमात्र सातावेदनीय का आस्रव होता है। तथा योग के अभाव में आगे अयोगकेवली के उसका भी बंध नहीं होता।

यहाँ **कोई पूछता है**– गुणस्थानों के क्रम से संवर का कथन किया, पर ये गुणस्थान हैं क्या ?

वहाँ कहते हैं – इनका स्वरूप विशेषतापूर्वक ''गोम्मटसार'' ग्रन्थ में लिखा है, वहाँ से जानना। फिर भी इनका कुछ संक्षिप्त प्रयोजन यहाँ लिखते हैं। ये गुणस्थान जीव के सामान्य परिणाम हैं; क्योंकि इनके नाम का अर्थ ही ऐसा है। गुण अर्थात् जीव के गुण उनके स्थान, गुणस्थान हैं। यह तो सामान्य से नाम हुआ। तथा विशेष नाम इनका मोहकर्म के उदय आदि विशेष एवं योग से है।

मिथ्यादृष्टि गुणस्थान तो अनादिमिथ्यात्व नामक कर्म इस जीव के पाया जाता है, जिसके उदय से तत्त्वार्थ के अश्रद्धानरूप परिणाम होते हैं, जो दो प्रकार से हैं – १. नैसर्गिक – इससे तो अनादि ही से अपना तथा पर का तथा हित-अहित का यथार्थ स्वरूप भूल रहा है। जो पर्याय प्राप्त होती है, उसे ही अपना स्वरूप मानकर हित-अहित को जाने बिना प्रवर्तता है ; २.परोपदेश से प्रवर्तता है, अत: जैसा उपदेशदाता मिल जाता है, वह हित-अहित का तथा आत्मा का जैसा स्वरूप बताता है, उसे ही सत्यार्थ जानकर मिथ्यात्व के उदय और अनन्तानुबंधी कषाय के उदय से उसका ही पक्ष दृढ कर प्रवर्तता है। जिनेश्वर की आज्ञा जानने वाले के उपदेश का श्रद्धान बिना यथार्थ मार्ग से बाह्य प्रवर्तन हो – इस तरह के इन दो प्रकार के परिणाम जिसके हों, वह मिथ्यादृष्टि जीव है। इसके दो भेद हैं – जिसने अनादि ही से सम्यक्त्व प्राप्त नहीं किया है, वह अनादि मिथ्यादृष्टि है। तथा सम्यक्त्व प्राप्तकर मिथ्यात्व के उदय से पुन: मिथ्यादृष्टि हो गया है, वह सादिमिथ्यादृष्टि है।

तथा सम्यक्त्व प्राप्त करने की विधि इस प्रकार है – जब काललब्धि प्राप्त हो, तब मिथ्यात्व कर्म का तो अनुभाग उदय मंद रूप हो तथा बाह्य में सर्वज्ञ वीतराग जिनेश्वर के यथार्थ मार्ग के उपदेश का निमित्त मिले, वीतराग की मुद्रा, निर्ग्रंथ गुरु का दर्शन तथा जिनेन्द्र के पंचकल्याणक आदि की महिमा का दर्शन, श्रवण, प्रभावना अंग अतिशय चमत्कार का देखना, पूर्वभव का स्मरण होना इत्यादि निमित्त मिलें, तब यथार्थ तत्त्वार्थ में रुचिरूप उत्साह ऐसा बढे जैसा पहले कभी हुआ नहीं। ऐसे उत्साह में तीन करणों का प्रारम्भ होता है, जिनके नाम अध:करण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण हैं। इनका आरंभ कैसे जीव को होता है, वह बताते हैं। शुभपरिणामों के सन्मुख हो, संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक हो, साकार उपयोग सहित हो, अन्तर्मुहूर्त तक प्रति समय अनन्तगुणी विशुद्धता से वर्द्धमान हो, एक योग के अवलंबन सहित हो, अतिमंदकषायरूप परिणाम हों, तीनों वेदों में से एक वेद के संक्लेशरहित परिणाम हों, विशुद्धता के बल से कर्मों की स्थिति को घटाता हुआ अशुभप्रकृतियों के अनुभागबंध को हीन करता हुआ, शुभ प्रकृतियों के अनुभाग को बढाता हो, उसके करणों का प्रारंभ होता है। इन तीनों ही करणों में प्रत्येक का अलग-अलग काल अन्तर्मुहूर्त है। इनका विशेष वर्णन ''गोम्मटसार'' ग्रन्थ से जानना।

इनमें अनिवृत्तिकरण के अंतिम समय के शुरु होते ही अनादिमिथ्यादृष्टि तो मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी चतुष्क – इन पांच प्रकृतियों का उपशम करके प्रथमोपशम सम्यक्त्व ग्रहण करता है। वह सत्ता में बैठे मिथ्यात्व के उदय का अनुभाग घटाकर तीन भाग करता है। कुछ द्रव्य तो मिथ्यात्वरूप ही रहता है। कुछ द्रव्य को सम्यग्मिथ्यात्व स्वरूप करता है तथा कुछ द्रव्य को सम्यग्प्रकृतिरूप करता है। बाद में वहाँ अन्तर्मुहूर्त काल भोगकर सम्यक्त्वप्रकृति का उदय आ जाने पर तो क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी होकर अथवा सम्यग्मिथ्यात्व का उदय आ जाने पर सम्यग्मिथ्यादृष्टि होकर अथवा पहले अनन्तानुबंधी का उदय आने पर सासादन सम्यग्दृष्टि होकर अथवा मिथ्यात्व का उदय आने पर मिथ्यादृष्टि होता है, इस प्रकार अनादि मिथ्यादृष्टि की व्यवस्था है।[1]

तथा सादि मिथ्यादृष्टि भी इस ही प्रकार तीनों करणों को करके सम्यक्त्व को स्पर्श करता है। विशेष इतना है कि इसके दर्शनमोह की तीनों प्रकृतियाँ सत्ता में होती हैं; अत: सात प्रकृतियों का उपशम करके सम्यक्त्व प्राप्त करता है। जिसके मिथ्यात्व से पहले अनन्तानुबंधी का उदय आ जाता है, वह सम्यक्त्व की विराधना सहित हुआ। तब जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह आवली पर्यन्त

१. यहाँ आचार्यों में दृष्टिभेद है। कुछ आचार्यों का मानना है कि अनादि मिथ्यादृष्टि को प्रथमोपशम सम्यक्त्व होने के बाद उसे पुन: मिथ्यादृष्टि होना अनिवार्य है- देखें : अमितगति श्रावकाचार, द्वितीय अध्याय, श्लोक-४२ एवं अनगार धर्मामृत, अध्याय-२, प्रथम श्लोक। तथा कुछ आचार्य मानते हैं कि अनादि मिथ्यादृष्टि को प्रथमोपशम सम्यक्त्व होने के बाद सम्यक्त्व से छूटने को नियम रूप नहीं माना जा सकता - देखें : जयधवला गाथा-१०५ की टीका एवं धवला पुस्तक ६/१,९-८-९/गाथा-२४२ का प्रकरण।

बीच में रहता है, यह स्थिति सासादन गुणस्थान कहलाती है। इसके बाद नियम से मिथ्यात्व का उदय आता ही है, तब मिथ्यादृष्टि हो जाता है। यदि (प्रथमोपशम सम्यक्त्व के बाद) सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय आ जावे तो सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान हो जाता है। इसको मिश्र गुणस्थान भी कहते हैं। इसका काल भी अन्तर्मुहूर्त है। इसको भोगकर मिथ्यादृष्टि होकर फिर सम्यक्त्व को प्राप्त होता है।

तथा चौथा गुणस्थान अविरत संयत है। यहाँ औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक तीनों ही प्रकारके सम्यक्त्व हो सकते हैं, पर चारित्र मोह की अप्रत्याख्नावरणी कषाय के उदय में एकदेश संयम के परिणाम भी नहीं हो पाते, अत: अविरतसम्यग्दृष्टि नाम है। तथा अप्रत्याख्यानावरणी कषाय के अभाव में एकदेश विरति परिणाम तो होते हैं पर प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय में सकलविरति नहीं होती, अत: विरताविरत नाम प्राप्त करता है। यह पांचवां गुणस्थान है, इसके धारक को श्रावक कहा जाता है। तथा जब प्रत्याख्यानावरणी कषाय के उदय का भी अभाव हो एवं संज्वलन कषाय के तीव्र उदय से किंचित् प्रमाद सहित सकलसंयम होता है, तब प्रमत्तसंयत नाम वाला छठा गुणस्थान होता है। तथा संज्वलन कषाय का हीन उदय होने पर प्रमाद का अभाव होता है, तब अप्रमत्तसंयत नाम का सातवां गुणस्थान होता है।

तथा जब संज्वलन कषाय का भी अव्यक्त उदय हो तब उपशम श्रेणी तथा क्षपक श्रेणी नाम होता है। तब श्रेणी के प्रारंभ में भी करण परिणाम होते हैं। सप्तम गुणस्थानवर्ती जब ध्यान करने लगे और शुद्धोपयोग में लीन हो, तब जिस जीव के श्रेणी का प्रारंभ हो जावे, वह सातिशय अप्रमत्त होता है। वह अध:करण परिणाम में स्थित हो प्रतिसमय अनंतगुणी विशुद्धता से वर्द्धमान हो, तब विशुद्धता बढते-बढते अपूर्वकरण परिणाम हो जावे, जब आठवां (अपूर्वकरण नामक) गुणस्थान होता है तथा (विशुद्धता बढते-बढते) जब अनिवृत्तिकरण परिणाम हो जावें, तब नवमां अनिवृत्तिकरण बादर सांपराय गुणस्थान होता है। तथा कषाय घटते-घटते सूक्ष्म हो जावे, तब सूक्ष्मसांपराय नामक दसवां गुणस्थान होता है तथा समस्त कषायों का उपशम हो जावे, तब उपशांत मोह नामक ग्यारहवां गुणस्थान होता है। यहाँ यथाख्यातसंयम होता है तथा जब समस्त मोहकर्म का सत्ता में से नाश हो जाये तब क्षीण मोह नाम प्राप्त करता है - इस तरह ये (आठवें से बारहवें तक) श्रेणी के गुणस्थान हैं। इनमें शुक्लध्यान की प्रवृत्ति है।[१]

---

१. यहाँ भी आचार्यों में दृष्टि भेद है - कुछ आचार्य मानते हैं कि श्रेणी के गुणस्थानों में अर्थात् आठवें गुणस्थान से ही शुक्ल ध्यान होता है - देखें : जैनेन्द्र सिद्धांतकोष "शुक्लध्यान" ३-१ में द्रव्यसंग्रह- जहाँ ऐसा लेख है - "यह प्रथम शुक्ल ध्यान उपशम श्रेणी की विवक्षा में अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय उपशमक तथा उपशान्त कषाय इन चारों गुणस्थानों में होता है। क्षपकश्रेणी की विवक्षा में अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण व सूक्ष्मसांपरायक्षपक इन तीन गुणस्थानों में होता है।" तथा दूसरे कुछ आचार्य शुक्लध्यान का प्रारंभ ग्यारहवें गुणस्थान से मानते हैं। उनका तर्क यह है कि जब तक कषाय का अंश भी विद्यमान है, तब तक शुक्लता कैसी ?

तथा बारहवें गुणस्थान के शुरु में तो (शुक्ल ध्यान का) पहला पाया (पृथक्त्व वितर्कवीचार नामक पहला भेद) प्रवर्तता है। और बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समयों में एकत्व वितर्कवीचार नामक (शुक्ल ध्यान का दूसरा भेद) ध्यान होता है। इसके अनन्तर ही घातिकर्मों का नाश करके केवलज्ञान उपजाता है। इन श्रेणी के गुणस्थानों का काल अन्तर्मुहूर्त है। क्षपक श्रेणी चढने वाला अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान उपजाता है। उपशम श्रेणी चढने वाला (ग्यारहवें गुणस्थान में कुछ काल रहकर नियम से) उल्टा नीचे उतर जाता है। तथा केवलज्ञान उत्पन्न हो जाने के बाद जब तक योगों की प्रवृत्ति रहती है, तब तक सयोग केवली नामक तेरहवां गुणस्थान है। इसका उत्कृष्ट काल एक कोटीपूर्व से आठ वर्ष कम है। तथा जब योगों की प्रवृत्ति भी मिट जाती है, तब अयोगकेवली नामक चौदहवां गुणस्थान कहा जाता है। इसकी स्थिति पंच लघु अक्षरों के उच्चारण मात्र काल जितनी है। इतने काल में अघातिकर्मों की भी जो प्रकृतियाँ सत्ता में रही थी, उनका भी क्षय करके सिद्धगति को प्राप्त होकर लोक के शिखर पर पहुंचकर स्थित हो जाता है और सिद्ध कहा जाने लगता है। वहाँ अनन्तकाल तक आत्मिक आनंद में लीन रहता है तथा उसका संसार में पुन: आगमन नहीं होता। इस प्रकार गुणस्थानों की प्रवृत्ति है। विशेष जानना चाहें वे ''गोम्मटसार'' ग्रंथ से जानें।

आगे संवर के कारण बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रै: ।। ९–२ ।।

अर्थ : संवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय, चारित्र – इन छ: भावों से होता है। संसार के लिये कारण जो प्रवृत्ति भाव हैं उनसे आत्मा को गोपे रखना, उनकी प्रवृत्तिरूप न होने देना गुप्ति है तथा प्राणियों की पीड़ा के परिहार के लिये भले प्रकार से प्रवृत्ति करना समिति है। अपने को इष्ट स्थान अर्थात् सुख के स्थान में पहुंचावे, वह धर्म है। शरीर आदि के स्वभाव का बारंबार चिंतवन करना अनुप्रेक्षा है। क्षुधा आदि की वेदना उत्पन्न होने पर उन्हें कर्मों की निर्जरा के लिये सहना परिषह है, उनको जीतना परिषहजय है तथा चारित्र शब्द का अर्थ प्रथम सूत्र में बताया जा चुका है। यह गुप्ति आदि (संवर क्रिया करने वाले की) संवर क्रिया का साधकतम होने से करणरूप संवर है, ऐसा बताया है। तथा 'स' शब्द गुप्ति आदि का साक्षात् संबंध करने के लिये है। इससे ऐसा नियम बताया है कि यह संवर गुप्ति आदि से ही होता है, अन्य उपायों से नहीं होता। ऐसा कहने से तीर्थों में स्नान करना, अतिथि (साधु) का भेषमात्र कर लेना, दीक्षा लेना, देवता की आराधना करना, इसके लिये अपना (तथा अन्य जीवों का) मस्तक काटकर चढा देना इत्यादि प्रवृत्तियों से यह संवर नहीं होता है, ऐसा बताया है; क्योंकि राग, द्वेष, मोह से बांधे कर्मों की अन्य प्रकार से निवृत्ति होने का अभाव ही है (नहीं हो सकती)।

आगे संवर तथा निर्जरा का विशेष कारण बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। तपसा निर्जरा च ।। ९–३ ।।

अर्थ : तप से निर्जरा होती है तथा 'च' शब्द से संवर भी होता है, ऐसा जानना। तप है वह धर्म के भेदों में गर्भित है, फिर भी अलग से और कहा है, वह संवर और निर्जरा दोनों का कारण है, यह बताने के लिये कहा है,अथवा संवर के प्रति प्रधानता बताने के लिये कहा है।

यहाँ **तर्क :** तब तो देवेन्द्र आदि पदों की प्राप्ति का कारण माना जाता है; अत: अभ्युदय का अंग है, तब निर्जरा का अंग कैसे हो सकता है ?

समाधान : यहाँ यह दोष नहीं है। एक कारण से अनेक कार्य होते देखे जाते हैं। जैसे अग्नि एक है, फिर भी इससे वस्तु का पकना नामक कार्य भी होता है और वस्तु को भस्म कर देना नामक कार्य भी होता है, इस ही प्रकार तप से अभ्युदय भी होता है और कर्मों का नाश भी होता है। इसमें क्या विरोध है ?

यहाँ अन्य उदाहरण भी है – जैसे किसान का खेती बोने की क्रिया का फल धान्य पैदा करना तो मुख्य है तथा पराल, घास, चारा आदि का उपजना गौण फल है, उसी प्रकार मुनियों के तप क्रिया का फल कर्मों का नाश होना तो मुख्य है। देवेन्द्र आदि पद की प्राप्ति गौणफल है। ऐसा जानना।

आगे संवर के कारणों में प्रारंभ में ही कहे गुप्ति के स्वरूप को बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। सम्यग्योगनिग्रहो गुप्ति: ।। ९–४ ।।

अर्थ : काय, मन, वचन की क्रियारूप योग को सम्यक् प्रकार रोकना, बस करना गुप्ति है। योग का स्वरूप तो पहले कहा है, वही है। ''कायवाङ्मन:कर्मयोग:'' इस सूत्र में कहे योग की स्वेच्छा से प्रवृत्ति मिटाना निग्रह कहा जाता है तथा 'सम्यक्' पद विषय सुख की अभिलाषा के लिये योगों की प्रवृत्ति का निग्रह करे तो वह गुप्ति नहीं है, ऐसा बताने के लिये है। इस प्रकार अर्थ यह हुआ – सम्यक् विशेषण कहने से विशिष्ट, जिसमें अधिक संक्लेश न उत्पन्न हो ऐसा काय आदि योगों का निरोध होते हुए, जो योगों की स्वेच्छा प्रवृत्ति से कर्मों का आस्रव होता था, उसका संवर होता है, ऐसा निश्चय प्रकट जानना। यह गुप्ति तीन प्रकार की है– १. काय गुप्ति, २. वचन गुप्ति, ३. मनोगुप्ति।

यहाँ विशेष यह है कि 'सम्यक्' विशेषण कहने से गुप्ति का सत्कार नहीं चाहा जावे, लोक में पूज्यता न चाही जावे, ये महामुनि बड़े ध्यानी हैं – ऐसी लोक में प्रसिद्धि न चाही जावे तथा इस लोक–परलोक संबंधी अभिलाषा न करे (तब वह सम्यक् गुप्ति है)।

तथा काय, वचन, मन की स्वेच्छिक प्रवृत्ति का विशेष यह है– काय से भूमि पर चलना हो, तब बिना देखे, बिना प्रतिलेखे चले तब कर्म का आस्रव होता है तथा वस्तु को उठाना, धरना हो, बैठना,

सोना हो उनके निमित्त से कर्म का आस्रव होता है तथा जैसे तैसे वचन बोलना, मन में रागद्वेषपूर्वक प्रवर्तना, विषय की वांछापूर्वक प्रवर्तना, उसके निमित्त से कर्म के आस्रव से मुनि गुप्त रहें, उनके ऐसे कर्मों का आस्रव रूकता है, अत: संवर होता है।

आगे जो मुनि गुप्ति रूप रहने में असमर्थ हों, आहार, विहार, उपदेश आदि क्रिया में प्रवर्तें, उनकी प्रवृत्ति जिस प्रकार निर्दोष हो उसे प्रकट करने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। ईर्याभाषैषणादान निक्षेपोत्सर्गा: समितय: ।। ९–५ ।।

अर्थ : ईर्या, भाषा, ऐषणा, आदान–निक्षेपण, उत्सर्ग– ये पांच समितियाँ हैं, इनसे संवर होता है। यहाँ 'सम्यक्' पद की अनुवृत्ति करना। इस 'सम्यक्' शब्द को ईर्या आदि पांचों के साथ लगाना। जिस मुनि ने जीवों के स्थान, योनि, आदि के भेद की विधि जानी है, उसका यत्नपूर्वक चलना, यत्नपूर्वक बोलना, यत्न से शुद्ध निर्दोष आहार लेना, यत्न से उपकरण आदि उठाना रखना, यत्नपूर्वक मलमूत्र आदि का क्षेपण करना – इन प्रवृतिरूप पांच समितियाँ हैं, जो प्राणियों की पीड़ा के परिहार के लिये है। इस प्रकार प्रवर्तने पर अन्य प्राणियों को बाधा नहीं होती है तथा सम्यक्रूप से प्रवर्तित होने वाले (मुनि) के असंयम परिणामों के निमित्त से ही जिन कर्मों का आस्रव होता था, उनके आस्रव का अभाव होता है, तब संवर होता है।

यहाँ विशेष विधि का कथन करते हैं – मुनि जीवस्थानों को जानने वाले हैं। ये जीव स्थान संक्षेप में चौदह हैं। एकेन्द्रिय जो सूक्ष्म बादर के भेद से दो प्रकार के हैं, दो इन्द्रिय त्रींद्रिय चौइन्द्रिय – ये विकलत्रय तथा पंचेन्द्रिय जो संज्ञी असंज्ञी के भेद से दो प्रकार के हैं – इस तरह सात हुये। इन सभी के पर्याप्त, अपर्याप्त भेद होने से चौदह हो जाते हैं अथवा अठानवे अथवा चार सौ छह भेद भी कहे हैं तथा इनके उत्पन्न होने के स्थानों को योनि कहते हैं तथा कुलों के अनेक भेद हैं। उनको जानकर मुनि जीवों की रक्षा के निमित्त समितिरूप से प्रवर्तन करते हैं। जब गमन करते हैं, तब सूर्य के उदय के प्रकाश में नेत्रों से जूडा प्रमाण (चार हाथ–लगभग दो मीटर) भूमि को भली प्रकार निहार (देखकर) जिस मार्ग से पहले ही मनुष्य आदि निकले हो, भूमि मर्दल गयी हो, उस मार्ग में मंद–मंद पावों को रखते, गमन के अतिरिक्त अन्य में मन न लगाते, शरीर के अंगों को संकुचित रखते गमन करे हैं, उनके ईर्यासमिति होती है।

तथा वचन कहते हैं वे हित, मित, असंदिग्ध कहते हैं। जिनमें मोक्षपद पाने की विधि की प्रधानता हो, वे तो हित वचन हैं। जिनमें अनर्थक बहुत प्रलाप न हो, वे मित वचन हैं तथा जिनमें अक्षर स्पष्ट हों और व्यक्त हों (जिनसे किसी प्रकार का संदेह न उपजता हो) वे असंदिग्ध वचन हैं। इनका विस्तार –मिथ्यावचन, ईर्ष्यासहित वचन, अन्य को अप्रिय लगने वाले वचन, अन्य का मर्म

छेदन करने वाले वचन, जिनमें सार थोड़ा हो (या न हो) ऐसे वचन, संदेहरूप वचन, जिनसे अन्य को भ्रम उत्पन्न हो ऐसे वचन, कषाय सहित वचन, दूसरे की हंसी उड़ाने वाले वचन, अयुक्त वचन, असभ्य वचन गाली आदि तथा कठोर वचन, अधर्म के वचन, देशकाल के योग्य न हो ऐसे वचन, अतिस्तुति के वचन इत्यादि ये वचन के दोष हैं। मुनि द्वारा इनसे रहित वचन बोला जाना भाषासमिति होती है।

तथा आहार के उद्गम आदि दोषों का वर्जन करना ऐषणासमिति है। गुणरूपी रत्नों को ले चलने वाली शरीर रूपी गाडी को समाधि रूपी नगर में पहुंचाना है; अत: घृत आदि के वांग की तरह आहार देते है। तथा उदराग्नि रूप दाहरोग को बुझाने (मिटाने) के लिये औषध की तरह बुरे भले का स्वाद न लेते हुये देशकाल की सामर्थ्य को जानकर पवित्र आहार लेते हैं। वह भी उद्गम, उत्पादन, ऐषणा, प्रमाण, अंगार, धूम आदि भेदों वाले छियालीस दोष टालकर नव कोटि शुद्ध आहार करते हैं। छियालीस दोष, बत्तीस अन्तराय, चौदह मल आदि का वर्णन आचार वृत्तिग्रंथ के पिंडशुद्धि अधिकार में है, वहाँ से जानना। इस प्रकार यह एषणा समिति का विशेष है। तथा आदाननिक्षेप उत्सर्ग समिति का कथन पहले किया ही था।

यहाँ **कोई कहता है**, यह समिति तो वचनकाय की गुप्ति है। **उससे कहते हैं** कि ऐसा नहीं है। गुप्ति में तो काल की मर्यादापूर्वक सर्वक्रिया से निवृत्ति करता है तथा समिति में कल्याणकारी कार्यों में प्रवृत्ति होती है।

यहाँ कोई कहता है – मुनि पात्र के (बर्तन के) बिना हाथ में आहार लेते हैं, तब आहार के गिर जाने पर उसमें जीवहिंसा देखी जाती है। तब ऐषणा समिति के अभाव में संवर का भी अभाव होने का प्रसंग आता है।

समाधान – पात्र रखने पर परिग्रह का दोष आता है, उसकी रक्षा करनी पड़ती है तथा कपाल (मिट्टी का बर्तन) लिये फिरने में दीनता आती है। भाजन (बर्तन) गृहस्थ से मांगने पर मिले या न मिले। तथा उसके प्रक्षालन (साफ करने) आदि के विधान में बड़ा आरंभ होता है। तथा अपने पात्र में भोजन लेकर अन्य स्थान में जावे तब खाने की आशा साथ ही लगी रहती है तथा गृहस्थ अवस्था में सुन्दर पात्रों में भोजन करता था, अब जैसे तैसे (पात्र) में खावे तब बड़ी दीनता आती है; अत: अपने हाथ रूपी पात्र में ही आहार करना, इसमें कुछ भी दोष उत्पन्न नहीं होता है, स्वाधीनता है, बाधारहित है। निराबाध देश (स्थान) में खडे रहकर भोजन को परखकर निश्चल होकर भोजन करने में किंचितमात्र भी दोष नहीं लगता है, ऐसा जानना।

आगे संवर के तीसरे कारण अर्थात् धर्म के भेद बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्य ब्रह्मचर्याणि धर्मः ।। ९–६ ।।

अर्थ : उत्तमक्षमा, उत्तममार्दव, उत्तमआर्जव, उत्तमशौच, उत्तमसत्य, उत्तमसंयम, उत्तमतप, उत्तमत्याग, उत्तम आकिंचन्य, उत्तमब्रह्मचर्य – ये धर्म के दश भेद हैं, इनसे संवर होता है।

यहाँ शिष्य **प्रश्न** करता है– ये धर्म किसलिये कहे हैं ?

ऐसा पूछने पर **उनका प्रयोजन बताते हैं** –पहले तो गुप्तियों का कथन किया, वह सर्वप्रवृत्ति को रोकने के लिये किया। बाद में उस गुप्ति में असमर्थ रहने पर प्रवृत्ति करनी होती है, तब भले प्रकार यत्नपूर्वक प्रवर्तन करने के लिये समिति का कथन किया। तथा ये दश प्रकार के धर्म का कथन है, वह मुनि जब समिति में प्रवर्ते तब उनको प्रमाद के परिहार के लिये किया है, ऐसा जानना। शरीर की स्थिति के लिये कारणरूप आहार के लिये अन्य के घर जाते हुये मुनि को देखकर दुष्टवचन कहते हैं, उपहास करते हैं, अवज्ञा करते हैं, ताड़न करते हैं, शरीर का घात आदि करते हैं, ऐसे क्रोध उत्पन्न करने वाले कारणों के निकट होने पर भी चित्त में क्रोध रूप कलुषता का उत्पन्न न होना क्षमा है। तथा उत्तम जाति, कुल, रूप, विज्ञान, ऐश्वर्य, शास्त्र आदि का ज्ञान, लाभ, वीर्य आदि गुण स्वयं में होने पर भी उनका मद न होना, पहले किसी ने कोई अपमान किया हो, वहाँ अभिमान न करना मार्दव है तथा मायाचार से रहित काय, वचन, मन के योगों की सरलता आर्जव है। तथा लोभ के कारण आत्मा के परिणाम मलिन हों, उनका उत्कृष्ट रूप से अभाव होना पवित्रता है, वही शौच है।

यहाँ **कोई कहता है** – लोभ की उत्कृष्ट निवृत्ति तो गुप्ति में भी है, उसमें शौच आ गया, अलग से क्यों कहा ?

उसका **समाधान** – गुप्ति में तो मन की चंचलता का निरोध है तथा उस गुप्ति में असमर्थ रहने वाले के पर की वस्तु को लेने के अभिप्राय का निषेध यहाँ धर्म में है।

वह **पुनः कहता है** – (यह तो) आकिंचन्य धर्म में आ जावेगा, शौच का कथन क्यों करते हो?

उससे कहते हैं – आकिंचन्य धर्म में ममत्व के अभाव की प्रधानतापूर्वक कथन है। अपने शरीर के संस्कार आदि का भी निषेध है। तथा शौच में चार प्रकार के लोभ की निवृत्ति कही गयी है।

चार प्रकार का लोभ क्या है ?

वह बताते हैं –जिन्दा रहने का लोभ, निरोग रहने का लोभ, इन्द्रियों के बने रहने (अपने कार्य में सक्षम रहने) का लोभ, उपभोग वस्तुओं का लोभ। इसे भी अपने एवं अन्य के लिये इस प्रकार चारों को दो–दो प्रकार के जान लेना। इस प्रकार शौच में लोभ का अभाव जानना।

तथा दिगम्बर यति और उनके भक्त श्रावक आदि में समीचीन (आगमोक्त) वचन बोलना सत्य है।

यहाँ **कोई कहता है** – यह तो भाषा समिति ही है।

उससे कहते है – समिति में तो सभी लोक से बोलने का कार्य होता है, तब हित-मित वचन कहना। यदि अन्य प्रकार वचन बोले तो राग, अनर्थदंड आदि दोष उत्पन्न होते हैं तथा सत्यधर्म में मुनि श्रावकों ही से शास्त्रज्ञान सीखने आदि के कार्य के निमित्त भी परस्पर बहुत आलाप होता है। उसमें सत्य को दश प्रकार का कहा है, उनकी प्रवृत्ति होती है, इस प्रकार इनमें भेद हैं। उनके नाम जनपद, सम्मित, स्थापना, नाम, रूप, प्रतीत्य, व्यवहार, संभावना, द्रव्य, भाव – ये हैं। इनका स्वरूप उदाहरण सहित ''गोम्मटसार'' ग्रन्थ के योगमार्गणा अधिकार से जानना।

तथा समिति में प्रवर्तते मुनियों की समिति की रक्षा के लिये, प्राणियों की रक्षा के लिये और इन्द्रियों के रागसहित विषयों का परिहार है, वह संयम है। उसके दो भेद हैं – अपहृत संयम, उपेक्षा संयम। उनमें से अपहृत संयम उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य के भेद से तीन प्रकार का है। जिनके प्रासुक वसतिका, आहार आदि मात्र ही बाह्य साधन हैं और जिनके ज्ञानचारित्र की प्रवृत्ति स्वाधीन है, उनके गमन, आसन, शयन आदि क्रिया में जीव आ जावें तो स्वयं अन्यक्षेत्र में हट जावें, उन जीवों को पीडा न दें, उनके उत्कृष्ट अपहृत संयम है तथा जो कोमल मयूरपिच्छिका आदि से उन जीवों को दूर हटा दें, उनके मध्यम अपहृत संयम है तथा अन्य उपकरण से उन (जीवों) को इस प्रकार दूर कर दें कि उनको बाधा न हो, उनके जघन्य अपहृत संयम है तथा देशकाल के विधान के ज्ञाता जिनने पर के उपरोध अर्थात् वश से काय (के प्रति ममत्व) छोड़ा है और मन, वचन, काय का गुप्तिरूप निरोध किया है, ऐसे मुनि को रागद्वेष का उत्पन्न न होना उपेक्षा संयम है।

भावार्थ : यदि कोई दुष्ट उपसर्ग करे, प्राण भी ले, तो ध्यान में स्थित हो और किंचितमात्र भी रागद्वेष न उपजावे, उसके उपेक्षा संयम है।

यहाँ अपहृत संयम पालने के लिये आठ प्रकार की शुद्धि का उपदेश दिया गया है– भावशुद्धि, कायशुद्धि, विनयशुद्धि, ईर्यापथशुद्धि, भिक्षाशुद्धि, प्रतिष्ठापनशुद्धि, शयनासनशुद्धि, वाक्यशुद्धि। जो कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न तथा मोक्षमार्ग की रूचि से हुई प्रसन्नता सहित तथा राग आदि के उपद्रव से रहित हो, वह **भावशुद्धि** है। इसके होने पर आचरण प्रकाशरूप शोभित होता है, जैसे संवारी और उज्ज्वल की गई भीत (दीवार) में चित्र शोभित होता है, वैसे शोभित होता है तथा जो निरावरण रहे, आभरण आदि के संवारने से रहित हो, जन्मते बालक की जैसे मल सहित हो, कुछ भी विकार वाला न हो, जिसकी प्रवृत्ति यत्नपूर्वक हो, तथा मूर्तिमान शान्तरूप सुख को दिखाने वाली **कायशुद्धि** है। इसके होने पर स्वयं के तथा स्वयं से अन्य को भय नहीं उत्पन्न होता है।

तथा अरिहन्त आदि परमगुरुओं में जहाँ यथायोग्य पूजा प्रवर्ते, ज्ञान आदि में यथाविधान भक्ति सहित हो, जिसमें सदा गुरुओं के अनुकूल प्रवृत्ति रहे, प्रश्न, स्वाध्याय, वाचना, कथा, विधान आदि

की प्रवृत्ति में कारणरूप हो, देश-काल-भाव को जानने में जहाँ प्रवीणता हो, आचार्यों के अनुसार जहाँ प्रवर्तन हो, वह **विनयशुद्धि** है। यह पुरुष का भूषण है, इससे पुरुष शोभित होता है और यह (विनयशुद्धि) संसार समुद्र को तिरने के लिये नाव तुल्य है।

तथा जो नानाप्रकार के जीवों के स्थान योनि आश्रय के ज्ञान से उत्पन्न यत्न से जिसमें जीवों की पीड़ा का परिहार है तथा अपने ज्ञानसूर्य के प्रकाश में नेत्रों से देखे (शोधे) क्षेत्र में गमन हो तथा जो अतिशीघ्र, अतिमंद तथा जो शरीर को भ्रमाने के विस्मय के क्रीडारूप तथा विकार सहित तथा दश दिशाओं के अवलोकन आदि दोषों से रहित जिसमें गमन हो, वह **ईर्यापथशुद्धि** है। इसके होने पर संयम प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। जैसे न्यायमार्ग पर चलने से संपदा प्रतिष्ठा प्राप्त करती है।

तथा जिसमें उभयप्रचार अर्थात् मलमूत्र की बाधा की परीक्षा है, विचार है तथा जिसमें अगले पिछले अंग प्रदेशों का शुद्ध करना, धोना है तथा आचारसूत्र में कहे अनुसार देशकाल की प्रवृत्ति के ज्ञान से प्रवीणता है और जिसमें लाभ, अलाभ, मान, अपमान में मन की वृत्ति समान है और लोकनिंद्य कुल की वर्जना में तत्पर है तथा जिसमें चन्द्रमा की गति की तरह हीनाधिक गृह में प्रवेश का विशेष नहीं है तथा जहाँ दीन-अनाथ आदि के लिये दानशाला हो तथा जहाँ विवाह तथा यत्न आदि हो, ऐसे घरों में जहाँ प्रवेश का निषेध है, दीनवृति से रहित है तथा जिसमें प्रसूक आहार की तलाश है तथा जिसमें आगम कथित निर्दोष आहार से प्राणयात्रा मात्र फल की प्राप्ति है, ऐसी **भिक्षाशुद्धि** है। इससे चारित्ररूप संपदा का सम्बन्ध है तथा गुणों की संपदा की तरह साधुओं की सेवा का कारण है। यह भिक्षा पांच प्रकार की प्रसिद्ध है - गोचरी, अक्षमृक्षण, उदराग्निशमन, भ्रमराहार, गर्तपूरण। जिसमें लाभ, अलाभ तथा सरस-विरस आहार में समान सन्तोष होने से भिक्षा नाम है।

तथा जैसे गाय घास चरती है, वहाँ घास डालने वाला स्त्री पुरुष क्रीडासहित सुन्दर आभूषण आदि पहने घास डाल रहा है तो गाय उसके अंग की सुन्दरता को नहीं निरखती उस घास की प्राप्ति में ही दृष्टि रहती है अथवा अनेक प्रकार के घास के तृण हो, उनको जैसे मुख में आवें वैसे चरने में ही दृष्टि रखती है, देने वाले की संपदा की तरफ नहीं देखती, उसी प्रकार मुनि भी आहार देने वाले के रूप आदि की तरफ नहीं देखते तथा सूखे, गीले, रूखे, चिकने आहार की तरफ नहीं देखते, जैसा प्राप्त हो वैसा खा लेते हैं, उसको गोचरी (वृति) कहते हैं तथा इसका नाम गवेषणा भी है।

तथा जैसे रत्नों के भार से भरे गाड़े को व्यापारी जिस तिस प्रकार घी आदि का अक्ष अर्थात् धुरी में वागी देकर अपने वांछित देशान्तर को ले जाता है, वैसे ही मुनि भी गुणरूपी रत्नों से भरे शरीर रूपी गाड़े को निर्दोष आहार देकर शरीररूपी अक्ष को लेकर वांछित जो समाधिरूपी नगर है, वहाँ पहुंचाते

हैं। इसे अक्षमृक्षण कहते हैं।

तथा जैसे भंडार में अग्नि लग जाने पर उस भंडार का मालिक जैसे-जैसे उस अग्नि को बुझाकर अपने धन की रक्षा करता है, वैसे ही मुनि भी शरीर की उदराग्नि को बुझाकर अपने गुणरत्नों की रक्षा करते हैं। इसे उदराग्निप्रशमन कहते हैं।

तथा प्रवीण मुनि दाता को बाधा के बिना भ्रमर की तरह जैसे भ्रमर पुष्प को बाधा नहीं पहुंचाता है, वैसे आहार लें, उसे भ्रमराहार कहते हैं।

तथा जिस प्रकार गड्ढे को जिस तिस प्रकार कूड़े आदि से भरते हैं, उसी प्रकार मुनि भी उदररूप गड्ढे को सुस्वाद, दुस्वाद आहार से भरते हैं, उसे गर्तपूरण कहते हैं।

तथा नख, रोम, कफ, थूक, मलमूत्रक्षेपण तथा देह को छोड़ना आदि करते जिनने देश (स्थान) को जाना है, ऐसे मुनि जीवों को देखकर इनका क्षेपण करते हैं - यह **प्रतिष्ठापना शुद्धि** है तथा जहाँ स्त्री, क्षुद्रजन, चोर, वधिक अर्थात् शिकारी तथा शाकुनिक अर्थात् पक्षियों को मारने वाले इत्यादि पापीजन बसते हों तथा श्रंगार आदि विकार सहित भूषण आदि से उज्ज्वल वेशसहित वेश्या आदि जहाँ क्रीडा करने आती हों तथा गीत वाद्ययंत्र बजाना, नृत्य आदि करती हो, उन स्थानों में मुनि शयन, आसन नहीं करते हैं। अकृत्रिम पहाड़ों की गुफाओं, वृक्षों के कोटरों तथा कृत्रिम सूने (खाली) घर जिन्हें लोगों ने छोड़ दिया हो, ऐसे स्थानों जो उनके उपदेश से नहीं बने हों, वहाँ आरंभ रहित होकर सोते, बैठते हैं, इसे **शयनासनशुद्धि** कहते हैं।

तथा पृथ्वी आरंभ आदि की जिसमें प्रेरणा न हो तथा कठोर निर्लज्ज आदि (शब्द) जिनसे अन्य को पीड़ा हो, ऐसे न हों एवं व्रत शील आदि के उपदेश की जिसमें प्रधानता हो तथा हितकर मर्यादासहित मधुर मान आदर सहित जो संयमियों के योग्य वचनपूर्वक प्रवर्तना **वाक्यशुद्धि** है। इसके आश्रय से सारी संपदा है। इस प्रकार संयम धर्म का कथन किया।

तथा कर्मों के क्षय के लिये तप ग्रहण करना तप है। यह (तप) बारह प्रकार का है, जिसका कथन आगे करेंगे।

तथा संयमियों के योग्य ज्ञान आदि का देना त्याग है।

तथा शरीर आदि परिग्रह विद्यमान रहें उनमें भी ये मेरे हैं - ऐसे ममत्व भाव का अभिप्राय न होना आकिंचन्य है। जिसमें किंचन अर्थात् कुछ भी नहीं है, उसे आकिंचन कहते हैं। उसका भाव अथवा कर्म हो, वह आकिंचन्य है - ऐसा इसका अर्थ है।

तथा पूर्व में स्त्रियों के भोग किये थे, उन्हें याद न करना, स्त्रियों की कथा न सुनना, जहाँ स्त्रियों की संगति हो, वहाँ शयन आसन न करना आदि से ब्रह्मचर्य परिपूर्ण ठहरता है अथवा अपनी इच्छा से

स्वच्छंद प्रवृति के निवारण के लिये गुरु के निकट रहना ब्रह्मचर्य है; क्योंकि ब्रह्म अर्थात् गुरु के चरण अर्थात् उनके अनुसार प्रवर्तन करना, यह भी ब्रह्मचर्य का अर्थ होता है। इस प्रकार धर्म दश प्रकार का है।

इन भेदों में से कुछ गुप्ति समिति में गर्भित है, तब भी पुन: कहने में पुनरुक्ति नहीं होती है; क्योंकि इनके संवर धारण की सामर्थ्य है, अत: धर्म संज्ञा सार्थक है अथवा गुप्ति आदि की रक्षा के लिये ऐर्यापथिक, रात्रिक, दैवसिक, पाक्षिक, चतुर्मासिक, सांवत्सरिक, उत्तमस्थान – इस तरह सात प्रकार के अकाल प्रतिक्रमण का उपदेश है। उसी प्रकार उत्तम क्षमा आदि दश प्रकार के धर्मों का भी अलग से उपदेश दिया है; अत: पुनरुक्ति नहीं है तथा इन सबके उत्तम विशेषण लगा है, वह इस लोक सम्बन्धी दृष्ट प्रयोजन के निषेध के लिये है तथा इन धर्मों के गुणों की तथा इनके प्रतिपक्षी क्रोध आदि दोषों की भावना से ये धर्म संवर का कारण होते हैं। वह ही बताते हैं।

व्रतों की व शील की रक्षा होना, लोक-परलोक में दु:ख न होना, सर्व जीवों में सम्मान-सत्कार-आदर का होना इत्यादि क्षमा से होते हैं तथा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का नाश होना, प्राणों का नाश होना आदि दोष (विपक्षी) क्रोध से होते हैं।

यदि कोई अन्य पुरुष हमें क्रोध उत्पन्न करने वाला कारण मिलावे, वहाँ ऐसा चिन्तवन करना चाहिये कि हममें ऐसा दोष है, उसका वह अन्य पुरुष निषेध कर रहा है। तब स्वयं ऐसा विचारे कि मुझमें ये दोष हैं, यह क्या झूठ कह रहा है? ऐसा विचार कर क्षमा करना। यदि स्वयं में दोष न हों तो ऐसा विचारे कि ये कह रहा है, वे दोष मुझमें नहीं है वह बिना समझे अज्ञान से कह रहा है, अज्ञानी पर क्या क्रोध करना ? ऐसा विचार कर क्षमा करना। तथा अज्ञानी का बालकवत् स्वभाव विचारना। कोई अज्ञानी परोक्ष में दुर्वचन कहे, तब यह विचारना कि यह तो परोक्ष में कह रहा है, अज्ञानी तो प्रत्यक्ष में भी कहते हैं, इसने मुझे प्रत्यक्ष में तो नहीं कहा, यह ही अच्छा हुआ। यदि प्रत्यक्ष में भी कहे तो ऐसा विचारना कि अज्ञानी तो पीटते भी हैं, यह तो दुर्वचन ही कह रहा है, सो भला ही है। यदि पिटाई भी करे तो ऐसा विचारना कि अज्ञानी तो प्राणघात भी करते हैं, यह तो पिटाई ही कर रहा है, प्राणघात तो नहीं किया, यह ही भला हुआ। तथा यदि प्राणघात भी करे तो ऐसा विचारना कि अज्ञानी तो धर्मविध्वंस भी करता है, यह प्राणघात ही कर रहा है, धर्मविध्वंस तो नहीं किया, यह ही भला हुआ तथा विचारे कि यह तो मेरा ही अपराध है, जो पूर्व में मैंने कर्म बांधे थे, उनका फल यह दुर्वचन आदि सुनना है, अन्य तो निमित्तमात्र है – ऐसा चिंतवन करना।

तथा जो मार्दवधर्म से युक्त होता है उस पर गुरु अनुग्रह करते हैं, साधु भला मानते हैं, तब सम्यग्ज्ञान आदि का पात्र हो, उससे स्वर्ग मोक्षफल की प्राप्ति हो, यह मार्दव के गुण हैं।

तथा मान से मैला मन हो, उसमें व्रत शील आदि गुण नहीं ठहरते। साधु पुरुष उसे छोड़ देते हैं। यह मान सभी आपदाओं का मूल है। ये मान कषाय के दोष हैं।

तथा जिसका हृदय मायाचार रहित सरल हो, उसमें (गुण) ठहरें, मायाचार वाले का आश्रय गुण नहीं करते हैं, वह निंद्यगति प्राप्त करता है। ये आर्जव के गुण और मायाचार के दोष हैं।

तथा शौच धर्म से युक्त पुरुष का सभी सम्मान करते हैं, सभी विश्वास करते हैं, उसमें सभी गुण निवास करते हैं। लोभी के हृदय में गुण स्थान नहीं पाते हैं। वह परलोक में और इस लोक में बड़ी आपदा पाता है। ये शौच के गुण और लोभ के दोष हैं।

तथा सत्यवचन कहने वाले में सभी गुण निवास करते हैं, सभी संपदा रहती है। झूठ बोलने वाले की बंधुजन भी अवज्ञा करते है। मित्र भी उसे छोड़ देते हैं। जीभ छेदन, सर्वस्वहरण आदि आपदा आती है। ये सत्य के गुण और असत्य के दोष हैं।

संयम आत्मा का हित है। जिसके संयम होता है, वह लोक से पूज्य होता है, परलोक का क्या कहना ? असंयमी प्राणियों के घात से और विषयों के राग से अशुभ कर्म बांधता है। ये संयम के गुण तथा असंयम के दोष है।

तप सर्वप्रयोजन की सिद्धि करने वाला है। तप से ही ऋद्धियाँ उत्पन्न होती हैं। तपस्वियों के रहने के क्षेत्र भी तीर्थ हो जाते है। जिसके तप नहीं है, वह तृण से भी छोटा है। सर्वगुण उसे छोड़ देते हैं। तप के बिना संसार से छूटना भी नहीं होता है। ये तप के गुण और तपरहित के दोष हैं।

परिग्रह का त्याग है वह दान है। यह पुरुष का हित है। परिग्रह के त्याग वाला सदा निर्वेद रहता है, उसका मन उज्ज्वल रहता है। वह पुण्य का निधान है। परिग्रह की आशा बलवान है, सर्व दोषों को उपजाने की खान है; क्योंकि इससे तृप्ति नहीं होती। जैसे समुद्र जल से तृप्त नहीं होता है, वैसे वह तृप्त नहीं है। इस आशारूपी गड्ढे को कैसे भरा जा सके ? जिसमें सभी वस्तुएँ डाल दी जावे, तब भी खाली ही रहता है। इस तरह त्याग के गुण और तृष्णा के दोष हैं।

जिसके शरीर आदि में ममत्व नहीं होता है, वह परमसुख को प्राप्त करता है। जिसके ममत्व होता है, वह सदा शरीर सम्बन्धी दुःख भोगता है। ये आकिंचन्य के गुण और ममत्व के दोष हैं।

ब्रह्मचर्य पालने वाले के हिंसा आदि दोष नहीं लगते हैं। उसमें सर्वगुण संपदा का वास होता है तथा जो स्त्री का अभिलाषी है, उसके सर्व आपदायें आ लगती हैं। ये ब्रह्मचर्य के गुण और अब्रह्म के दोष हैं।

इस तरह उत्तम क्षमा आदि के गुण और इनके प्रतिपक्षी क्रोध आदि के दोषों का चिंतवन करने से क्रोध आदि का अभाव होकर उनके निमित्त से जो कर्मों का आस्रव होता था, उसकी निवृत्ति होकर

बड़ा संवर होता है। ये धर्म अविरत सम्यग्दृष्टि आदि के जितनी क्रोध आदि की निवृति होती है, उतने यथासंभव होते हैं तथा मुनियों के प्रधानरूप से होते हैं।

आगे **शिष्य कहता है** – क्रोध आदि की उत्पत्ति का न होना क्षमा आदि के अवलंबन से होता है, ऐसा कहा है। तब यह आत्मा क्षमा आदि का अवलम्बन कैसे करे ? जिससे क्रोध आदि उत्पन्न न हों।

ऐसा **पूछने पर कहते हैं** – जैसे तपाया हुआ लोहे का पिंड अग्नि से तन्मय होता है, उसी प्रकार क्षमा आदि में तन्मय हो जावे, तब क्रोध आदि नहीं उत्पन्न होते हैं; अत: आत्महित का वांछक है, वह बारह अनुप्रेक्षाओं का बार-बार चिंतवन करे।

।। अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभ-धर्मस्वाख्यातत्त्वानुचिंतनमनुप्रेक्षा: ।। ९-७ ।।

अर्थ : अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ, धर्मस्वाख्यातत्व - इन बारह भावनाओं का चिंतवन करना अनुप्रेक्षा है।

वहाँ उपात्त अर्थात् लगे हुये और अनुपात्त अर्थात् बाह्य द्रव्य - इनके संयोग से वियोग होना, अनित्यता है।

वहाँ आत्मा के राग आदिरूप परिणामों से कर्मनोकर्मभावरूप ग्रहण किये पुद्गल द्रव्य तो उपात्त कहे जाते है। तथा जो परमाणु आदि बाह्य द्रव्य हैं, वह अनुपात्त है। इन सबके द्रव्यस्वरूप से तो नित्यपना है तथा पर्याय स्वरूप से संयोग वियोग रूप है; अत: अनित्यता है। अत: यह शरीर इन्द्रियों के विषय उपभोग परिभोग द्रव्य है, वह समुदायरूप हुये जल के बुदबुदे की तरह अनवस्थित स्वभावरूप है। ये गर्भ से लेकर जो अवस्था के विशेषों में सदा संयोग वियोग जिनमें पाया जाता है, इनमें अज्ञानी जीव मोह के उदय के वश नित्यता मानता है। पर संसार में कुछ भी ध्रुव नहीं है। आत्मा का ज्ञानदर्शनरूप उपयोग स्वभाव ही ध्रुव है – ऐसा चिंतवन करना **अनित्यानुप्रेक्षा** है। इस प्रकार इस (अनुप्रेक्षा) का चिंतवन करने वाले भव्यजीव के शरीर आदि में प्रीति के अभाव में जैसे भोगकर छोड़े भोजन गंधमाला आदि की तरह वियोग काल में शोक आदि नहीं उपजते हैं।

इस संसार में जन्म, जरा, मरण, व्याधि, मृत्यु आदि कष्ट आपदा सहित भ्रमते इस जीव को कोई भी शरण नहीं है। जैसे मृग के बच्चे को एकान्त उद्यान में भूखे मांस के इच्छुक बलवान बघेरे ने पकड़ लिया हो तो उसको कुछ भी शरण नहीं है, उसी प्रकार तथा इस शरीर का भली प्रकार पोषण करते हैं, तब भोजन करने तक सहाय है कष्ट आने पर कुछ भी सहाय नहीं है। बहुत यत्नपूर्वक संचित धन भी भवान्तर में साथ नहीं जाता है तथा जिनके साथ बांटकर सुख दु:ख भोगता है, वे मित्र भी मरण काल

में रक्षा नहीं करते है तथा रोग से ग्रसित हो जाने पर कुटुंब के भले (सदस्य) हों वे भी प्रतिपाल नहीं कर सकते है। यदि भले प्रकार धर्म का आचरण किया हो, तो यह धर्म अविनाशी होने के कारण संसार के कष्टरूपी समुद्र से तिरने का उपाय है। यह प्राणी काल (मृत्यु) द्वारा ग्रहण किया हुआ हो तब इन्द्र आदि भी शरण नहीं होते है; अत: कष्ट में धर्म ही शरण है यह ही धन है। यह अविनाशी है और इसके अतिरिक्त कुछ भी शरण नहीं है। ऐसा चिंतवन करना **अशरण अनुप्रेक्षा** है। इसको इस प्रकार चिंतवन करने में (मैं) सदा अशरण हूँ। इस प्रकार संसार से विरक्ति होने से संसार सम्बन्धी वस्तुओं में ममत्व का अभाव होता है और भगवान अरहंत सर्वज्ञ द्वारा प्रणीत मार्ग में यत्न होता है।

कर्म के उदय के वश आत्मा को भवान्तर की प्राप्ति (होते रहना) संसार है। वहाँ पहले पंच परिवर्तन का व्याख्यान किया ही था। उनमें अनेक योनि कुल कोटि आदि लाखों में बहुत संकट पाये है। इस तरह के संसार में भ्रमण करता यह जीव कर्म रूपी यंत्र द्वारा प्रेरित पिता होकर भाई हो जाता है तथा पुत्र हो जाता है, पिता हो जाता है, माता होकर बहन हो जाता है, स्त्री हो जाता है, पुत्री हो जाता है तथा स्वामी होकर नौकर हो जाता है, दास होकर स्वामी हो जाता है। जैसे नट अनेक स्वांग धारण करके नाचता है, वैसे अनेक पर्यायें धारण कर भ्रमता है। बहुत क्या कहें ? स्वयं ही स्वयं का पुत्र हो जाता है इत्यादि संसार के स्वभाव का चिंतवन करना **संसार अनुप्रेक्षा** है। इसका ऐसा चिंतवन करने से पुरुष को संसार के दु:ख के भय से उद्वेग होकर वैराग्य भाव होता है। तब संसार के नाश करने का यत्न करता है। ऐसी यह संसारानुप्रेक्षा है। इस संसार भावना में ऐसा विशेष जानना कि आत्मा की चार अवस्थायें है – संसार, असंसार, नोसंसार, तत्रितयव्यपेत। चार गतियों में अनेक योनियों में भ्रमण करना तो संसार कहा जाता है तथा चार गतियों से रहित होकर पुन: न आना मुक्त होना असंसार है। वहाँ शिवपद में परमआनन्द अमृतरूप में लीन रहता है तथा सयोग केवली को नोसंसार कहा जाता है; क्योंकि चतुर्गति भ्रमण का तो अभाव हुआ तथा मुक्त हुये नहीं, प्रदेशों का हलन चलन पाया जाता है; अत: ईषतसंसार (अल्पसंसार) है उसे नोसंसार कहते है। तथा चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगकेवली के तत्रितयव्यपेत है; क्योंकि चतुर्गति का भ्रमण रहा नहीं मुक्त हुये नहीं, अत: असंसारी भी नहीं है और प्रदेशों का चलन नहीं है, अत: नोसंसारी भी नहीं है। इस प्रकार तीनों अवस्थाओं से भिन्न ही अवस्था है, उसे तत्रितयव्यपेत नाम से कहा जाता है। यह संसार अभव्य की अपेक्षा और भव्यसामान्य की अपेक्षा तो अनादिनिधन है और भव्य विशेष की अपेक्षा सादि सनिधन है तथा नो संसार है वह सादि निधन है तथा असंसार सादि अनिधन है एवं तत्रितयव्यपेत अयोगकेवली का अन्तर्मुहूर्त काल है।

तथा पंचपरावर्तनरूप संसार का व्याख्यान पहले किया ही था, उसका संक्षेप इस प्रकार है।

द्रव्यनिमित्त संसार तो चार प्रकार का है – कर्म नोकर्म वस्तु विषय इनके आश्रय से चार भेद होते हैं तथा क्षेत्रनिमित्त के दो भेद है – स्वक्षेत्र परक्षेत्र। यह आत्मा लोकाकाश तुल्य असंख्यातप्रदेशी है, वह कर्म के वश संकोच विस्तारूप हीनाधिक अवगाहना से परिणमे वह तो स्वक्षेत्र संसार है तथा जन्मयोनि के भेद से लोक में उत्पन्न हो लोक को स्पर्शे वह परक्षेत्र संसार है तथा काल निश्चय व्यवहार से दो प्रकार का है। उसमें निश्चय काल द्वारा वर्ताया क्रियारूप तथा उत्पादव्ययध्रौव्यरूप परिणाम तो निश्चयकाल निमित्त संसार है और अतीत–अनागत–वर्तमान रूप भ्रमण व्यवहारकाल निमित्त संसार है।

तथा भवनिमित्त (संसार – परावर्तन) के बत्तीस भेद हैं। उनमें पृथ्वी, अप, तेज, वायुकायिक के भव सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त, अपर्याप्त से सोलह (४ गुणा ४ = १६) है। प्रत्येक वनस्पति के पर्याप्त–अपर्याप्त से दो भेद है। साधारण वनस्पति के सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त, अपर्याप्त के भेद से चार भेद है तथा दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय के पर्याप्त व अपर्याप्त से छह है तथा पंचेन्द्रिय के संज्ञी, असंज्ञी, पर्याप्त व अपर्याप्त से चार भेद – इस प्रकार बत्तीस भेद हुये।

तथा भावनिमित्तक संसार दो प्रकार का है – स्वभाव, परभाव। मिथ्यादर्शन आदि अपने भाव स्वभाव है तथा ज्ञानावरण आदि कर्म का रस परभाव है। ऐसा संक्षेप जानना।

जन्म–जरा–मरण की आवृत्ति के महादु:ख भोगने के लिये मैं एक (अकेला) ही हूँ। मुझे कोई मेरा नहीं तथा मुझे कोई पर नहीं। मैं एक ही जन्मता हूँ, एक ही मरता हूँ। मेरे कोई स्वजन नहीं है तथा मेरे कोई परजन भी नहीं है, जो मेरे व्याधि, जरा, मरण आदि को मेटे। बंधु, मित्र आदि मेरे मरण के बाद शमशान तक जाते हैं, आगे जाते नहीं। धर्म ही मेरी सहाय है, जो सदा अविनाशी है। ऐसा चिंतवन करना **एकत्वानुप्रेक्षा** है। इस प्रकार इसे भावने वाले पुरुष को स्वजनों में तो राग नहीं उत्पन्न होता है एवं परजनों में द्वेष नहीं उत्पन्न होता है। तब नि:संगता को प्राप्त हुआ मोक्ष ही का यत्न करता है।

शरीर आदि के अन्यपने का चिंतवन अन्यत्वानुप्रेक्षा है। वही बताते है – बंधक (एक क्षेत्रावगाहपने की) अपेक्षा तो शरीर और आत्मा के एकत्व है, फिर भी उपलक्षण के भेद से भेद है; अत: मैं शरीर से अन्य हूँ शरीर अन्य है। शरीर तो इन्द्रिय गोचर है मूर्तिक है। मैं अतीन्द्रिय हूँ अमूर्तिक हूँ। शरीर तो अज्ञानी जड है मैं ज्ञान चेतनारूप चेतन हूँ। शरीर तो अनित्य है, मैं नित्य हूँ। शरीर तो आदि अंत सहित है, मैं अनादि अनन्त हूँ। इस संसार में भ्रमते मेरा शरीर लाखों बार बीता (नष्ट हुआ) पर मैं तो अनादि से ही था वही हूँ। शरीर तो अलग ही है। इस शरीर से मेरा अन्यत्व है तो बाह्य परिग्रह की क्या कथा ? ऐसा चिंतवन करने पर इस आत्मा के मन में समाधान होता है, शरीर आदि में वांछा

उत्पन्न नहीं होती। इसलिये यथार्थ ज्ञानभावनापूर्वक वैराग्य बढते बढते अन्तरहित मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है। ऐसी **अन्यत्वानुप्रेक्षा** है।

यह शरीर अत्यंत अशुचि दुर्गंध शुक्रशोणित की योनि है। अशुचि से ही बढा है, विष्ठा के स्थान की तरह अपवित्र है। अनादि से ऊपर से चमड़ी मात्र से ढका है। अतिदुर्गंधित रस के झरते निझर के बिल है। इसके आश्रय अन्यवस्तु हो, उसे भी अंगारे की तरह शीघ्र ही तत्काल अपने जैसा अपवित्र करता है। स्नान सुगंध का लेपन, धूप का वास, सुगंधमाला आदि से भी इसका अशुचिपना दूर नहीं होता तथा इसे सम्यग्दर्शन आदि से भूषित किया जावे तो जीव के अत्यंत शुद्धता प्रकट करता है। इस प्रकार इसके यथार्थ स्वरूप को विचारना **अशुचित्वानुप्रेक्षा** है। इसे इस प्रकार से विचारते पुरुष को शरीर से वैराग्य उत्पन्न होता है। तब वैरागी होता हुआ संसार समुद्र से पार होने के लिये चित्त को समाधानरूप करता है। इसका विस्तार ऐसा है – अशुचिपना दो प्रकार का है – लौकिक, अलौकिक। आत्मा कर्ममल कलंक को धोकर अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित होना, अलौकिक शुचिपना है। इसके साधन सम्यग्दर्शन आदि है अथवा ये जिनके पाये जाते है, ऐसे महामुनि हैं तथा उन मुनियों के आश्रित जो निर्वाण क्षेत्र आदि तीर्थ हैं, ये शुद्ध आत्मा की प्राप्ति के उपाय हैं। अत: इनकी भी नाम शुद्धि कही जाती है तथा लौकिक शुचिपना लोक आठ प्रकार से मानता है – काल, अग्नि, पवन, भस्म, मृतिका (मिट्टी), गोमय, जल, ज्ञान; क्योंकि इनके निमित्त से ग्लानि मिटती है। पर ये आठों ही प्रकार इस शरीर को पवित्र शुचि करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि यह शरीर अत्यन्त अशुचि है। इसकी जहाँ उत्पत्ति होती है, वह भी अशुचि है। यह उत्पन्न हुआ तब भी अशुचि था। देखो ! कवलाहार मुंह में लेते ही श्लेष्मा के स्थान को प्राप्त होकर श्लेष्मा से मिलकर द्रवित होता है। उसके बाद पित्त के स्थान पर जाकर पचकर अशुचि हो जाता है। फिर पचकर वात के स्थान पर जाकर वात के द्वारा भेद किया हुआ खलरस भाग में परिणमता है। इन सबका भाजन भिष्ठा के स्थान की तरह है। खलभाव तो मलमूत्र आदि विकार रूप होता है और रसभाव रुधिर, मांस, मेद, मज्जा, शुक्र रूप होता है। इसे पवित्र करने का उपाय कुछ भी नहीं है।

आस्रव और संवर-निर्जरा का कथन पहले किया था, वही यहाँ भी कहते हैं। इनसे उत्पन्न गुण तथा दोष के चिंतवन के लिये कहे थे, वह ही कहते हैं। ये आस्रव इसलोक और परलोक में नाश और दुर्गति के कारण हैं। महानदी के वेग प्रवाह की तरह महातीक्ष्ण हैं। ये इन्द्रिय, कषाय, अव्रत आदि हैं। वहाँ प्रथम तो स्पर्शन आदि इन्द्रियाँ जीवों को कष्ट रूप समुद्र में डालती हैं। देखें – वन का बहुत बलवान हाथी भी स्पर्शन इन्द्रिय के वशीभूत हुआ, तब मद से अंधा हुआ कपट की हथिनी में सच्ची का भ्रम करके खंदक (गड्ढे) में जा गिरता है, तब मनुष्य के वश होकर बंधन वहन अंकुश के

घात आदि के तीव्र दु:ख सहता है। अपने समूह में स्वच्छंद विहार को अपने वनवास को सदा याद करता खेद को प्राप्त होता है।

तथा जिव्हा इन्द्रिय के वशीभूत हुआ कौआ मरे हुये हाथी के शरीर पर बैठा था, तब नदी के प्रवाह में हाथी बह चला तब कौआ भी चला, समुद्र में जा गिरा। वहाँ से उड़कर निकलने में समर्थ नहीं हुआ, वहाँ ही कष्टपूर्वक मरा। उस ही प्रकार मांस के लोभी जाल में पड़कर मरते हैं।

घ्राण इन्द्रिय के वशीभूत हुआ पतंगा दीपक की लौ पर पड़कर मर जाता है।

श्रोत्रइन्द्रिय के वशीभूत हुआ हिरण वधिक के गाने की ध्वनि सुनकर खाना पीना छोड़कर विचारना भूलकर व्याध के पास आ जाता है, तब पकड़ा जाता है और वह (व्याध) कष्ट के समुद्र में डालकर प्राण ले लेता है। इस ही प्रकार अन्य भी प्राणी इन इन्द्रियों के वशीभूत हुये इस लोक में अनेक दु:ख और परलोक में दुर्गति प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार कषाय आदि भी इस लोक में वध-बंधन आदि महाक्लेश उत्पन्न करते हैं। परलोक में अनेक दु:खों से प्रज्वलित नानागतियों में भ्रमण कराते हैं। इस प्रकार आस्रव के दोषों का चिंतवन करना **आस्रव अनुप्रेक्षा** है। ऐसा चिंतवन करते पुरुष के क्षमा आदि में कल्याणपने की बुद्धि दूर नहीं होती (बनी रहती है)। ये जो आस्रव के दोष कहे वे कछुए की तरह जिन्होंने अपने आत्मा को संवररूप किया है, उनके नहीं होते है। जैसे समुद्र में नाव के दोष (छेद) को भली प्रकार बन्द कर देने पर निरुपद्रवरूप से वांछित देश पहुंच जाते है, पर यदि छिद्र को बन्द न किया जावे तो नाव जल से भर जाने पर नाव में बैठे मनुष्यों का विनाश होता है, उसी प्रकार कर्म के आने के द्वार का संवर (को रोक देते) करने पर कल्याणरूप मोक्ष के प्रतिबंधक कर्म नहीं आ पाते है। इस तरह संवर के गुणों का चिंतवन करना **संवरानुप्रेक्षा** है। इसका चिंतवन करने वाले के नित्य संवर में उद्यम प्रवर्तता है, जिससे मोक्षपद की प्राप्ति होती है।

निर्जरा वेदना का विपाक है, ऐसा कहा है। यह दो प्रकार की है - अबुद्धिपूर्वा, कुशलमूला। उनमें नरक आदि में जो कर्म के फल के विपाक से निरंतर स्वयमेव उपजे (कर्मों का झड़ना होता) है, वह तो अबुद्धिपूर्वक है, वह तो अकुशलमूला है, इससे तो कोई कल्याण नहीं है तथा परिषह के जीतने पर हो वह कुशलमूला कही जाती है। इसकी दो रीतियाँ हैं, एक तो जो आगामी शुभ कर्म का बंधन करती है। तथा दूसरी केवल निर्जरा ही है, आगामी बंध नहीं करती है। यहाँ ऐसा जानना - कुछ राग के आशय से हो वहाँ तो शुभकर्म बंधते है और जहाँ राग का आशय नहीं होता केवल शुद्धोपयोग ही होता है, वहाँ बंध का अभाव है। जहाँ-जहाँ राग का आशय हीन तथा अधिक होता है, वहाँ वैसा-वैसा (कर्म का कम अथवा अधिक बंध) जानना। इस तरह चिंतवन करना **निर्जरानुप्रेक्षा**

है। इसके चिंतवन युक्त पुरुष के कर्म की निर्जरा करने के लिये प्रवृत्ति होती है।

लोक के संस्थान आदि की विधि पहले कही थी। सब ओर अनन्त आकाश के बहुमध्यदेश बीच ही बीच (ठीक मध्य - बीच) में स्थित लोक के संस्थान आदि स्वभाव का चिंतवन करना **लोकानुप्रेक्षा** है। इस प्रकार इसका चिंतवन करते पुरुषों के यथार्थ लोक को जानने से ज्ञान संशय आदि से रहित उज्ज्वल होता है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि अपने स्वभाव की लब्धि की अप्राप्ति बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा है। एक निगोदिया के शरीर में सिद्धराशि से अनन्तगुणे जीव हैं, उन शरीरों से सर्वलोक अन्तरहित भरा है। यह सर्वज्ञ के आगम से प्रमाण है। दोइन्द्रिय आदि जीव इनसे निपट थोड़े (बहुत ही कम) है; अत: त्रसपर्याय का प्राप्त करना जैसे बालूरेत के समुद्र में हीरे की सूक्ष्म सी कणी गिर पड़े उसका फिर प्राप्त होना दुर्लभ है, वैसे दुर्लभ है। फिर भी विकलत्रय बहुत हैं, पंचेन्द्रिय उनसे थोड़े हैं। अत: पंचेन्द्रिय प्राप्त करना ऐसा दुर्लभ है, जैसे गुणों में कृतज्ञता अर्थात् किये उपकार का न भूलना दुर्लभ होता है,वैसे है। वहाँ भी तिर्यंच पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप आदि बहुत हैं, मनुष्य अल्प हैं। अत: मनुष्य पर्याय का प्राप्त होना ऐसा दुर्लभ है, जैसे खुले (सार्वजनिक) स्थान पर गिर पड़ी रत्न की राशि का पुन: मिल जाना दुर्लभ होता है। इस मनुष्यपर्याय को जाने के बाद पुन: मनुष्यपना प्राप्त कर पाना ऐसा दुर्लभ है जैसे कोई वृक्ष जल जावे, उसकी भस्म हो जावे, उसके परमाणु पुन: उस ही वृक्षपने के भाव को प्राप्त होना अतिदुर्लभ है।

तथा यदि पुन: मनुष्यत्व भी प्राप्त हो जावे तो भला देश, जिसमें हिताहित का विचार कर सकने वाले प्राणी बसते हों, वह पाना दुर्लभ है; क्योंकि पशुसमान मनुष्यों के देश बहुत हैं, भले देश थोडे हैं तथा वहाँ भी भला कुल पाना दुर्लभ है; क्योंकि पापकर्म सहित कुल बहुत हैं, भले कुल थोडे हैं तथा वहाँ भी बड़ी आयु पाना दुर्लभ है। उसमें भी भले इन्द्रियों को प्राप्त करना दुर्लभ है। उसमें भी बल पराक्रम पाना दुर्लभ है। वहाँ भी भला रूप, निरोग शरीर पाना दुर्लभ है तथा ये सब भी प्राप्त कर ले; पर धर्म का लाभ न हो तो सबका प्राप्त करना निरर्थक है। जैसे सुन्दर मुख प्राप्त हो, पर नेत्र से अंधा हो तो मुख की सुन्दरता व्यर्थ है तथा ऐसा दुर्लभ धर्म भी प्राप्त करके भी यदि विषय सुखों में आसक्त होना ही हो तो जैसे भस्म के लिये चन्दन को जला दिया जावे तैसे निष्फल गंवाना है। तथा यदि विषयों से विरक्ति भी हो तब भी उस पुरुष के तप की भावना, धर्म की प्रभावना, सुख से मरण करनेरूप समाधि होना दुर्लभ है तथा उसके भी होते स्वभाव की प्राप्तिरूप बोधि का लाभ हो तो फलवान है। ऐसा चिंतवन करना **बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा** है। इस प्रकार इसका चिंतवन करते पुरुष को बोधि प्राप्त करके कदाचित् भी प्रमाद नहीं होता है।

जिनेन्द्र द्वारा उपदेशित अहिंसा ही जिसका लक्षण है, सत्य को अधिकार कर प्रवर्तता है, विनय जिसका मूल है, क्षमा का जिसमें बल है, जिससे ब्रह्मचर्य की रक्षा है, उपशम अर्थात् कषायों के अभाव की जिसमें प्रधानता है, नियति अर्थात् नियम त्याग निवृत्ति जिसका स्वरूप है, निर्ग्रंथपना का जिसमें अवलम्बन है ऐसा जिनभगवान द्वारा धर्मस्वाख्यातत्त्व भले प्रकार से व्याख्यान किया गया है। इसके अलाभ के कारण यह जीव अनादि से संसार में भ्रमण कर रहा है। पापकर्म के उदय से उत्पन्न हुये दु:ख को भोगता हुआ भ्रमण करता है तथा इस धर्म के प्राप्त हो जाने पर अनेक प्रकार के इन्द्र आदि पदों की प्राप्तिपूर्वक नियम से मोक्ष की प्राप्ति होती है। ऐसा चिंतवन करना **धर्मस्वाख्यातत्त्वानुप्रेक्षा** है। इसका चिंतवन करते पुरुष के धर्म में अनुराग से सदा (मोक्षमार्ग का) उद्यम होता है। इसका कथन इस प्रकार भी है –जीव के धर्म गुणस्थान जीवस्थान मार्गणस्थान चौदह-चौदह बताये हैं, जिनके धर्मस्वाख्यातत्त्व अर्थात् भले प्रकार आख्यातपना (कथन) है। उनका चिंतवन करे। इनमें गुणस्थानों का कथन तो पहले किया ही था। चौदह जीव स्थानों का कथन भी पहले किया था। तथा मार्गणास्थान –गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञी, आहारक –ये चौदह है, उनका कथन भी पहले किया था। इनमें गुणस्थान जीवस्थान आगम में कहे हैं, उस प्रकार घटित कर लेना। इनका स्वरूप चिंतवन करते जीव के धर्मों की प्रवृत्ति भली प्रकार जानी जाती है, जिससे यथार्थ ज्ञान होता है। निश्चय व्यवहाररूप धर्म का स्वरूप जाना जाता है – ऐसा जानना।

इस तरह अनित्यत्व आदि अनुप्रेक्षा के साथ उत्तम क्षमा आदि धर्म को धारण करने से महान संवर होता है तथा धर्म एवं परिषहों के बीच में अनुप्रेक्षा का कथन करके ऐसा बताया है कि यह अनुप्रेक्षा चिंतवन करने वाला पुरुष धर्मों का तो पालन करता है, रक्षा करता है और परिषहों को जीतने का उत्साह करता है।

आगे पूछते हैं– ये परीषह क्या हैं, इनको किसलिये सहिये (जीता जाता) है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्या: परिषहा: ।। ९-८ ।।

अर्थ : मार्ग अर्थात् संवर से न छूटने के लिये तथा कर्मों की निर्जरा के लिये परिषह सहना। यहाँ संवर का प्रकरण है; अत: उसका विशेषण मार्ग कहा है। मार्ग संवर है, उससे च्युत न होने के लिये तथा कर्मों की निर्जरा के लिये परिषह का सहन करना कहा गया है। कष्ट आने पर मार्ग से च्युत न होना, उसके लिये परिषह सहना साधन है। क्षुधा, तृष्णा आदि बड़े-बड़े कष्ट सहने पर भी भगवान द्वारा भाषित मार्ग से न छूटते हुये, उस मार्ग में प्रवर्तते हुये कर्मों के आने के द्वार अर्थात् आस्रव का

संवर करते हुये अपने उद्यम से पचाये कर्म के फल भोगते हुये अनुक्रम से कर्म निर्जरते हैं, वे मुनि मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

आगे परिषह के निमित्त संज्ञा सूत्र (नाम बताने वाला सूत्र) कहते हैं –

।। क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्य्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनालाभरोग तृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि ।। ९–९ ।।

अर्थ : क्षुधा, तृषा, शीत, ऊष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, अदर्शन – ये बाईस परिषह हैं। ये क्षुधा आदि परिषह वेदना पीड़ा के विशेष हैं, जो बाईस हैं। मोक्ष के अर्थियों को इनको सहना चाहिये। ये कैसे हैं ? वह बताते हैं –

ऐसे (मोक्ष के अर्थी) महामुनि के **क्षुधा** का जीतना कहा है, वह कैसा है ? प्रथम तो भिक्षा वृत्ति करके अन्य के घर आहार लेते हैं, इसलिये तो उनका नाम भिक्षु है तथा निर्दोष आहार की तलाश करते हैं, दोष सहित जैसा तैसा आहार नहीं लेते है तथा उनकी क्षुधा की वेदना निर्दोष आहार का अलाभ होने पर अथवा अन्तराय आदि के कारण थोड़ा मिलने पर मिटती नहीं है तथा उनके अकाल में अथवा अयोग्य क्षेत्र में आहार लेने की वांछा नहीं होती। ऐसा नहीं है कि क्षुधा उत्पन्न होने पर उस ही काल आहार के लिये दौड़ पड़े और अयोग्य क्षेत्र में भी ले लें, ऐसा नहीं करते हैं तथा आवश्यक क्रियाओं को किंचितमात्र भी घटाते नहीं हैं। क्षुधा के निमित्त से चित्त न लगे तब सामायिक आदि क्रियाएं जैसे तैसे पूरी करें ऐसा नहीं है। स्वाध्याय और ध्यान की भावना में तत्पर रहते हैं तथा बहुत बार अपनी स्वेच्छा से (आहार नहीं) करते हैं। तथा प्रायश्चित आदि के निमित्त से, तप से संयुक्त अनशन, अवमौदर्य, नीरस आहार करते हैं, तथा इन तपों के निमित्त से क्षुधा तृषा की ऐसी दाह उत्पन्न होती है, जैसे गर्म बर्तन में पड़ी जल की बूंद तत्काल सूख जाती है वैसे आहार पानी लेते हैं, वह तत्काल सूख जाता है तथा अपने उठी हुयी क्षुधा वेदना को भिक्षा का अलाभ होने पर, लाभ से भी अधिक मानते हैं कि हमारा यह अनशन तप हुआ, बड़ा आनंद हुआ, ऐसा मानते हैं। क्षुधा का चिंतवन उनके नहीं होता। धन्य है वें मुनि जिनके परिणाम उज्ज्वल हैं। ऐसे मुनि का क्षुधा को जीतना सत्यार्थ है।

ऐसे (मोक्ष के अर्थी) मुनिराज को **तृषा परिषह** जीतना होता है, वे जल में स्नान अवगाहन (जल का) छिड़काव करने के त्यागी हैं। उनका बैठना, बसना पक्षी की तरह अनियत बताया है तथा हवा से, वन में बसने से, रूक्ष, सचिक्कण, प्रकृति विरुद्ध आहार के निमित्त से ग्रीष्म के आताप से पित्त, ज्वर, अनशन आदि तप आदि कारणों से उत्पन्न जो शरीर इन्द्रियों में दाह पीड़ा का प्रतिकार जल पीने की इच्छा में नहीं देखा है। वे तृषा रूपी अग्नि ज्वाला को धैर्य रूपी नये घड़े (मटके) में भरे शीतल सुगन्धित

समाधिरूपी जल से शमन करते हैं, बुझाते हैं। ऐसे मुनिराज का तृषा सहना सराहनीय होता है।

शीत का कारण निकट होने पर उनके इलाज की वांछा रहित संयम पालना **शीत** सहन है। उन मुनिराज ने वस्त्र आदि पहनना ओढना छोड़ा है। तथा उनने पक्षी की तरह बसने का स्थान निश्चित नहीं किया है। वृक्ष के मूल चौड़े मार्ग के शिलातल आदि में, पाला पड़ना, शीतल पवन का चलना आदि होने पर भी इनके इलाज की प्राप्ति नहीं चाहते हैं। पहले गृहस्थपने में शीत के उपचार के कारणों का जो भोग किया था उनको याद नहीं करते हैं। ज्ञान भावनारूपी गर्भागार अर्थात् मध्य का स्थान, बरामदा आदि में बसते रहते है। उनका शीत वेदना का सहना सराहनीय होता है।

दाह के इलाज की वांछा रहित चारित्र का पालना **ऊष्ण सहन** है। मुनि, जहाँ पवन नहीं है, जहाँ जल नहीं है, जहाँ सूर्य की किरणों के कारण वृक्षों के पत्ते झड गये हैं और वे छाया रहित हो गये है, ऐसे वन के बीच में अपनी इच्छापूर्वक स्थित होते है। उनको अनशन आदि तपरूपी अभ्यंतर कारणों से शरीर में दाह उत्पन्न हुआ है तथा दावानल की कठोर गर्म पवन से तल में और तालुये में शोष उपजी है, तथा इनके इलाज के कारणों का पहले भोग किया था, उनको याद तक नहीं करते हैं, तथा उन्होंने प्राणियों की पीड़ा के परिहार में चित्त लगाया है, ऐसे ऊष्ण के सहने को उनके चारित्र का लक्षण कहा गया है।

दंशमशक आदि की बाधा होने पर उसका प्रतिकार नहीं करना तथा संयम से भी नहीं हटना **दंशमशक सहन** है। यहाँ दंशमशक शब्द का ग्रहण उपलक्षण स्वरूप है, जैसे किसी ने किसी से कहा कौवे से घी की रक्षा करना, वहाँ घी को बिगाड़ने वाले सर्व घी से रक्षा कराने का भाव है, एक कौवे से ही नहीं है ऐसा समझा जाता है। वैसे ही यहाँ दंशमशक शब्द से माक्षा, कोकिल, तोता, बालू चींटी, पिपल्या, उटकण, जूं, चींटे, बिच्छू आदि को भी ग्रहण करना। इनके द्वारा की गयी बाधा को सहन करते हैं। उन द्वारा की गयी बाधा से मन-वचन-काय में विकार नहीं लाते है। मोक्ष की प्राप्ति के संकल्प मात्र ही जिनके शरीर पर आवरण है, ऐसे मुनि इस दंशमशक की वेदना को सहन करते हैं। उनके दंशमशक परिषह कहा गया है। इसका विशेष ऐसा है कि दंशमशक आदि जीव बाधा करते हैं, उनके (उपचार हेतु) विद्या, मंत्र, औषध होते हैं, पर मुनि को उनकी भी वांछा नहीं है। यदि मरण भी हो तो भी स्वरूप में लीन होते हैं। यहाँ दृष्टांत - जैसे बलवान हाथी शत्रु की सेना के संहार के लिये उद्यमी होता है, तब मद में अंधा हुआ शत्रु द्वारा प्रेरित अनेक शस्त्रों के घात से भी उल्टा नहीं मुड़ता, निर्विघ्न जाति का ही ग्रहण करता है, वैसे ही कर्मों की सेना को जीतने के लिये उद्यमी हुये मुनि - ऐसे परिषहों से उल्टे नहीं मुड़ते हैं। स्वरूप साधन से अपने परिणामों को नहीं डिगाते है।

यथाजात रूप धरने को **नाग्न्य** कहते हैं। मुनि ऐसा कलंक रहित नग्नपना धारण करते हैं, जो

अन्य से धारण नहीं किया जावे। तथा कोई भी नग्न नहीं रहना चाहता है। यह नग्नत्व किसी से भी कुछ याचना करना, परिग्रह की रक्षा, जीवों की हिंसा आदि दोषों से रहित है तथा नग्नत्व निर्ग्रंथ मोक्ष की प्राप्ति का अद्वैत साधन है। इसमें कुछ भी बाधा नहीं है। ऐसा नग्नपना धारण किये मुनि के स्त्रियों का रूप देखकर भी मन में कुछ भी विकार उत्पन्न नहीं होता है; क्योंकि उसको (स्त्रियों के रूप आदि को) अत्यंत अशुचि, दुर्गन्ध, निद्यरूप विचारते हैं। जितने दिन ब्रह्मचर्य की भावना करते हैं, उसमें किंचितमात्र भी दूषण नहीं लगाते हैं, अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। इस प्रकार के अचेल व्रत धारण करने को नाग्न्य परिषह का सहना कहा जाता है। इसका विशेष ऐसा है कि अन्यमती कई मन के विकार को मिटाने में असमर्थ होते हैं। उस विकारपूर्वक बाहर में होने वाले विकार को छिपाने के लिये कोपीन, वस्त्र आदि से गुह्य प्रदेश को ढकते हैं, उनके कर्म का संवर नहीं होता।

संयमी मुनि इन्द्रियों के विषयों के संबंध में उत्साह रहित है। गीत, नृत्य, वाद्ययंत्रों की आवाज आदि से रहित शून्य स्थान जैसे गुफा, देव मंदिर, वृक्षों के कोटर, शिला आदि में स्वाध्याय ध्यान की भावना में ही मन लगाते हैं। तथा देखें, सुने, भोगे रति के कारण को याद करना, उनकी कथा सुनना आदि काम के वाणों से उनका हृदय भेद को प्राप्त नहीं होता है, प्राणियों में वे सदा दया सहित वर्तते हैं, ऐसे मुनियों के **अरति परिषह** का जीतना कहा जाता है। क्षुधा आदि की बाधा, संयम की रक्षा, इन्द्रियों की प्रबलता, व्रत पालन के भार से गौरवता, सर्वकाल में प्रमाद रहित रहना, देश की भाषा के अतिरिक्त अन्य देश की भाषा को न जानना, जिन मार्गों में विषम प्रतिकूल चंचल प्राणी पाये जाते हैं, ऐसे दुर्गम, भयानक मार्गों में विहार करना इत्यादि अरति उत्पन्न करने के कारण हैं। इनमें धैर्य के बल से जिन्हें अरति नहीं उत्पन्न होती है विषय को विष से मिले आहार के समान जानते हैं, उनके अरति परिषह का जीतना होता है। उनको एक संयम में ही रति है।

यहाँ **कोई कहता है** – ये सभी परिषह अरति के कारण हैं, अर्थ अरति का अलग से कथन अनर्थक है।

समाधान – क्षुधा आदि की वेदना के बिना भी मोह के उदय में चित्त व्याकुल होता है, संयम के विषयों में अरति उत्पन्न हो जाती है, अत: अलग से कथन किया है।

सुन्दर स्त्री के रूप के दर्शन, स्पर्शन आदि (के भाव) का अभाव **स्त्री परिषह** जीतना है। एकान्त बाग, उद्यान आदि में धन, यौवन, मद, विभ्रम, मदिरापान आदि से प्रमत्त हुई स्त्री आकर बाधा करे तो कछुये की तरह वे इन्द्रिय मन के विकार को संवर रूप संकोच लेते हैं तथा ललित मंद हास्य, कोमल मधुर काम चेष्टा के वचन, विलास सहित देखना, हंसना, मंदरूप से मंथर गमन करने रूप काम के वाणों के व्यापार को विफल करने वाला चारित्र जिनके है, ऐसे मुनियों को स्त्री बाधा का सहना

जानना। यहाँ विशेष यह है कि अन्यमतियों द्वारा कल्पित ब्रह्मा आदि देवता, तिलोत्तमा आदि अप्सराओं का रूप देखकर विकारवान हुये, स्त्री परिषहरूप पंक में से अपने को निकालने में असमर्थ हुये हैं। पर जो महामुनि आर्तरौद्र ध्यान का फल संसार समुद्र के कष्टों में गिराने वाला निश्चय करके, ऐसे परिषह से अपने स्वरूप का ध्यान करने से डिगते नहीं हैं, वे धनी हैं।

गमन करने में दोष न लगाना **चर्या परिषह** है। जिन मुनियों ने गुरुओं के कुल में बहुतकाल से ब्रह्मचर्य धारण किया है, अभ्यास किया है, तथा जिनने बंध मोक्ष का यथार्थ स्वरूप जाना है और जिनने संयम के आयतन जो तीर्थङ्कर, बड़े मुनियों तथा उनसे पवित्र हुये निर्वाणक्षेत्र आदि में उनकी भक्ति के लिये देशान्तर गमन किया है, जो गुरुओं के आज्ञाकारी हैं, पवन की तरह किसी का संग नहीं करते –निर्लेप हैं, तथा जिनकी काया बहुत बार किये गये अनशन, अवमौदर्य, वृतिपरिसंख्यान, रसपरित्याग आदि तपों की बाधा से क्षीण हो गयी है तथा देश काल के प्रमाण मार्ग में इस प्रकार गमन करते हैं, जिससे संयम की विराधना न हो, तथा जिनने पावों के जूते आदि आवरण का त्याग किया है, तथा जिनके कठोर कंकरीली भूमि, कंटक आदि से बींधे गये पावों का खेद उत्पन्न हुआ है तो भी पहले गृहस्थावस्था में पालकी, घोड़े, रथ आदि पर चढते थे, उसको याद नहीं करते हैं, तथा समय की समय पर आवश्यक क्रियाओं की हानि नहीं करते हैं, उन मुनियों के चर्यापरिषह सहन है। यहाँ विशेष यह है कि अनेक देशों में गमन करे उन देशों की भाषा तथा क्रिया व्यवहार आदि जानते हुये छोटे ग्राम में एक रात्रि और बड़े नगर में उत्कृष्टरूप से पांच रात्रि बसते है। यह उत्कृष्ट बसना जानना।

स्वयं द्वारा किये गये आसन के संकल्प से डिगना नहीं, वह **निषद्या परिषह** का जीतना है। जो श्मशान, सूने स्थान, पर्वत की गुफा, वृक्षों के नीचे, बेलों के मंडप में इत्यादि स्थानों में जहाँ बैठने का पहले अभ्यास नहीं किया, कभी बैठे नहीं, वहाँ बैठते हैं। जो सूर्य के प्रकाश एवं अपने इन्द्रियज्ञान से जिन क्षेत्र, प्रदेश की परीक्षा कर ली है, वहाँ नियम की गयी क्रियापूर्वक काल का नियम लेकर आसन मांडकर बैठे हैं तथा जिनने सिंह बघेरे आदि के भयानक शब्द सुनकर भय नहीं किया है, एवं जिनने देव, मनुष्य, पशु, अचेतन पदार्थों द्वारा किये गये चार प्रकार के उपसर्ग में भी मोक्षमार्ग का साधन नहीं त्यागा है, वीरासन, उत्कुटीकासन आदि कठिन आसनों से जिनकी काया अविचलित है, ऐसे आसन की बाधा को सहना निषद्या परिषह है (का सहना) है। इसका विशेष यह है कि जिस आसन का नियम करके बैठे हैं, तब उपसर्ग के आने पर उसको मिटाने के उपाय रूप विद्या, मंत्र, जाप आदि जो (उपसर्ग) मिटाने में समर्थ हैं, उनका उपाय नहीं करते हैं। तथा पहले कोमल गद्दी आदि बिछाकर बैठते थे, उनको याद नहीं करते हैं। प्राणियों की रक्षा का अभिप्राय है तथा अपने स्वरूप के ध्यान में लगे हुये है, अतः परिषह की वेदना नहीं है।

आगम कथित शयन से नहीं डिगना **शयन परिषह** सहन है। मुनिराज ध्यान के, गमन के, खेद के कारण मुहूर्त मात्र निद्रा लेते हैं, वह भी कठोर नीची ऊँची (ऊबड़ खाबड़), बहुत कंकरियों ठीकरियों (टूटे मिट्टी के बर्तनों के टुकडों) से भरी भूमि में तथा तंग जहाँ शरीर स्वच्छंद पसर न सके ऐसी भूमि में तथा अतिशीतता, अतिऊष्णता हो, ऐसे भूमि प्रदेश में सोते है। एक पार्श्व से अथवा सीधे सोते हैं, क्योंकि प्राणियों को बाधा होने की शंका रहती है, अत: जैसे के तैसे सोते रहते हैं। अंगों को चलाचल नहीं करते, करवट नहीं लेते। जैसे काष्ठ पड़ा हो वैसे पड़े रहते हैं अथवा जैसे मृतक पड़ा हो वैसे निश्चल रहते है। जिनने ज्ञान भावना में ही चित्त लगाया है, व्यंतर आदि का उपसर्ग होने पर भी शरीर को चलायमान नहीं करते। जितने काल का नियम लिया है, उतने काल कितनी भी बाधा आवे, उसे सहन करते हैं। ऐसा शय्यापरिषह का सहना है। इसका विशेष इस प्रकार है – भयानक प्रदेशों में शयन करें, ऐसा विचार उत्पन्न नहीं होता कि यह स्थान शेर, बघेरे, चीते आदि दुष्ट प्राणियों का निवास है, यहाँ से शीघ्र निकल जाना भला है, रात्रि बहुत बड़ी कब पूरी होगी ? ऐसा विषाद नहीं करते, सुख प्राप्ति की वांछा नहीं है। पहले कोमल शय्या पर सोते थे, उसको याद नहीं करते हैं।

अनिष्ट दुर्वचनों का सहना **आक्रोश परिषह** (सहन) है। मिथ्यादृष्टियों के क्रोध के भरे, कठोर, बाधा करने वाले, निंदा अपमान के झूठे वचन सुनते हैं। ऐसे दुर्वचन जिनको सुनते ही क्रोधरूपी अग्नि की ज्वाला बढ जावे, उन वचनों को झूठे मानते हैं। तत्काल उनका इलाज करने को समर्थ हैं। यदि क्रूर दृष्टि करके भी उनको देख लें, तो वे भस्म हो जावें, तो भी अपने पापकर्म के उदय का ही विचार करते हैं। उन वचनों को सुनकर तपश्चरण की भावना में ही तत्पर होते है, कषाय के अंशमात्र को भी अपने हृदय में अवकाश नहीं देते। इस तरह आक्रोश परिषह का जीतना होता है।

मारने वाले पर क्रोध न करना **वध परिषह** सहन है। तीक्ष्ण छुरी, मूसल, मुग्दर आदि शस्त्रों के घात से ताड़ने, पीड़ा देने से जिनका शरीर वधा है, तब भी घात करने वाले के प्रति किंचित मात्र भी विकार परिणाम नहीं करते। विचारते हैं कि यह मेरे पूर्वकृत कर्म का फल है, ये देने (घात करने) वाला गरीब रंक क्या करे ? यह शरीर जल के बुदबुदे की तरह विनाशशील स्वभाव वाला है, कष्ट का कारण है, उसे ये बाधा करते हैं। मेरे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का घात तो कर नहीं सकते, ऐसा विचार करते है। कुल्हाड़ी बसोले के घात और चन्दन के लेप दोनों को समान देखते है। उनके वधपरिषह का सहन माना जाता है। ऐसे महामुनि ग्राम, उद्यान, वन, नगरी में रातदिन एकाकी नग्न रहते हैं, वहाँ चोर, राक्षस, म्लेच्छ, भील, वधिक, पूर्वजन्म के वैरी, अन्यमती भेषधारी इत्यादि क्रोध के वश हुये घात करते हैं, तो भी उनके प्रति क्षमा ही करते हैं। उनका वधपरिषह सहना सत्यार्थ है।

प्राणों का नाश होते (की संभावना होने पर) भी आहार आदि के लिये दीन वचन से याचना नहीं

करते, यह **याचना परिषह** सहना है। बाह्य अभ्यंतर तप के आचरण में तो तत्पर रहते हैं तथा जिनका देह तप की भावना से साररहित हुआ है, तीव्र सूर्य के ताप से जैसे वृक्ष सूख जाते हैं, छाया रहित हो जाते हैं, वैसे उनका शरीर कांतिरहित हुआ है। तन, चमड़ी, हड्डियां, नसों का जाल मात्र हुआ है, मांस सूख गया है, बहुत क्या कहें ? प्राणों का नाश भी हो तो भी आहार, वसतिका, औषध आदि को दीन वचनों, मुख के भावों, अंगों के इशारों आदि से भी याचना नहीं करते। तथा भिक्षा के काल में भी अल्प आहार लेने को जावे तब बिजली की चमक की तरह अथवा रत्नों का व्यापारी रत्न दिखा दे, वैसे दर्शन देकर फिर जाते हैं। उस (अल्प आहार ग्रहण) को भी दीनता मानते हैं। अदीनता तो ऐसी होती है, जैसे कोई नमस्कार करे उसे अपना हाथ फैलाकर आशीष दें। ऐसे मुनि के याचना परिषह सहना निश्चय किया गया है। इस काल में दीन अनाथ पाखंडी भेषधारी बहुत हुये हैं। उनने आत्मा का तथा मोक्षमार्ग का स्वरूप नहीं जाना है, याचना करके उदर की पूर्ति करते हैं और कहते हैं, हम सुमार्ग में प्रवर्तते हैं। यह काल का दोष है।

भोजन के अलाभ में भी लाभ की तरह संतुष्ट रहना **अलाभ परिषह** जीतना है। मुनि पवन की तरह अनेक देशों में विचरण करने वाले होते हैं। वे एक काल में ही भोजन अंगीकार करते हैं, मौन रहते हैं, मुंह से कुछ नहीं कहते, गूंगे के समान विचरण करते हैं। आहार के लिये नगर में जाते हैं, तब शरीर को दर्शन मात्र दिखाकर वापस लौट आते हैं। उनके हाथ ही भोजन के पात्र है, अन्य कुछ भी पात्र नहीं रखते हैं। उनका चित्त बहुत दिनों तक अथवा बहुत घरों में भी आहार को न पाने पर भी संक्लेश रहित रहता है तथा दातार विशेष की परीक्षा में उनका उत्साह नहीं होता कि उस व्यक्ति के यहाँ भोजन अवश्य मिलेगा वहाँ चलें, ऐसा विचार नहीं करते है तथा आहार का अलाभ हो, तब ऐसा मानते हैं कि हमारे (अनशन) तप हुआ, बहुत आनंद हुआ, इस तरह संतुष्ट होते हैं। एक ग्राम में अलाभ होने पर दूसरे ग्राम में जाकर (आहार) नहीं लेते हैं। ऐसे मुनिराज के अलाभ परिषह का जीतना निश्चित किया गया है।

नाना व्याधियों के आने पर भी उनका इलाज नहीं करना **रोगपरिषह** सहन है। मुनिराज शरीर से नि:स्पृह है। ऐसा विचार करते हैं कि यह शरीर सभी अशुचि वस्तुओं का स्थान है, अनित्य है, रखने पर रहता नहीं है, अत: उसका कुछ भी संस्कार संवारना आदि नहीं करते हैं तथा इसमें अपने सम्यग्दर्शन आदि गुणरूपी रत्नों का संचय है, उनको बढाना है, उनकी रक्षा करना है, उनका इसके धारण करने पर ही होता है। अत: इस शरीर को उन क्रियाओं का कारण जानकर इसकी स्थिति के विधान (लिये आवश्यक) आहार आदि देते है, जैसे व्यापारी अपनी गाड़ी को अक्षभ्रक्षण अर्थात् वांग देकर चलाता है, वैसे आहार लेने में अपना बहुत उपकार मानकर योग्य आहार लेते हैं, पर अपने फोड़ा-फुन्सी हो

जावे तो उसके लेप नहीं करते हैं। तथा उनको विरुद्ध आहार जल मिला, उसका सेवन करने से वात आदि के अनेक विकार उत्पन्न हो जाते हैं, ऐसा एक काल में अनेक सैंकडों रोगों का कोप हो जाने पर भी वे उनके (रोगों के) वशवर्ती नहीं होते हैं। जिनको तप के विशेष से जल्लोषधि आदि अनेक ऋद्धियां प्राप्त हो गयी हैं, तब भी शरीर से नि:स्पृह होने के कारण कुछ भी इलाज नहीं करते हैं। ऐसा मानते हैं कि पूर्वपापकर्म का उदय भुगतने पर भी छोड़ेगा। ऐसे मुनिराज को रोगपरिषह सहना जानना।

तृण आदि के निमित्त से वेदना होने पर भी उसमें मन न लगाना **तृणस्पर्शपरिषह** का जीतना है। यहाँ तृण का ग्रहण उपलक्षणरूप है, जो कुछ भी शरीर में चुभकर वेदना उपजावे उन सबको यहाँ ग्रहण करना। अत: सूखी घास, कठोर कंकर, कांटा, तीक्ष्ण सूखी मिट्टी, शूल आदि के चुभने से पांवों में वेदना होने पर उसमें चित्त नहीं लगाते हैं। कठोर तृण सहित भूमि वाले मुनि के तृणस्पर्श की बाधा का परिषह जीतना जानना।

अपने शरीर के मल को दूर करने तथा अन्य के मल को देखकर अपना मन मैला करने में चित्त न लगाना **मल परिषह** जीतना है। मुनिराज जल के जीवों की पीड़ा के परिहार के लिये आयुपर्यंत अस्नानव्रत को धारण करते हैं। तीव्र सूर्य की किरणों से हुये ताप से उत्पन्न पसीनों से गीले हुये शरीर पर पवन से उड़ी रज आ लगती है (अत: शरीर मलिन रहता है)। तथा पावखाज दाद से उत्पन्न खुजली के होने पर खुजाना, मर्दन करना, घिसना आदि क्रियाओं से उनकी मूर्ति (वे) रहित है तथा उनका चित्त अपने लगे हुये मल को दूर करने एवं अन्य के मल को देखकर मलिन करने में नहीं लगता है। उनकी बुद्धि, उद्यम सदा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी जल से अपने कर्ममल को धोने का रहता है। ऐसे मुनिराज को मलपीड़ा सहन कहा जाता है। यहाँ **कोई कहता है** - केशलोंच करने में तथा उनका संस्कार न करने से बड़ा खेद उत्पन्न होता है, उसको सहते हैं, उसे परिषह में क्यों नहीं गिना (शामिल किया)? **समाधान :** यह परिषह मलसामान्य के ग्रहण में गर्भित है, अत: अलग से नहीं कहा है।

मान अपमान में समबुद्धि का होना **सत्कार पुरस्कार परिषह** का सहन है। पूजा, प्रशंसा आदि रूप तो सत्कार है। और महान क्रिया के आरंभ में आगे कर बुलाना पुरस्कार है। मुनि का सत्कार पुरस्कार कोई न करे तो ऐसा विचारते है कि - मैं बहुत काल से ब्रह्मचर्य का पालन करता हूँ, बडा तपस्वी हूँ, अपने पर के मत का निर्णय करने वाला हूँ, बहुत बार परवादियों को जीतने वाला हूँ, मेरी भक्ति वंदना आदर ऊँचा आसन देना आदि कोई नहीं करता है, इनसे तो मिथ्यादृष्टि ही अच्छे हैं, जो बड़े भक्तिवान हैं, अपना गुरु कुछ भी न जानता हो, अज्ञानी हो, उसको भी सर्वज्ञ के समान मानकर उनका सम्मानकर अपने मत की प्रभावना करते हैं तथा यह सुना जाता है कि पिछले समय में व्यंतर आदि बड़े तपस्वियों की पूजा करते थे, यह सब मिथ्या ही प्रतीत होता है। यदि सत्य होता तो हम

जैसे की वर्तमान में पूजा आदि क्यों नहीं करते है ? – ऐसा खोटा चिंतवन नहीं करते उन मुनिराज के सत्कार पुरस्कार परिषह का जीतना जानो।

प्रज्ञा अर्थात् विज्ञान का मद न करना **प्रज्ञापरिषह** जीतना है। अंगपूर्व प्रकीर्णक आदि के जानने में प्रवीण हो तथा शब्द, न्याय, अध्यात्म शास्त्रों में निपुण होने पर भी मुनि स्वयं ऐसा विचार नहीं करते कि मेरे समक्ष अन्य ऐसे भासित होते हैं जैसे सूर्य के प्रकाश से तिरस्कृत जुगनु प्रकाश रहित दिखता है। ऐसा विज्ञान का मद न करना प्रज्ञापरिषह जीतना कहा जाता है।

अज्ञानपने की अवज्ञा से ज्ञान की अभिलाषारूप परिषह का जीतना **अज्ञान परिषह** सहन है। मुनि को दुष्टजन कहते हैं – यह मुनि अज्ञानी है, पशुसमान है, कुछ नहीं जानता है इत्यादि निंदा के वचनों को सहते हैं। जो परमतप का आचरण करते हैं, निरंतर प्रमाद रहित वर्तते हैं पर ऐसा कभी विचार नहीं करते कि मुझे अब तक ज्ञान का अतिशय (मन:पर्ययज्ञान आदि तथा कोई ऋद्धि आदि) नहीं उत्पन्न हुये। ऐसा अभिप्राय न रखने वाले (मुनि) को अज्ञान परिषह का सहना जानना।

दीक्षा लेना अनर्थक है, ऐसी भावना का उत्पन्न न होना **अदर्शनपरिषह** सहन है। मुनिराज का मन परमवैराग्य भावना से शुद्ध है तथा उनने सकल पदार्थों का यथार्थ स्वरूप जाना है। वे अरिहन्त तथा अरिहन्त की प्रतिमा आदि तथा साधु एवं धर्म के पूजक हैं तथा बहुत काल से मुनि हुये हैं, तब भी ऐसा विचार नहीं करते कि मेरे अब तक ज्ञान का अतिशय नहीं उत्पन्न हुआ, सुनते हैं कि पहले महान उपवास व्रत आदि करने वालों के प्रातिहार्य विशेष उत्पन्न होते थे, यह कथनी तो प्रलापमात्र झूठी प्रतीत होती है। यह दीक्षा अनर्थक है, व्रत का ग्रहण निष्फल है इत्यादि विचार नहीं करते हैं; क्योंकि मुनि के दर्शनविशुद्धि का योग है। इस तरह अदर्शन परिषह का सहना जानना।

इस प्रकार बाईस परिषह हैं। परिषह आने पर क्लेश परिणाम नहीं करते हैं, क्योंकि राग आदि परिणामों से जो आस्रव होता था उनके निरोध में महान संवर होता है।

आगे पूछते है कि ये परिषह जो मुनि संसार से तिरने के लिये उद्यमी हुये हैं उन सबको अविशेषरूप से आते हैं अथवा कुछ विशेष है ? वहाँ कहते हैं कि जो सुधा आदि परिषह कहे हैं, वे अन्य चारित्रों में तो भेदरूप प्राप्त होते हैं तथा सूक्ष्मसांपराय और छद्मस्थ वीतराग के नियम से जितने होते हैं, वह बताते हैं –

।। सूक्ष्मसाम्परायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ।। ९–१० ।।

अर्थ : सूक्ष्मसांपराय संयमी के और छद्मस्थ वीतराग संयमी के चौदह परिषह संभव हैं। १. क्षुधा २. पिपासा ३. शीत ४. उष्ण ५. दंशमशक ६. चर्या ७. शय्या ८. वध ९.अलाभ १०. रोग ११. तृणस्पर्श १२. मल १३.प्रज्ञा १४. अज्ञान – ये चौदह परिषह (संभव) हैं। सूत्र में चतुर्दश कहा

है, अत: अन्यपरिषहों का अभाव जानना।

यहाँ **प्रश्न** – छद्मस्थ वीतराग के तो मोहनीय का अभाव हुआ है, अत: उसके उदय संबंधी नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, सत्कार-पुरस्कार, अदर्शन- ये आठ परिषह नहीं है, यह तो बनता है, अत: यहाँ तो चौदह का नियम ठीक है; पर सूक्ष्म सांपरायी के मोह के उदय का सद्भाव है, अत: उसके चौदह का नियम कैसे बने ?

समाधान : वहाँ केवल संज्वलन लोभ कषाय का उदय है, जो अतिसूक्ष्म है, अत: यह भी छद्मस्थ वीतराग जैसा ही है, इसलिये यहाँ भी चौदह परिषह होने का नियम कहा है।

वह पुन: **तर्क** करता है – यहाँ मोह के उदय की सहायता नहीं है तथा मंद उदय है, अत: क्षुधा आदि की भी वेदना नहीं है। परिषह तो वेदना को सहना है।

उससे कहते हैं – इसलिये वहाँ परिषह का नाम (कहना) ही युक्त नहीं है। वहाँ कहते हैं कि ऐसा नहीं है। यहाँ शक्ति मात्र की विवक्षा है, जैसे सर्वार्थसिद्धि के देवों में सातवीं पृथ्वी तक गमन करने की शक्ति है, पर वे कभी भी गमन नहीं करते हैं, तब उनके शक्ति अपेक्षा कथन किया है। यहाँ भी ऐसा ही जानना। यहाँ उपचार से ही कहा है।

आगे पूछते है – शरीरवान आत्मा के परिषह आने के नियम का कथन किया है तो भगवान हो गये, उनको केवलज्ञान उत्पन्न हो चुका है, पर अघातिया चार कर्मों का फल भोगते हैं, उनको कितने परिषह हैं बतावें ? तब सूत्र कहते हैं –

।। एकादश जिने ।। ९-११ ।।

अर्थ : जिन अर्थात् केवलज्ञानियों के ग्यारह परिषहों का सद्भाव है। जिनके घातिया कर्मों का चतुष्टय नष्ट हो गया है, ऐसे जिन केवली भगवान के वेदनीय कर्म के सद्भाव से उसके आश्रय से होने वाले ग्यारह परिषह हैं।

यहाँ **तर्क :** मोहनीय कर्म के सहाय के अभाव से क्षुधा आदि वेदना का तो अभाव है, वहाँ परिषह कहना युक्त नहीं है।

समाधान : यह तो सत्य है, परन्तु वेदना का अभाव होने पर भी द्रव्यकर्म के सद्भाव की अपेक्षा करके परिषह का उपचार किया है। जैसे समस्त ज्ञानावरणकर्म का नाश हो जाने पर युगपत सर्व पदार्थों को जानने वाला केवलज्ञानरूप अतिशय होते हुये भी, तथा चिंता के निरोध के अभाव होते भी ध्यान का फल जो कर्म का नाश होना है, उसकी अपेक्षा से ध्यान का उपचार किया जाता है, वैसे ही परिषह का भी उपचार जानना। अथवा इस सूत्र का ऐसा भी अर्थ किया है "एकादशजिने न सन्ति" ऐसा वाक्य शेष अर्थात् सूत्र में चाहिये, वे अक्षर लगा लेना क्योंकि सूत्र सोपस्कार अर्थात्

अन्य उपकार करने वाले अक्षरों की अपेक्षा करता है। अत: सूत्र में वाक्य शेष (कुछ शब्द नहीं कहे गये हैं) कल्पना योग्य है तथा वाक्य वक्ता के अधीन है, ऐसा माना जाता है। इसलिये यहाँ ''निषेधकू न संति'' ऐसा वाक्य शेष मानना, क्योंकि यहाँ मोह के उदय के सहाय के अभाव में क्षुधा आदि वेदनाओं का अभाव है, अत: ये परिषह भी नहीं है, ऐसा भी अर्थ समझना।

इन ग्यारह परिषहों के नाम -क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श, मल - हैं। यहाँ दृष्टांत ऐसा है- जैसे विषद्रव्य की मंत्र, औषध आदि के बल से मारने की शक्ति क्षीण हो जावे, तब उसको कोई खा ले तो मरे नहीं उसी प्रकार ध्यानरूपी अग्नि से घातिया कर्मरूप ईंधन को जब जला दिया, उनके अनंत निर्बाध ज्ञान आदि चतुष्टय प्रकट हुआ सो अन्तराय के प्रभाव से निरंतर संचयरूप शुभपुद्गल होते हैं, वह वेदनीय कर्म है। जो सहाय के बिना क्षीण हुआ अपने प्रयोजन को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है। उस ही प्रकार क्षुधा आदि वेदनारूप परिषहों का अभाव ही जानना।

आगे पूछते हैं - सूक्ष्मसांपराय आदि (संयमों) में भेदरूप कई परिषह बताये हैं, तब ये समस्त ही परिषह किसमें हैं? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं -

।। बादरसाम्पराये सर्वे ।। ९-१२ ।।

अर्थ : बादरसांपराय अर्थात् प्रमत्त गुणस्थान से लेकर अनिवृत्तिबादरसांपराय अर्थात् नवमें गुणस्थान तक सब ही परिषह हैं। सांपराय तो कषाय को कहते हैं तथा जहाँ बादर कषाय हो वह बादरसांपराय है। यहाँ गुणस्थान विशेष का ग्रहण तो करना नहीं, मात्र प्रयोजन को ग्रहण करना, अत: प्रमत्त आदि संयमियों को ग्रहण करना, उनमें कषायों का आशय क्षीण नहीं हुआ है; अत: सब ही परिषह संभव है।

यहाँ **कोई पूछता है** - कैसे चारित्र में सब ही परिषह संभव हैं ?

उससे कहते हैं - सामायिक, छेदोपस्थापन और परिहारविशुद्धि संयमों में से किसी भी एक संयम में सर्वपरिषह संभव है।

आगे शिष्य पूछता है कि परिषहों के स्थान विशेष का नियम कहा वह तो जाना, परन्तु किन कर्म की प्रकृतियों का कौनसे परिषह कार्य हैं ? यह नहीं जाना। ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं -

।। ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ।। ९-१३ ।।

अर्थ : ज्ञानावरणी कर्म का उदय होते प्रज्ञा और अज्ञान परिषह होते हैं।

यहाँ **तर्क :** यह अयुक्त है; क्योंकि ज्ञानावरणी कर्म के उदय होते अज्ञान परिषह तो हो पर प्रज्ञापरिषह तो ज्ञानावरण का अभाव होने से होता है। अत: ज्ञानावरणकर्म के उदय से दो परिषहों का कहना अयुक्त है।

समाधान : यह प्रज्ञा है वह ज्ञानावरण के क्षयोपशम से होती है। अन्य के ज्ञानावरण का उदय होते विज्ञानकला नहीं होती, वहाँ जिसके प्रज्ञा हो उसको मद उत्पन्न करती है तथा सकल आवरण का क्षय हो जाने पर मद नहीं होता है, इसलिये ज्ञानावरण के उदय से (प्रज्ञा परिषह का होना) कहना बनता है।

यहाँ **कोई कहता है** – मद तो अहंकार है वह मोह के उदय ही से होता है।

समाधान : यह परिषह चारित्रवान के ज्ञानावरण के उदय की शक्ति की अपेक्षा कहा है, अत: इसका मोह के उदय में अन्तर्भाव नहीं है, ज्ञानावरण की ही मुख्यता से है।

आगे अन्य दो कर्म के निमित्त से होने वाले परिषहों को कहते हैं –

।। दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ।। ९–१४ ।।

अर्थ : दर्शनमोह के होने पर तो अदर्शन परिषह होता है और अन्तराय कर्म के होने पर अलाभ परिषह होता है। यहाँ यथाक्रम सम्बन्ध करना चाहिये। दर्शनमोह के होते अदर्शन परिषह, लाभान्तराय के होते अलाभ परिषह होता है, ऐसा समझना।

आगे पूछते हैं कि मोहनीयकर्म के प्रथम भेद से एक परिषह कहा, तब दूसरे भेद से कितने परिषह होते हैं ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः ।। ९–१५ ।।

अर्थ : चारित्रमोह के होते नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, सत्कारपुरस्कार – ये सात परिषह होते हैं।

यहाँ **प्रश्न :** पुरुषवेद के उदय आदि के निमित्त से नाग्न्य आदि परिषह होते हैं। यहाँ इनके तो मोह के उदय का निमित्तपना माना, परन्तु निषद्या परिषह तो आसन का परिषह होता है, उसके मोह का निमित्तपना कैसे ?

समाधान : आसन में प्राणियों के परिहार का प्रयोजन है तथा प्राणियों को पीडा के परिणाम मोह के उदय में होते हैं, क्योंकि आसन का बदलना मोह के उदय के निमित्त से होता है, अत: इसके उदय की मुख्यता है।

आगे शेष परिषहों का निमित्त बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। वेदनीये शेषाः ।। ९–१६ ।।

अर्थ : ऊपर कहे ज्ञानावरण आदि के निमित्त से होने वाले परिषहों को छोडकर शेष रहे परिषह वेदनीय कर्म के उदय से होते हैं। ऊपर ग्यारह परिषहों के निमित्त बताये जा चुके है। शेष रहे ग्यारह परिषह वेदनीयकर्म के होने पर होते है। वे क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श, मल –हैं।

आगे पूछते है कि परिषहों का निमित्त लक्षणभेद तो कहा अब यह बतावें कि एक आत्मा के एक काल में कितने परिषहजय कहे। ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशतिः ।। ९–१७ ।।

अर्थ : ये परिषह एक को आदि लेकर एक आत्मा के उन्नीस तक हो सकते हैं। इस सूत्र में आङ् ऐसा उपसर्ग अभिविधि के अर्थ में है। इसलिये एक काल में किसी के उन्नीस भी होते हैं – ऐसा जानना। सो कैसे ? शीत–ऊष्ण – दोनों युगपत् नहीं होते, इसलिये इनमें से एक तथा शय्या, निषद्या, चर्या – ये तीनों भी युगपत् नहीं होते; अतः इनमें से दो कम हुये – इसप्रकार युगपत् एक काल में उन्नीस संभव है। यहाँ **तर्क** – प्रज्ञा और अज्ञान के भी विरोध है, अतः ये भी युगपत् असंभव है। उसका **समाधान** – श्रुतज्ञान की अपेक्षा तो प्रज्ञा परिषह और अवधि आदि के अभाव की अपेक्षा अज्ञान परिषह – ये दोनों युगपत् होते हैं, सो विरोध नहीं है तथा यहाँ भाज्य का ऐसा अर्थ जानना कि किसी के एक, किसी के दो ऐसे उन्नीस तक होती है।

आगे पूछते हैं कि गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय – ये संवर के ५ कारण तो कहे। अब छठा कारण चारित्र है उसके भेद बतावें। ऐसा पूछने पर उसके भेद बताने के लिये सूत्र कहते हैं। सामान्य अपेक्षा से तो चारित्रमोह के उपशम, क्षय, क्षयोपशम से हुई आत्मा की विशुद्धि की लब्धि एक ही है, अतः चारित्र एक ही कहा जाता है तथा प्राणियों की पीडा का परिहार और इन्द्रियों के निरोध की अपेक्षा दो भी कहे जाते हैं। उत्कृष्ट मध्यम जघन्य अपेक्षा तीन भी कहे जाते हैं तथा क्षयोपशमज्ञानी की अपेक्षा सराग वीतराग के भेद से एवं केवलज्ञानी के सयोग और अयोग के भेद से चार भेद भी कहे जाते हैं। आगे पांच भेद का सूत्र कहते हैं –

।। सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्परायययथाख्यातमिति चारित्रम्।।९–१८।।

अर्थ : सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय, यथाख्यात –ये चारित्र के पांच भेद है।

यहाँ **प्रश्न** –दश प्रकार के धर्म में संयम कहा ही है, वही चारित्र है। यहाँ पुनः कहना निरर्थक है।

समाधान : निरर्थक नहीं है। धर्म में अन्तर्भूत है तो भी अन्त में चारित्र का ग्रहण किया है; क्योंकि यह मोक्ष की प्राप्ति का साक्षात् कारण है। चौदहवें गुणस्थान के अन्त में चारित्र की पूर्णता होते ही अविलम्ब तुरन्त ही मोक्ष होता है, अतः साक्षात्कारण है ऐसा बताने के लिये अलग से कथन किया है।

सामायिक का स्वरूप तो पहले श्रावक के सात शील बताये थे, वहाँ कहा ही था, जो दो प्रकार है –नियतकाल, अनियतकाल। उनमें काल की मर्यादा करके उसमें स्वाध्याय आदि करना तो

नियतकाल है तथा ईर्यापथ आदि में अनियतकाल है तथा प्रमाद के वश उत्पन्न दोष से संयम के प्रबंध का लोप हुआ हो उसका प्रायश्चित आदि प्रतिक्रिया से स्थापना करना **छेदोपस्थापना** है अथवा सामायिक में अहिंसा आदि तथा समिति आदि का भेद करना छेदोपस्थापन कहा जाता है तथा प्राणियों की पीडा का परिहार से विशेषरूप से विशुद्धि जिसमें हो वह परिहार विशुद्धि कही जाती है।

तथा जहाँ अतिसूक्ष्म कषाय हो वह **सूक्ष्मसांपराय** चारित्र है। यह चारित्र दशमें गुणस्थान में सूक्ष्मलोभ सहित होता है तथा जहाँ मोहनीयकर्म का संपूर्ण उपशम हो अथवा क्षय हो जावे, सत्ता में से कर्म (मोहनीय कर्म) का सम्पूर्ण द्रव्य उठ (नष्ट हो) जावे, वहाँ आत्मा के स्वभाव की वीतराग अवस्था होती है वह **यथाख्यात चारित्र** है अथवा पहले सामायिक आदि चारित्र के आचरण करने वाले ने इसका व्याख्यान तो किया, पर मोह के क्षय से अथवा उपशम से प्राप्त नहीं किया, अत: अब कथन किया, इसलिये इसका नाम अथाख्यात भी है। क्योंकि अथ शब्द का अर्थ अनंतर पदार्थ हो वह होता है, यह मोह के समस्त क्षय तथा उपशम के अनंतर होता है, अत: अथाख्यात नाम सार्थक है। तथा आत्मा का स्वभाव जैसा अवस्थित है वैसा ही इसमें कहा (होता) है, अत: इसे यथाख्यात भी कहते है। तथा सूत्र में इति शब्द है वह परिसमाप्ति अर्थ में है। इससे ऐसा जाना जाता है कि यथाख्यात चारित्र से सकलकर्म के क्षय की परिसमाप्ति होती है (पूर्णत: होती है)। तथा सामायिक आदि के अनुक्रम से कथन से अगले अगले चारित्र में गुणों की विशुद्धता की वृद्धि का ज्ञान कराया है।

यहाँ विशेष कथन करते हैं – सर्वसावद्ययोग का अभेद (भेद किये बिना) त्याग करना सामायिक है। इसका ऐसा भी शब्दार्थ होता है –प्राणियों के घात के कारण जो अनर्थ उनको 'आय' कहा जाता है, इसके 'सम' उपसर्ग देने से एकीभूत अर्थ हुआ। अत: एकत्रित हुये अनर्थों को समाय कहते है। यह समाय जिसका प्रयोजन हो उसे सामायिक कहते है। इससे ऐसा अर्थ सिद्ध होता है कि सर्व पाप का सामान्य एकत्रितरूप से त्याग जहाँ हो वह सामायिक चारित्र है।

यहाँ **कोई कहता है** – ऐसी तो गुप्ति भी है।

समाधान : इसमें मन संबंधी प्रवृत्ति है, गुप्ति में प्रवृति का निषेध है तथा इसे समिति भी नहीं कह सकते, क्योंकि सामायिक वाले को प्रवृति का उपदेश है उसमें प्रवृति हो उसे समिति कहते हैं। इस प्रकार सामायिक कारण है और समिति कार्य है। इस तरह इनमें कार्यकारण भेद हैं । तथा परिहार विशुद्धि में यह विशेष है कि जो इस (चारित्र) को धारण करे वह तीस वर्ष (की आयु) का हो, तीर्थंकर के निकट पृथक्त्व (तीन से ऊपर और नव से कम) वर्ष तक सेवन किया (पादकमलों में रहा) हो, प्रत्याख्यान पूर्व वहाँ पढा हो, जीवों की उत्पति मरण के स्थान, काल की मर्यादा,

जन्मयोनि के भेद, देश के और द्रव्य के स्वभाव के विधान का जानने वाला हो, प्रमाद रहित, महावीर्यवान हो, जिसके विशुद्धता के बल से कर्म की प्रचुर निर्जरा होती हो, अतिकठिन आचरण को धारने वाला हो, तीनों संध्या कालों को छोडकर दो कोस नित्य विहार करने वाला हो उसके परिहार विशुद्धि संयम होता है; अन्य को नहीं होता।

तथा सूक्ष्मसांपराय संयम ऐसे मुनि के होता है जो सूक्ष्म स्थूल प्राणियों की पीडा के परिहार में प्रमाद रहित हो, जिसका स्वरूप के अनुभव में बढता बढता उत्साह हो, जिसके अखण्ड क्रिया विशेष हो, सम्यग्दर्शन ज्ञान रूप प्रचंड पवन से प्रज्वलित हो, शुद्ध आशय रूप अग्नि शिखा से जिसके कर्मों का ईंधन दग्ध हो गया हो तथा जिसने ध्यान के विशेष से कषाय रूप विष के अंकुर क्षीण किये हो, तथा जिसका मोहकर्म नाश के सम्मुख हुआ है, इसही से सूक्ष्मसांपराय संयम प्राप्त किया हो। उस मुनि को (यह सूक्ष्मसांपराय संयम) होता है। इसका अन्तर्भाव गुप्ति समिति में जानना; क्योंकि गुप्ति समिति के होते हुये इसमें सूक्ष्म लोभ कषाय का होना विशेष गुण है। इस अपेक्षा अलग ही जानना। तथा सूत्र के अनुक्रम कथन से (इन संयमो में) उत्तरोत्तर अनंतगुणी विशुद्धता जानना। तथा शब्द की अपेक्षा तो चारित्र के संख्यात भेद है। बुद्धि के विचार से असंख्यात भेद है, अर्थ अपेक्षा अनंत भेद है। इस प्रकार यह चारित्र आस्रव के निरोधपूर्वक परमसंवर का कारण है। और समिति में प्रवर्तता है उसमें धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषह का जीतना चारित्र यथा संभव जानने।

आगे पूछते हैं कि चारित्र का कथन तो किया, उसके अनंतर 'तपसा निर्जरा च' ऐसा कहा था, अत: अब तप का विधान बतावें – ऐसा पूछने पर कहते है –तप दो प्रकार के हैं – बाह्य, अभ्यंतर। तथा वे प्रत्येक भी छह छह प्रकार के हैं। अब बाह्य तप के भेद बताने के लिये सूत्र कहते हैं–

।। अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासन–
कायक्लेशा बाह्यं तप: ।।९–१९ ।।

अर्थ : अनशन, अवमौदर्य, वृतिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, कायक्लेश –ये छह बाह्य तप हैं। इष्ट फल अर्थात् धन की प्राप्ति, जगत में प्रशंसा, स्तुति होना, रोग आदि मिटना, भय मिटना, मंत्र साधन करना इत्यादि लोक फल की जिनमें अपेक्षा नहीं है तथा इस ही प्रकार परलोक संबंधी विषयों के सुख की अभिलाषा, तथा स्वर्गादि के फल की निदानरूप वांछा जिनमें नहीं है, तथा संयम की प्रसिद्धि, रागादि का विनाश, कर्म की निर्जरा, ध्यान की प्राप्ति, आगम के अभ्यास की प्राप्ति, इनके लिये जो आहार, कषाय, विषयों का त्याग करना **अनशन** है। संयम की वृद्धि, निद्रा आलस्य का नाश, वात पित्त कफ आदि दोषों का प्रशमन, संतोष, स्वाध्याय आदि सुख से होना, इत्यादि की सिद्धि के लिये अल्प आहार लेना **अवमौदर्य** है। तथा मुनि आहार के लिये जावें तब

प्रतिज्ञा करें, जैसे एक ही घर में जावेंगे, अर्थात् एक ही रास्ते में प्रवेश करेंगे, तथा स्त्री का दिया आहार लेंगे, तथा एक ही द्रव्य का भोजन लेंगे इत्यादि अनेक प्रकार की प्रतिज्ञाएं करके नगर में जावें, उस प्रतिज्ञा की रीति मिले तब ही आहार लें, नहीं तो वापस लौट आवें, वह **वृत्तिपरिसंख्यान** तप है। यह आशा की निवृति के लिये है।

तथा इन्द्रियों के अद्यतपने का निग्रह, निद्रा को जीतने, सुखपूर्वक स्वाध्याय होने इत्यादि के लिये घृत आदि पुष्ट स्वादरूप रस का त्याग, चौथा **रस परित्याग** तप है। तथा शून्य स्थान आदि जो एकान्त स्थान जहाँ प्राणियों को पीडा नहीं हो, वहाँ संयमी सोना, उठना, बैठना, आसन करें, ताकि अपने स्वाध्याय ध्यान में विघ्न न हो, ब्रह्मचर्य पले, ध्यान स्वाध्याय की सिद्धि हो ऐसा पांचवा **विविक्तशय्यासन** तप है। तथा आताप के स्थान वृक्ष के मूल आदि में बसना, खुले में निरावरण शयन करना, बहुत प्रकार के आसनोंपूर्वक प्रतिमायोग करना इत्यादि **काय क्लेश** तप है। यह देह को कष्ट देने के लिये है, परिषह सहने के लिये है, सुख की अभिलाषा मिटाने के लिये है, मार्ग की प्रभावना के लिये है इत्यादि इसका प्रयोजन जानना।

यहाँ **कोई पूछता है** –परिषह में और इसमें क्या अंतर है ?

समाधान : जो स्वयमेव आवे, वे तो परिषह है तथा जो आप स्वयं अपनी इच्छा से करे, वह कायक्लेश है।

पुन: **प्रश्न :** इन छहों तपों के बाह्यपना कैसे है ?

समाधान : ये बाह्य द्रव्य की अपेक्षा लिये है, क्योंकि आहार का त्याग करना इत्यादि इनमें प्रधान है, अत: इनको बाह्य तप कहते हैं। तथा अन्य को यह तप प्रत्यक्ष है, सर्व लोक इन तपों को जानता है; अत: वे बाह्य तप कहे जाते हैं। तथा बाह्य अर्थात् मोक्षमार्ग से बाह्य जो मिथ्यादृष्टि है, वे भी इन तपों को करते है, इसलिये भी इनको बाह्यतप कहा जाता है।

आगे अभ्यंतर तप के भेद बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। प्रायश्चितविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ।। ९–२० ।।

अर्थ : प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, ध्यान –ये छह उत्तर अर्थात् दूसरे अभ्यंतर तप के भेद है। इनके अभ्यंतरपना कैसे है वह बताते हैं– यह तप अन्यमतियों द्वारा नहीं किये जाते हैं। तथा इनका प्रवर्तन मन का ही अवलम्बन करके होता है। तथा बाह्य द्रव्य की अपेक्षा की इनमें प्रधानता नहीं है, अत: इनको अभ्यंतर कहा है।

प्रमाद के वश व्रत में दोष उत्पन्न हो उनको मिटाने के लिये किया जावे, वह **प्रायश्चित** है। पूज्य पुरुषों का आदर करना **विनय** है। काय की चेष्टा से तथा अन्य द्रव्य से उपासना टहल (रोगी

मुनिराज की सेवा) करना **वैयावृत्य** है। ज्ञान भाव में आलस्य का त्याग **स्वाध्याय** है। परद्रव्य में यह मैं हूँ, यह मेरा है, ऐसे संकल्प का त्याग **व्युत्सर्ग** है। चित्त के विक्षेप अर्थात् चलाचलपने का त्याग **ध्यान** है। ये छह अभ्यंतर तप है।

आगे इन तपों के भेद कहने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। नवचतुर्दशपंचद्विभेदा यथाक्रमम् प्राग्ध्यानात् ।। ९–२१ ।।

अर्थ : प्रायश्चित के नव भेद, विनय के चार भेद, वैयावृत्य के दश भेद, स्वाध्याय के पांच भेद, व्युत्सर्ग के दो भेद, ऐसा अनुक्रम से जानना। ये ध्यान के पहले वाले पांच तपों के भेद हैं। यहाँ यथाक्रम शब्द से प्रायश्चित के नव भेद है, इत्यादि जानना। तथा प्राग्ध्यानात् इस शब्द से ध्यान के बहुत भेद है, अत: आगे कहेंगे ऐसा जानना।

आगे प्रथम जो प्रायश्चित तप है उसके नव भेद हैं, उनके स्वरूप भेद के निर्णय के लिये सूत्र कहते है –

।। आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्ग तपश्छेदपरिहारोपस्थापना: ।। ९–२२ ।।

अर्थ : आलोचना, प्रतिक्रमण, ये दोनों, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार, उपस्थापना –ये प्रायश्चित तप के नव भेद है। अपने प्रमाद से लगे दोषों को (कथन को) दश दोष टालकर गुरु को कहना **आलोचना** है। तथा मुझे जो दोष लगे है, वे मिथ्या हों निष्फल हों ऐसा प्रकट में वचन द्वारा कहना **प्रतिक्रमण** है। तथा आलोचना प्रतिक्रमण दोनों करना **तदुभय** है। दोष सहित आहार, पानी, उपकरण का संसर्ग हुआ हो तो उनका त्याग करना **विवेक** है। कायोत्सर्ग आदि करना **व्युत्सर्ग** है। अनशन आदि तप करना **तप** है। दिवस,पक्ष, मास आदि दीक्षा के काल में से कम कर देना **छेद** है। पक्ष, मास आदि निर्धारित समय के लिये दूर प्रवर्जन करना, संघ से अलग कर देना **परिहार** है। पहले ली गयी दीक्षा को छेदकर नये सिरे से पुन: दीक्षित करना **उपस्थापन** है।

इसका **विशेष लिखते है –** प्रमाद जनित दोषों के सोधन, भाव की उज्वलता शल्य का मिटना, अनवस्था का अभाव, मर्यादा में रहना, संयम की दृढता इत्यादि की सिद्धि के लिये प्रायश्चित करने का उपदेश है। प्रायश्चित शब्द का अर्थ इस प्रकार है –प्राय: अर्थात् साधु लोक के समूह का चित्त जिस कार्य में प्रवर्ते वह प्रायश्चित कहा जाता है। अथवा प्राय: नाम अपराध का है, उसका चित्त माने शुद्ध करना भी प्रायश्चित्त कहलाता है। दश दोषों से रहित (कथन के दश दोषों से रहित) गुरु को अपने में लगे दोषों को कहना आलोचना है। गुरु एकान्त में बैठे हो, प्रसन्नचित्त हो, देशकाल को जानने वाले हो, उन्हें शिष्य विनयपूर्वक अपने प्रमाद के दोष कहता है। वह दश दोष टालता है, वे बताते है। शिष्य ऐसा विचार करें कि गुरु को कुछ उपकरण दूंगा तो वे अल्प प्रायश्चित

देंगे ऐसा विचार कर गुरु को कुछ भेंट देना पहला दोष है। मैं दुर्बल हूँ, अशक्त हूँ, रोगी हूँ, उपवास आदि करने में समर्थ नहीं हूँ, अत: अल्प प्रायश्चित दें तो दोष का निवेदन करुं, इस तरह अल्प प्रायश्चित लेने के अभिप्राय से दोष कहना, दूसरा दोष है। अन्य ने न देखे हों, उनको छुपा लेना और केवल अन्य के देखे प्रकट दोषों मात्र को कहना ऐसा मायाचार करना तीसरा दोष है। आलस्य से प्रमाद से अल्प अपराधों को न गिनना उनके बताने में उत्साह न होना, केवल स्थूल दोषों को ही कहना चौथा दोष है। बड़ा प्रायश्चित मिलने के भय से बड़े दोष तो छिपा लेना और उसके अनुकूल ही अल्प दोष कहना पांचवा दोष है। व्रत का ऐसा अतिचार होने पर क्या प्रायश्चित होता है यह जानने के अभिप्राय से गुरु की उपासना टहल करना दोष न कहना, छठा दोष है। पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक प्रतिक्रमण जिन्हें बहुत से मुनि एकत्रित होकर करें वहाँ आलोचना के शब्द बहुत हों उनमें स्वयं भी इस अभिप्राय से कि कुछ सुना जावेगा कुछ नहीं सुना जावेगा ऐसा विचार कर स्वयं ही अपना दोष कहकर नचीत होना (छुट्टी पा लेना) सातवां दोष है। गुरु के दिये प्रायश्चित में शंका करके अन्य मुनियों से पूछना कि यह दिया गया प्रायश्चित आगमानुकूल है या नहीं, आठवां दोष है। कुछ प्रयोजन विचार करके अपने समान हो उन्हें ही अपना प्रमाद दोष बताकर स्वयं ही प्रायश्चित ले लेना नवमां दोष है। इस प्रकार बड़ा प्रायश्चित भी ले लिया जावे तो फलकारी नहीं होता। अन्य मुनि को कुछ अतिचार लगा हो, उसने कुछ प्रायश्चित लिया हो, उसे देखकर ऐसा विचारे कि मुझे भी इन्हीं के समान अतिचार लगा है, अत: जो प्रायश्चित इन्हें मिला है, वही मुझे भी युक्त है – ऐसा विचारकर अपना दोष प्रकट न करना स्वयं ही प्रायश्चित ले लेना दसवां दोष है। अपने अपराध को बहुत काल तक न छुपाना, तत्काल गुरु के पास जाकर कपट भाव से रहित होकर बालक की तरह सरलतापूर्वक दोषों को कहने वाले के ये दोष नहीं लगते हैं।

मुनि जब आलोचना करते हैं तो एक गुरु और एक स्वयं इस प्रकार दो ही हों तब एकान्त में करते है। यदि आर्यिका (आलोचना) करे तब एक गुरु और दो आर्यिका इस तरह तीन हो तब करें। तथा प्रकाश हो वहाँ करें, अन्धकार में न करे। लज्जा से अथवा अपमान के भय से दोषों को प्रकट करके अतिचार का शोधन न करे तो जिसके धन की प्राप्ति नहीं है ऐसा लोभी धन के विनाश में खेद खिन्न रहता है, वैसे ही (ऐसा मुनि) चारित्र के दोष से खेदखिन्न रहता है। तथा आलोचना न करने पर महान तप भी वांछित फल को नहीं देता है। जैसे कड़वी औषधी शरीर में गये बिना फल नहीं देती वैसे ही जानना। तथा आलोचना तो करे पर गुरु का दिया गया प्रायश्चित न ले तो भी महान फल नहीं होता। जैसे कोई अन्न आदि को बीने और एक एक कंकर आदि देखता जावे पर कंकरों को निकाले नहीं, तो अन्न उत्तम स्वादरूप फल को नहीं देता, वैसे जानना। तथा आलोचना करके प्रायश्चित ले

तो साफ किये हुये दर्पण में जैसे रूप उज्ज्वल दिखाई देता है वैसे ही व्रत भी उज्ज्वल होते हैं।

प्रतिक्रमण का लक्षण पहले कहा ही था। तथा तदुभय का प्रयोजन यह है कि कुछ दोष तो आलोचना से ही मिट जाते है कुछ प्रतिक्रमण से ही मिटते हैं। कुछ दोष दोनों करने पर मिटते हैं।

यहाँ कोई **तर्क** करता है – यह तो अयुक्त है। बिना आलोचना तो प्रायश्चित कहा नहीं है, पर आपने यहाँ कहा है कि प्रतिक्रमण ही से (कुछ दोष) शुद्ध होते हैं, तब यह अयुक्त हुआ। तथा यदि आप कहेंगे कि आलोचनापूर्वक प्रतिक्रमण है तो तदुभय का कहना व्यर्थ होगा।

समाधान : यह दोष यहाँ नहीं आता है, क्योंकि सर्व ही प्रतिक्रमण आलोचनापूर्वक ही है, परन्तु इसमें विशेष है। क्या विशेष है ? पहले तो गुरु की आज्ञा से शिष्य जानते है कि प्रतिक्रमण मात्र से इन (कुछ) दोषों का निर्वर्तन होता है। ऐसे दोषों का प्रतिक्रमण तो शिष्य ही कर लेता है। वह तो आलोचनापूर्वक हुआ ही। तथा पहले जिन दोषों के प्रतिक्रमण की गुरु की आज्ञा नहीं थी, उनका (प्रतिक्रमण) शिष्य आलोचनापूर्वक ही करता है। तथा गुरु के कहे (पूर्व में कहे) अनुसार (शिष्य) स्वयं ही कर लेता है, वहाँ उनके आलोचना नहीं है।

विवेक का विशेष – जिस वस्तु में सदोष का संदेह पड़ा हो, तथा सदोष वस्तु में निर्दोष का ज्ञान हुआ हो, तथा जिसका त्याग किया हो उस ही का ग्रहण हो जाने पर पुन: त्याग करना विवेक है। कायोत्सर्ग करता है वह काल का नियम करके करता है। तप आदि जैसे पहले कहे है वैसे ही जानना।

इन प्रायश्चितों को कहाँ–कहाँ ग्रहण करना, उसका संक्षेप में कथन करते हैं। विद्या पढना, आतापन आदि योग करना, अन्य का उपकरण ग्रहण कर लेना इत्यादि विनय सहित पूछे बिना कर ले तो इनका आलोचना मात्र प्रायश्चित है। परोक्ष प्रमाद का सेवन करना, आचार्य का कहा न करना, आचार्य के प्रयोजन के निमित्त बिना पूछे जाना, अन्य संघ से बिना पूछे आ जाना इत्यादि में भी आलोचना ही है। आवश्यक आदि क्रिया का देश काल का नियम किया था, उसका धर्मकथा करने आदि के निमित्त से विस्मरण हो जावे उसे पुन: करने में प्रतिक्रमण करना प्रायश्चित है। इन्द्रिय वचन का दु:परिणाम हो जावे, आचार्य आदि के पांव लग जावे, व्रत–समिति–गुप्ति में स्वल्प अतिचार लगे, अन्य का बिगाड हो जाने के वचन निकल जावे, कलह हो जावे, वैय्यावृत्य स्वाध्याय आदि में प्रमाद करे इत्यादि में भी प्रतिक्रमण है। तथा भोजन के लिये अकाल गमन करे, स्वच्छंद लोंचन करे, स्वप्न में रात्रि भोजन आदि का अतिचार लगे, उदर में से कृमि निकले, मच्छर, पवन आदि के निमित्त से रोमांच हो, हरित तृण आदि की भूमि तथा पंक (कीचड) में गमन करे, घुटनों तक के जल में प्रवेश करे, नाव से नदी पार करे, अन्य के उपकरण आदि अपना लेवे, पुस्तक प्रतिमा आदि का अविनय हो जावे, पंचस्थावरों का घात हो जावे, अदृष्ट देश में मलमूत्र क्षेपण करे, प्रतिक्रमण की क्रिया व्याख्यान के अन्त

इत्यादि में आलोचना प्रतिक्रमण दोनों है तथा भय से, भूलकर, तथा बिना जाने, तथा किसी कार्य को अशक्तता से शीघ्रता से महाव्रत में अतिचार लगे तो वहाँ तपपर्यंत छहों प्रकार के प्रायश्चित हैं। त्यागने योग्य को छिपाकर छोड़े, किसी कारण से अप्रासुक का ग्रहण हो जावे तथा प्रासुक का भी त्याग किया हो पर भूलकर ग्रहण किया हो उसे याद आने पर पुन: त्याग देना प्रायश्चित है।

खोटे स्वप्न आवे, खोटा चिंतवन करे, मल मूत्र के अतिचार में बड़ी नदी, बड़े वन के प्रवेश करने में कायोत्सर्ग प्रायश्चित है। तथा बहुत बार प्रमाद से बहुत प्रत्यक्ष अपराध करे, प्रतिकूल प्रवर्ते विरुद्ध श्रद्धा करे उनको अनुक्रम से छेद, मूलभूमि, अनुपस्थापन पारंचिक ये प्रायश्चित है। अपने संघ के आचार्य के निकट ही सबसे नीचा करके प्रायश्चित दे वह तो अनुपस्थापन है। तथा अन्य आचार्यों के निकट तीन बार घुमावे वह पारंचिक है। ऐसे नव प्रकार के प्रायश्चित देश, काल, शक्ति, संयम आदि से अविरुद्ध जैसा अपराध हो वैसा प्रायश्चित करके दोष मिटाते हैं, जैसे यथा रोग देशकाल देखकर वैद्य रोग मिटाता (मिटाने के लिये औषध आदि देता) है वैसे करना। इस जीव के परिणामों के स्थान असंख्यात लोक प्रमाण है उतने ही अपराध लगते हैं। पर प्रायश्चित के उतने भेद नहीं है। व्यवहार नय से सामान्य रूप से यथासंभव प्रायश्चित के भेद होते (कहे) हैं।

आगे विनय के भेद कहने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। ज्ञानदर्शनचारित्रोपचारा: ।। ९–२३ ।।

अर्थ : ज्ञान का विनय, दर्शन का विनय, चारित्र का विनय, उपचार विनय – ये विनय तप के चार भेद है। यहाँ विनय का अधिकार है, अत: विनय शब्द से संबंध करना। इस प्रकार ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय, उपचार विनय इस प्रकार सम्बन्ध (अर्थ) हुआ। बहुमान सहित मोक्ष प्राप्ति के लिये ज्ञान का ग्रहण, अभ्यास स्मरण करना ज्ञानविनय है। तथा शंका आदि दोषों रहित तत्वार्थों का श्रद्धान करना दर्शनविनय है। ज्ञानदर्शन सहित होकर चारित्र ग्रहण में चित्त को लगाना चारित्रविनय है। तथा आचार्य आदि प्रत्यक्ष विद्यमान हो उनको देखकर खड़े हो जाना उनके सन्मुख जाकर अंजुली जोड़ना इत्यादि उपचार विनय है तथा उनके परोक्ष होने पर मन वचन काय से हाथ जोड़कर नमस्कार करना, गुणों का स्तवन करना, स्मरण करना (अनके आदेशानुसार प्रवर्तना) इत्यादि भी उपचार विनय है। विनय से ज्ञान का लाभ होना, आचरण की शुद्धता होना, भली आराधना होना इत्यादि प्रयोजनों के लिये विनय की भावना है।

आगे वैयावृत्य तप के भेदों को बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्षग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानाम् ।। ९–२४ ।।

अर्थ : आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु, मनोज्ञ –इन दश के

वैयावृत्य करने रूप इसके दश भेद हैं। यहाँ विशेष के भेदों अपेक्षा भेद है। अत: आचार्य का वैयावृत्य इत्यादि कहा समझना। जिनसे व्रत आचरण ग्रहण किया जाता है, वे **आचार्य** हैं। जिनको प्राप्त होकर मोक्ष के अर्थी शास्त्र पढते हैं, वे **उपाध्याय** है। तथा जो महान उपवास आदि तप करते हों वे **तपस्वी** हैं। जो शास्त्र पढने आदि शिक्षा प्राप्ति के अधिकारी हों, वे शैक्ष हैं। रोग आदि से क्षीण हों, वे **ग्लान** हैं। जो स्थविर अर्थात् बड़े मुनियों के परिपाटी के हों, वे **गण** कहे जाते है। दीक्षा देने वाले आचार्य के शिष्य हों, उनको **कुल** कहते हैं। चार प्रकार के मुनियों का समूह **संघ** है। बहुत काल के दीक्षित हो, उन्हें **साधु** कहते हैं। तथा जो लोकमान्य हों उन्हें **मनोज्ञ** कहा जाता है। इनको रोग, परिषह, मिथ्यात्व आदि आ जावे तब अपनी काय चेष्टा से तथा अन्य द्रव्य से उनका प्रतिकार इलाज करना वैयावृत्य है। वैयावृत्य से समाधि का तो धारण करना होता है, निर्विचिकित्सा भाव होता है, प्रवचन का वात्सल्य होता है इत्यादि इसके फल जानना। यहाँ चार प्रकार के मुनियों का संघ बताया है, वे १. ऋषि २ यति ३ अनगार ४ मुनि – चार हैं। उनमें ऋद्धिधारियों को **ऋषि** कहते हैं इन्द्रियों को वश करें वे **यति** हैं अवधि मन:पर्यय ज्ञानी को **मुनि** कहते हैं, सामान्य घर के त्यागी साधु को अनगार कहते है। अथवा यति, आर्यिका, श्रावक, श्राविका इस प्रकार भी चतुर्विध संघ है। तथा मनोज्ञ वे हैं जिनमें पंडितपने की कला, वक्तापना आदि गुण हों तथा लोक में मान्य हों तथा ऐसा अविरत सम्यग्दृष्टि हो जिसमें (जिन) मार्ग को ऊँचा दिखाने का गुण हो, उसे भी मनोज्ञ कहते हैं।

आगे स्वाध्याय के भेद बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशा: ।। ९–२५ ।।

अर्थ : वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय, धर्मोपदेश – ये स्वाध्याय तप के पांच भेद हैं। निर्दोषरूप से ग्रंथ, अर्थ और इन दोनों को भव्य जीवों को सिखाना, देना तो वांचना है। तथा संशय को दूर करने के लिये, निर्बाध निश्चय के समर्थन को दृढ करने के लिये, अन्य को ग्रंथ का अर्थ (स्पष्ट) करने के लिये प्रश्न करना **पृच्छना** है। यदि अपनी उच्चता दिखाने के लिये, अन्य को ठगने के लिये, नीचा दिखाने के लिये, अन्य का हास्य करने इत्यादि खोटे आशयों से प्रश्न पूछना पृच्छना तप नहीं है तथा जिस पदार्थ का स्वरूप जाना हो उसका मन में बारंबार चिंतवन करना अनुप्रेक्षा है। तथा पाठ को शुद्धरूप से बारबार (याद करने हेतु) बोलना **आम्नाय** है। तथा धर्मकथा आदि का अंगीकार **धर्मोपदेश** है। इस तरह पांच प्रकार का स्वाध्याय है। इसके फल में प्रज्ञा का अतिशय होता है, प्रशस्त आशय होता है, परम संवेग होता है, तप की वृद्धि होती है, अतिचार का शोधन होता है इत्यादि इसके प्रयोजन है तथा संशय का नाश होना, मार्ग की दृढता होना, परवादी की आशंका का अभाव होना –ये इसके फल हैं।

आगे व्युत्सर्ग तप के भेदों का निर्णय करने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। बाह्याभ्यन्तरोपध्योः ।। ९–२६ ।।

अर्थ : व्युत्सर्ग तप के दो भेद बाह्य और अभ्यंतर दो प्रकार के परिग्रह के त्याग हैं। व्युत्सर्ग त्याग को कहते हैं। यह दो प्रकार का है– १. बाह्य उपाधि का त्याग २. अभ्यंतर उपाधि का त्याग। अनुपात्त वस्तु अर्थात् अपने से भिन्न धन धान्य आदि तो बाह्य परिग्रह हैं। तथा कर्म के निमित्त से हुये आत्मा के क्रोधादि भाव अभ्यंतर परिग्रह है तथा काय का त्याग भी अभ्यंतर में गिनना। ये काल के नियमपूर्वक भी होते हैं और जीवनभर के लिये भी होते हैं। ऐसे बाह्य अभ्यंतर परिग्रहों का त्याग व्युत्सर्ग है। इसका प्रयोजन नि:संगपना, निर्भयपना, जीवित रहने की आशा का अभाव होना है। यहाँ ऐसा जानना कि महाव्रतों में भी व्युत्सर्ग कहा है, दशधर्मों में भी कहा है, प्रायश्चित के भेदों में भी कहा है यहाँ तप के भेदों में भी कहा है। पर इनमें कोई विरोध नहीं है, क्योंकि किसी पुरुष से किसी में त्याग की शक्ति (कम, अधिक) हो, ऐसे शक्ति की अपेक्षा अनेक प्रकार से कहा है। उत्तरोत्तर उत्साह बढाने का भी प्रयोजन है। यहाँ इतना और विशेष जानना कि महाव्रतों में परिग्रह का त्याग कहा है वहाँ तो धन धान्य आदि बाह्य परिग्रह का त्याग प्रधान है। तथा दशधर्म में (परिग्रह का त्याग – आकिंचन्य) कहा है, वहाँ आहार आदि योग्य परिग्रह का त्याग कहा है। प्रायश्चित में दोष का प्रतिपक्षी कहा है और यहाँ तप में कहा है वह सामान्य है।

आगे ध्यान के बहुत भेद बताने के लिये अलग रखा था, अब उसके भेद कहने का अवसर है; पर उसके पहले ध्यान करने वाले का तथा ध्यान के स्वरूप एवं उसके काल के निर्धार के लिये सूत्र कहते हैं –

।। उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् ।। ९–२७ ।।

अर्थ : उत्तम संहनन के धारी पुरुष के एकाग्र (एक विषय) में चिंता का निरोध (चित्त की वृत्ति को रोकना) ध्यान है। वह उत्कृष्ट रूप से अन्तर्मुहूर्त तक रहता है। यहाँ शुरु के तीन संहनन अर्थात् वज्रवृषभनाराच संहनन, वज्रनाराच संहनन, नाराच संहनन को उत्तम कहा है। ये तीनों ही ध्यान के साधन हैं, इनमें भी मोक्ष का साधन केवल (वज्रवृषभनाराच संहनन) ही है, अन्य दो से मोक्ष नहीं होता है। ये तीन संहनन जिनके हो वे पुरुष ध्यानी (ध्यान कर सकने योग्य) है। अग्र अर्थात् मुख अर्थात् जिसका एक मुख अर्थात् एकाग्र यानि एक ही विषय में मन की चिंता (चिंतवन) हो वह एकाग्र है। मन अनेक पदार्थों के अवलम्बन से चलायमान होता है, उसे अन्य समस्त अवलम्बनों से छुडाकर एक अग्र में नियमरूप (स्थिर) करना एकाग्रचिंतानिरोध है, यह तो ध्यान का स्वरूप बताया तथा अन्तर्मुहूर्त है वह काल का परिणाम है। अन्तर्मुहूर्त है, वह मुहूर्त से कम होता है, अत:

अन्तर्मुहूर्त कहा जाता है। आङ् उपसर्ग जोड़ने से मर्यादा का ज्ञान कराया, अत: (ध्यान) अन्तर्मुहूर्त तक ही होता है, आगे (ज्यादा समय के लिये) नहीं होता, इसतरह काल की मर्यादा बतायी, क्योंकि इतने काल से अधिक चिंता का एकाग्र निरोध हो सकता नहीं है, दुर्द्धर है।

यहाँ **प्रश्न** – चिंता के निरोध को ध्यान कहा, पर निरोध तो अभाव को कहते हैं, अत: ध्यान निर्विषय अभावरूप हुआ, जैसे गधे का सींग।

समाधान – यह दोष नहीं है। अन्यचिंता की निवृत्ति की अपेक्षा अभाव रूप ही है तथा चिंता (मन) ने जिस वस्तु का अवलम्बन लिया उसके आकार प्रवृति से सद्भावरूप है; क्योंकि अभाव है वह भावान्तर के स्वभावरूप है, अत: वस्तु का धर्म है, हेतु का अंग है। अभाव से भी वस्तु ही सधती है अथवा निरोध शब्द को भावसाधन न करके कर्मसाधन करने पर निरोधरूप हुयी चिंता, इस प्रकार ज्ञान ही चंचलता से रहित होकर एकाग्र हुआ वही ध्यान है। जैसे अग्नि की शिखा निराबाध प्रदेश में चलाचलपने से रहित होकर स्थिर हो, दैदीप्यमान हो वैसे जानना।

यहाँ श्लोकवार्तिक के अनुसार कुछ लिखते हैं। इस सूत्र में ध्याता, ध्यान, ध्येय, ध्यान का काल ये चारों बताये हैं। और सामर्थ्य से इसकी प्रवृति की सामग्री जानी जाती है।

यहाँ कोई **अन्यमती** कहता है – हमारे मत में चित्त की वृत्ति के निरोध को योग कहा है। **उससे पूछते हैं** – संपूर्ण चित्त की वृत्ति का निरोध जिसका कुछ भी विषय नहीं है, ऐसा कहा है कि ज्ञान का स्थिर होना कहा है ? यदि पहला पक्ष ग्रहण करोगे तो निर्विषय तुच्छ अभाव रूप है जो प्रमाण भूत नहीं है और यदि (दूसरा पक्ष ग्रहण करोगे) ज्ञान का स्थिर होना कहोगे तो हमारी ही बात स्वीकार की।

तब **वह कहता है** –हम तुच्छाभाव रूप तो नहीं कहते हैं। पुरुष के स्वरूप में अवस्थान को चित्त की वृत्ति का निरोध कहते हैं। इसे ही समाधि कहते हैं। असंप्रज्ञातयोग ध्यान ऐसा कहा जाता है जहाँ समाधि में ज्ञान का भी उच्छेद हो जाता है। अत: हमारे यहाँ ऐसा कहा है कि समाधिकाल में दृष्टा अर्थात् पुरुष के स्वरूप में अवस्थान होता है। आत्मा तो दृष्टा है और ज्ञाता प्रधान है। पुरुष का स्वरूप में अवस्थान है वह परम उदासीनता है।

उससे कहते हैं – पुरुष को दृष्टा कहते हो तो ज्ञाता भी पुरुष ही है। देखना जानना दोनों तो अविनाभावी है। यदि प्रधान को ज्ञाता कहोगे तो दृष्टा भी प्रधान ही ठहरेगा। तब पुरुष जड़ ठहरेगा।

यहाँ **वह कहता है** – पुरुष को ज्ञाता कहें तो ज्ञान अनित्य है तब पुरुष को भी अनित्यता की प्राप्ति होगी।

समाधान – इस प्रकार तो प्रधान भी अनित्य ठहरेगा।

तब **वह कहता है** – प्रधान के परिणाम को तो हम अनित्य मानते ही हैं।

उससे कहते हैं – इस ही प्रकार पुरुष को पर्याय के ज्ञान के विशेष अपेक्षा अनित्य मानने में क्या दोष है ?

तब **वह कहता है** – पर्याय पुरुष से अभेद है, तब पुरुष के भी अनित्यता की प्राप्ति होगी।

वहाँ कहते हैं – प्रधान से उसका परिणाम क्या अत्यन्त भिन्न है ? जिससे प्रधान को अनित्यता न आवे ?

तब **वह कहता है**– परिणाम ही अनित्य है, परिणामी तो नित्य ही है।

उससे कहते है – यदि ऐसा मानते हो तो ज्ञान और आत्मा के अभेद होने पर भी ज्ञान ही अनित्य है, पुरुष नित्य है यह निश्चित हुआ।

वह **पुनः कहता है** – पुरुष तो अपरिणामी ही है।

उससे कहते हैं – प्रधान को भी अपरिणामी क्यों न कहा जावे ?

तब **वह कहता है** – व्यक्तता अपेक्षा प्रधान को परिणामी कहते हैं, शक्ति अपेक्षा नहीं।

उससे कहते है – पुरुष भी ऐसे ही है, इसमें क्या विशेष है, क्योंकि जो स्वत्वरूप है, वे सभी परिणामी है। अपरिणामी के तो क्रमपना और युगपतपना होता नहीं। इनके बिना अर्थक्रिया होती नहीं। अतः दृष्टा है, वैसे ही आत्मा ज्ञाता है। इसमें बाधा नहीं है। अतः असंप्रज्ञातयोग रूप ध्यान कहना बनता नहीं है। अज्ञानरूप पुरुष का स्वरूप अवस्थान संभव नहीं है, इससे जडत्व ही प्राप्ति होती है तथा संप्रज्ञातयोग है वह ज्ञान की वृत्ति ज्ञेय का होना उस मात्र है जो ज्ञान का स्वरूप ही है। इसमें कुछ भी विवाद नहीं है। अतः ध्यान है वह ज्ञान ही का एकाग्र होना है।

तथा **कोई कहता है** – ज्ञान ज्ञेय स्वरूप ही हो जाता है। पर यह बनता नहीं है; क्योंकि जड वस्तुयें भी विषय रूप ज्ञेय होती है। और ज्ञान तो जडरूप होता नहीं है। ज्ञान की स्वच्छता ऐसी ही है कि ज्ञेयवस्तु तो जैसी है तैसी ही वहाँ की वहाँ स्थित है। आप (ज्ञान) उसको जानता है; अतः उपचार से उस आकार रूप हुआ कहा जाता है। ज्ञान आत्मा का गुण है और आत्मा अमूर्तिक है। अतः ज्ञान भी अमूर्तिक है और उसकी वृत्तिरूप अंश भी अमूर्तिक है।

तब अमूर्तिक में किसी मूर्तिक का प्रतिबिंब कैसे आ पडता है ? यदि ज्ञान की वृत्ति को मूर्तिक माना जावे तो इन्द्रियों से ग्रहण करने योग्य होना चाहिये। तथा मन की तरह अतिसूक्ष्म मानकर अप्रत्यक्ष कहा जावे तो स्वसंवेदनगोचर भी न रहेगा। यदि स्वसंवेदनस्वरूप भी न कहा जावे तो अन्य अर्थ (वस्तु) को भी नहीं जानेगा तथा दीपक की तरह परप्रकाशक ही बतावें तो दीपक तो जड़ है, अन्य के नेत्रों को ज्ञान का सहकारी मात्र उपचार से कहा जाता है, परमार्थ से ज्ञान का कारण आत्मा ही है।

तथा मूर्तिक के तो स्वसंवेदन किसी ने देखा नहीं तथा किसी ने माना भी नहीं; क्योंकि ज्ञान की वृत्ति अर्थात् पर्याय अमूर्तिक ही है।

यदि **कहा जावे** – ज्ञान की वृत्ति का विषयों को जानने का नियम है, इससे जाना जाता है कि ये (ज्ञान) ज्ञेयों के प्रतिबिम्ब को धारण करता है।

उससे कहते हैं – निराकार के भी विषय के नियम की सिद्धि हैं जैसे पुरुष जिसे देखे उसके भोग का नियम है वैसे।

वह **पुनः कहता है** – बुद्धि का विषय जो अर्थ (वस्तु) का प्रतिबिंब है उसे पुरुष भोगता है; अतः विषय के प्रति नियम है।

उससे कहते हैं – बुद्धि कुछ अर्थों के प्रतिबिंब को नहीं धारण करती तथा समस्त अर्थों के प्रतिबिंब को नहीं धारण करती, इसका कारण क्या है ?

वहाँ **वह कहता है** – जिसमें अहंकार हुआ उस ही के प्रतिबिंब को धारण करती है।

उससे कहते हैं – इस प्रकार तो अहंकार का नियम निश्चित हुआ। बुद्धि तो प्रतिबिंब के बिना ही अर्थ को स्थापित (ग्रहण) करती है यह निश्चित हुआ तथा मन के संकल्प को अहंकार जाना, इन्द्रियों का आलोच्या मन जाना। इस प्रकार अपनी – अपनी सामग्री ही विषय के प्रति नियम हुआ। अतः प्रतिबिंब की कल्पना करके (जानना) कहा है। ऐसा होने पर चित्त की वृत्ति का स्वरूप अर्थात् पदार्थ के प्रतिबिंब धारने रूप समानरूपता नहीं है, जिससे उस मात्र संप्रज्ञातयोग ठहरे। अतः अन्यमतियों के ध्यान का (होना) संभव नहीं है।

तथा उनके ध्येय वस्तु की भी सिद्धि नहीं होती। उनके यहाँ ध्यान के सूत्र में ध्येय का ग्रहण ही नहीं है। तथा जब ध्यान की ही सिद्धि नहीं है तब ध्येय की सिद्धि कहाँ से हो ? स्याद्वादियों के ध्यान है वह विशिष्ट ध्येय में कहा ही है। जिससे चिंता के निरोध के एकदेश से तथा सर्वदेश से ध्यान के एकाग्रविषयपने द्वारा विशेषण किया है, वह ही ध्येय है। अनेक में, अप्रधान में तथा कल्पित में चिंतानिरोध नहीं होता; अतः एकाग्र में चिंतानिरोध को ध्यान कहा है। यहाँ 'एक' शब्द तो संख्या वाचक है और अंग्यते तत् अथवा अंगति तस्मिन् ऐसे विग्रह से अग्र शब्द बना है। अतः इसका अर्थ मुख है, भद्र, इंद्र, अग्र, विप्र ये शब्द निपातसिद्ध हैं। अंगि धातु गति के अर्थ में है। उसके कर्म में तथा अधिकरण में 'र' प्रत्यय का विधान है तथा मन की वृत्ति को चिंता कहते हैं तथा जिसके अनियम क्रिया हो, उसका नियम से क्रिया के कर्तापने में अवस्थान हो वह निरोध कहा जाता है। यहाँ समास करते है – एक अग्र अर्थात् मुख जिसके हो उसे एकाग्र कहते हैं। चिंता के निरोध को चिंतानिरोध कहते हैं तथा एकाग्र और चिंतानिरोध वही एकाग्र चिंतानिरोध कहते है। ऐसा

एकाग्रचिंतानिरोध किससे होता है ? आत्मा की सामर्थ्य के विशेष से होता है। जैसे दीपक की शिखा निर्वात (जहाँ हवा न चल रही हो) देश में अंतरंग और बहिरंग हेतु के वश निश्चल रहती है वैसे ही चिंता (मन की वृत्ति) भी वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम के विशेष से निराकुल प्रदेश में निश्चल रहती है। इसलिये अन्य चिंतानिरोध से नानामुख (अनेक वस्तुओं के प्रति) निवृत्ति कही है अथवा अग्र शब्द है वह अर्थपर्यायवाची है; क्योंकि इसको कर्णसाधन करते है, तब अर्थपर्यायवाची होता है। एकपना (एकत्व) ही अग्र है उसे एकाग्र कहते हैं। ऐसा एकत्व की संख्या विशिष्ट (विशेष) अर्थ हुआ तथा एक शब्द को प्रधानवाची लें तब एकाग्र में चिंतानिरोध कहा जावे। ऐसे अनेक गौणभूत अर्थों में चिंतानिरोध का निषेध हुआ। इस प्रकार कल्पनारोपित (कल्पित) ध्यान का निषेध हुआ।

यहाँ **तर्क** – अनेकवादियों (संभवत: अनेकान्तवादी) के सभी पदार्थ एकानेक रूप माने गये हैं तब अनेक रूप का निषेध कैसे होगा ? एक अर्थ में ध्यान कैसे होगा ?

समाधान : यह तर्क बिना विचारा है। एक अर्थ की एक पर्याय को प्रधान करके ध्यान का विषय कहा है। द्रव्य के अन्य पर्यायें होने पर भी गौणपने से ध्यान का विषय नहीं है। इस ही लिये संख्यावाची 'एक' शब्द को यहाँ ग्रहण किया है।

पुन: **तर्क :** इस प्रकार तो कल्पना रोपित विषय में ध्यान हुआ; क्योंकि वस्तु पर्याय मात्र नहीं है द्रव्य मात्र भी नहीं है। द्रव्यपर्यायस्वरूप जात्यंतर वस्तु स्वीकार की गयी है। नय का विषय वस्तु का एकदेश है। यदि सर्वदेश वस्तु को नय का विषय माना जावे तो इसका विकलादेशपने से विरोध होता है।

समाधान : ऐसा कहने वाला भी न्याय का वेत्ता (ज्ञाता) नहीं है। सर्वथा द्रव्यपर्याय स्वरूप के निषेध रूप पर्यायमात्र माना जावे तो अवस्तु होगी। पर जहाँ द्रव्यपर्याय के परस्पर सापेक्षता हो वहाँ तो अवस्तुपना है नहीं। अत: नय के विषय एकदेश है तो भी उसे अवस्तु नहीं कहा जा सकता।

तथा **कोई कहता है** – स्वरूप का अवलम्बन ही ध्यान है। यह भी युक्त नहीं है; क्योंकि सर्वथा अंशरहित वस्तु में तो ध्यान ध्येयपना प्राप्त होता नहीं। कथंचित अनेकरूप वस्तु के ही उससे अविरुद्ध ध्यान होता है, अर्थान्तरभूत ध्येय वस्तु ही में ध्यान प्रवर्तता है। इस तरह स्वयं से भिन्न ही जो द्रव्यपरमाणु तथा भावपरमाणु का अवलम्बन करता है। ऐसा नहीं है कि द्रव्यपरमाणु भावपरमाणु अर्थपर्याय नहीं हो; क्योंकि पुद्गल द्रव्य के पर्याय है। यहाँ परमाणु शब्द का अर्थ ऐसा है कि परम अर्थात् उत्कृष्ट जिसका पुन: विभाग न हो ऐसा अंश परमाणु है। द्रव्य का परमाणु तो पुद्गल परमाणु है तथा निश्चय काल का अणु है, इनसे छोटा अन्य द्रव्य नहीं है।

तथा भावपरमाणु के क्षेत्र अपेक्षा तो एकप्रदेश है। व्यवहारकाल का एक समय है तथा भाव अपेक्षा अविभागी प्रतिच्छेद है। वहाँ पुद्गल के गुण अपेक्षा तो स्पर्श, रस, गंध, वर्ण इनके

परिणमन का अंश लिया है और जीव के गुण की अपेक्षा ज्ञान का तथा कषाय का एक अंश लिया जाता है। इस तरह द्रव्य परमाणु भावपरमाणु यथासंभव समझ लेना; क्योंकि ध्यान शब्द है, वह भावसाधन भी है, कर्तृ साधन भी है और करण साधन भी है तथा ध्येय के प्रति व्यापाररूप होकर प्रवर्तना भाव साधन है तथा स्वयं स्वतत्र ध्यावे तो ध्यान कर्तृ साधन है। तथा साधकतम की विवक्षा की जावे तब ज्ञानावरण वीर्यान्तराय के विगम के विशेष से उत्पन्न हुआ जो शक्ति का विशेष उसका आत्मा ध्यावे वह करणसाधन है। इनकी एकान्त कल्पना में दोष आदि सूत्र के व्याख्यान में कहे है। तथा ज्ञान शब्द के करण आदि साधन कहे है वहाँ जानना। यदि ध्यान निर्विषय हो तो उसके भावसाधनपना आदि नहीं बन सकते है (संभव नहीं है) तथा भाववान के बिना भाव (का होना) असंभव है। कर्ता का अभाव हो वहाँ करणपना बनता नहीं है, सर्वथा एकान्त में कारक की व्यवस्था असंभव है वह पहले कहा ही है।

तथा **कोई कहता है**– कल्पनारोपित विषय में भी ध्यान कहा जाता है। एकान्त से ऐसा कहना भी कल्याणकारी नहीं है; क्योंकि निर्विषय ध्यान भी कल्पित ही निश्चित होता है। जैसे बालक कल्पित कढाई, सामग्री, चूल्हे आदि से कल्पित भोजन कर लेने का नाम करे, उससे तृप्ति कैसे हो? वैसे ही कल्पित ध्यान से ध्यानी को तृप्ति नहीं प्राप्त होती है। अत: एकान्तवादियों के ध्यान ध्येय की व्यवस्था ठहरती नहीं हैं; क्योंकि उनके जो तत्व माने है उनका निर्णय अयोग है तथा ध्यान का कर्ता पुरुष ही को नहीं मानते है क्योंकि पुरुष को सर्वथा नित्य कूटस्थ माना है, उसके पूर्वापर स्वभाव का त्याग ग्रहण तो (सर्वथानित्य होने से) है ही नहीं। ध्यान की अवस्था कैसे बने ? इस ही प्रकार क्षणिक मानने वालों के भी (ध्यान) बनता नहीं है। तथा प्रधान को ध्यान माने तो प्रधान तो जड़ है, जड़ के ध्यान कैसा ? तथा प्रधान के पर्याय रूप आत्मा को ध्यानी कहै तो वह (जड़ की पर्याय होने से) भी जड़ है। प्रधान से अलग तो है नहीं। कल्पित कहे तो अवस्तु ही हुआ, जैसे बौद्ध द्वारा माना गया संतान अवस्तु है उसी प्रकार यह हुआ। अत: स्याद्वादियों के ही ध्याता होना संभव है, उसे सूत्र में उत्तमसंहनन का धारी कहा ही है।

यहाँ **अन्यमती कहते हैं** – हमारे पवन को साधने वाले हैं, वे उत्तम संहनन के बिना ही ध्यान की सामर्थ्य से मन को वश करते हैं।

उससे पूछते है – पवन को कैसे साधा ?

वह कहता है – गुरु द्वारा उपदेशित अभ्यास किया उससे पवन को जीता।

वहाँ कहते हैं – उत्तम संहनन के बिना ऐसा अभ्यास भी संभव नहीं है। उस अभ्यास में दृढ शरीर न हो तो पीड़ा उत्पन्न होगी। वहाँ अन्तर्ध्यान (संभवत: आर्तध्यान) होगा। पहले जिसका पवन

धारणा में मन लीन हो, उसकी अन्य ध्येय में प्रवृत्ति हो। तब ध्यान किसका ? ज्ञान को एकाग्र करे और पवन का भी यत्न करे, इस प्रकार तो मन एकाग्र होता नहीं। इस ही युक्ति से जो प्राणायाम धारण को ध्यान का कारण कहते हैं अथवा प्रत्याहार को (ध्यान) कहते हैं वे भी बनते (ध्यान हो सकते) नहीं तथा यम और नियम हैं, वे ध्यान का कारण है ही, यह तो स्याद्वादी भी मानते हैं, क्योंकि असंयमी के योग की सिद्धि नहीं है तथा अन्तमुहुर्त तक ध्यान का काल कहा है, यह काल भी हीन संहनन के धारक के हो सकता नहीं (इतने काल एकाग्र नहीं रह सकता)। उत्तम संहनन वाला भी अन्तमुहुर्त से अधिक ध्यान में एक ध्येय को ध्या सकता नहीं है।

यहाँ पूछते हैं – मुनियों को बहुत काल तक भी ध्यान अवस्था रहती है।

उससे कहते है – एक ध्येय को छोड़कर दूसरे ध्येय में उपयोग आता है। इस तरह अन्य अन्य ध्येय पलटने रूप ध्यान की संतान चला करती है। इस प्रकार बहुत काल तक भी ध्यान का अवस्थान कहा जावे तो इसमें ध्यान का विरोध नहीं है।

यहाँ **बौद्धमती तर्क** करता है – ध्यान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त कह रहे हो। अन्तर्मुहूर्त के तो समय बहुत है। उन सब समयों में प्रतिसमय एक ध्येय पर वैसा ही ध्यान होता (रहता) है। इस ही प्रकार द्वितीय आदि अन्तर्मुहूर्त में वैसे ही लगा रहता है, ऐसा क्यों नहीं मानते हो ? इस तरह बहुत काल तक भी एक ध्येय में ध्यान का अविच्छिन्न रहना संभव है और यदि अन्तर्मुहूर्त में ही (ध्यान का) विच्छेद मानते हो तो द्वितीय समय में ही विच्छेद होगा। इस प्रकार एक समय मात्र ही ध्यान की स्थिति निश्चित होगी। हमारे सर्व ही पदार्थों की क्षणमात्र स्थिति मानी गयी है। इस प्रकार क्षणिक होने में बाधा आती है।

समाधान : इस प्रकार वस्तु को क्षणस्थायी मानने वाले बौद्धमतियों के पहले क्षण ध्यान की अवस्थिति है वैसे ही उस ध्यान के अंत समय भी एक क्षण स्थायित्व ठहरा, तब ध्यान का किसी क्षण में विनाश नहीं कहा जावेगा। अत: सर्वक्षण में ध्यान की स्थिति व्यापक निश्चित हुई। यदि ऐसा न माना जावे तो एक क्षण मात्र भी स्थिति नहीं ठहरेगी (मानी जा सकेगी)।

तब **वह कहता है** – एक क्षण स्थायी के जो उत्पति है, वही विनाश है। अत: सदा अवस्थित नहीं कहते।

उससे कहते हैं – यदि ऐसा है तो हम अन्तर्मुहूर्त स्थिति मात्र ध्यान कहते हैं। हमारे भी अन्तर्मुहूर्त से उत्तरकाल में समय आदि स्थिति की उत्पत्ति है, वही विनाश है तथा अन्तर्मुहूर्त स्थिरता से ध्यान के आत्मलाभ रूप उत्पत्ति है। इस तरह अविच्छेद रूप होने से सदा अवस्थित रूप ध्यान का प्रसंग नहीं आता है जिससे नित्य कूटस्थ ठहरे।

तब **वह कहता है** – अन्यकाल में अन्य की उत्पत्ति है, उसे ही अन्तर्मुहूर्त ठहरने वाले का नाश कैसे मानते हो ?

वहाँ कहते हैं –क्षण का भी तो अन्य अन्य काल है। उसमें एकक्षण में नाश अन्य क्षण स्थितिपने से उत्पत्ति कैसे मानते हो ? उसमें तो हमारा और तुम्हारा कहना समान है। ऐसा होने पर क्षणिकवस्तु के उत्पत्ति विनाश दोनों ही सिद्ध नहीं होते हैं। कूटस्थनित्य की ही सिद्धि होती है।

तथा जो क्षणिकवादियों का ऐसा अभिप्राय है कि एक क्षण बाद नाश होता है वह दूसरे क्षण रहने रूप उत्पन्न होता है, इस तरह सदा ही उत्पत्ति सदा ही विनाश नहीं ठहरता जिससे क्षणिक की सिद्धि न हो। यदि ऐसा माना जावेगा तो अन्तर्मुहूर्त स्थितिरूप भी ठहरेगा। अन्तर्मुहूर्त ठहरकर नाश हुआ फिर अन्य अन्तर्मुहूर्त ठहरने के लिये उत्पत्ति हुई, इस तरह समानता है।

पुनः वह कहता है – ऐसा है तो संवर आदि तक ध्यान का काल क्यों नहीं कहते ?

उत्तर : जहाँ जैसा संभव है वहाँ वैसा कहते हैं। मन की वृत्तिरूप जो चिंता का निरोध एक ध्येय में अन्तर्मुहूर्त से अधिक ठहरना संभव नहीं है। यह अनुभवगोचर है। मन की वृत्ति के एक विषय से अन्य विषय में बदल जाना देखा जाता है। इस ही प्रकार हीन संहनन वाले के चिंता का निरोध अल्पकाल तक देखा जाता है और उत्तमसंहनन वाले के अन्तर्मुहूर्त की संभावना है। आगम प्रमाण से भी यह सिद्ध है। तथा अन्तर्मुहूर्त का स्वरूप आगम से जानना।

यहाँ **कोई कहता है** – जो ज्ञान है वही ध्यान है।

उससे कहते हैं – ऐसा नहीं है। ज्ञान तो चलाचल रूप है। ध्यान है, वह ज्ञान की निश्चल अवस्था है। इस प्रकार ज्ञान से ध्यान का लक्षण भिन्न है। इस ही लिये ध्यान को कथन में लेकर उसका स्वरूप कहने के लिये अन्तर्मुहूर्त कहने से बहुत काल अर्थात् दिवस आदि का निषेध है; क्योंकि ऐसी शक्ति का अभाव है तथा सूत्र में 'एक' शब्द है, जिसका अर्थ प्रधानता भी होता है। उस अर्थ की अपेक्षा यहाँ 'एक' अर्थात् प्रधान जो ध्यान करने वाला पुरुष उस ही में चिंता का निरोध करे तथा 'अग्र' शब्द का अर्थ पुरुष होता है। उसकी अपेक्षा भी पुरुष (आत्मा) में चिन्ता का निरोध अर्थात् अन्य ध्येय को छोड़कर स्वयं में ही ध्यान की प्रवृत्ति होती है। इस तरह अनेक अर्थों का वाची जो एकाग्र शब्द को सूत्र में युक्तरूप से स्थान दिया है। यहाँ एकार्थ वचन को ही नहीं ग्रहण करना है, यदि एकार्थ ऐसा वचन ग्रहण किया जावेगा तो "विचारोऽर्थव्यंजनयोगसंक्रांतिः" इस सूत्र में (ध्यान का) द्रव्य पर्याय में पलटना (होता है) ऐसा अर्थ है, उसका निषेध होता है। इसलिये एकाग्र शब्द से पलटने के अर्थ का विरोध नहीं होता है, ऐसा जानना।

तथा यदि चिंता का निरोध दिवस-मास आदि तक ठहरना माना जावे तो यह संभव नहीं है,

क्योंकि इन्द्रियों को पीड़ा उत्पन्न होती है तथा यदि श्वासोच्छवास रोकने को ध्यान कहा जावे तो श्वास रोकने से तो शरीर का नाश हो जावे, मृत्यु हो जावे तथा जो अन्यवादी कहते हैं कि मंद-मंद श्वासोच्छवास का संचार करके रोके तो शरीर का घात नहीं होता है, इसमें पीड़ा भी नहीं है। उससे कहते हैं -ऐसा नहीं है। मंद श्वासोच्छवास रोकने का साधन करना तो ध्यान का साधन करना है, जैसे आसन आदि किये जाते हैं, वैसे ही यह भी है। ध्यान तो एकाग्रचिंता निरोध हो वह ही है। तथा जय आदि में चित्त की प्रवृति रहती है, वह भी ध्यान नहीं है तथा ध्यान के साधन के उपाय गुप्ति आदि पहले कहे ही थे वे संवर के कारण भी है और ध्यान के उपाय भी हैं।

आगे ध्यान के भेद बताने के लिये सूत्र कहते हैं -

।। आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि ।। ९-२८ ।।

अर्थ : आर्त, रौद्र, धर्म्य, शुक्ल - ये ध्यान के चार भेद हैं। वहाँ ऋतु दु:ख को कहते हैं अथवा अर्दन अर्थात् अरति पीड़ा बाधा जिसमें उत्पन्न हो, वह आर्त (ध्यान) कहा जाता है। रुद्र क्रूर आशय को कहते हैं, उसका कर्म अथवा उसमें उत्पन्न हो, वह रौद्र (ध्यान) कहा जाता है। धर्म का कथन पहले किया है, उस सहित हो वह धर्म्य (ध्यान) कहा जाता है। शुचिगुण के योग से शुक्ल कहा जाता है। आत्मा के परिणाम कषायमल रहित उज्ज्वल हों, वह शुक्ल (ध्यान) है। इस तरह ध्यान चार प्रकार का है। प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार का है। आर्तध्यान और रौद्रध्यान तो अप्रशस्त हैं। ये तो पाप आस्रव के कारण हैं तथा धर्म्यध्यान शुक्लध्यान प्रशस्त हैं, जो कर्म के नाश के कारण हैं।

आगे प्रशस्त ध्यान कौनसे हैं, यह बताने के लिये सूत्र कहते हैं -

।। परे मोक्षहेतू ।। ९-२९ ।।

अर्थ : पर अर्थात् अन्त के दो ध्यान हैं, वे मोक्ष के हेतु हैं। पर शब्द से अन्त का एक होता है, उसके समीपता होने से धर्म्यध्यान को भी उपचार से पर कहा है, क्योंकि सूत्र में द्विवचन है इसलिये सामर्थ्य से गौण का भी ग्रहण हुआ है। इस तरह 'पर' कहने से धर्म्यध्यान व शुक्लध्यान - ये दो मोक्ष के कारण हैं। ये प्रशस्त हैं, इस कथन से ही पहले दो अर्थात् आर्तध्यान व रौद्रध्यान अप्रशस्त हैं, संसार के कारण हैं।

आर्त ध्यान चार प्रकार का है। आगे उसके प्रथम भेद का लक्षण कहने के लिये सूत्र कहते हैं -

।। आर्तममनोज्ञस्य सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहार: ।। ९-३० ।।

अर्थ : अमनोज्ञ वस्तु का संयोग होने पर उसका वियोग करने का बार-बार चिंतवन करना हो, चिंता का कारण हो, वह आर्तध्यान का पहला भेद है। अमनोज्ञ अप्रिय को कहते हैं। जो स्वयं को

बाधा का कारण हो – ऐसे विष, कंटक, शत्रु, शस्त्र आदि अमनोज्ञ हैं। उनका संयोग होने पर मुझसे इनका वियोग (ये मुझसे दूर) कैसे हो ? ऐसा संकल्प का होना ही चिंता का प्रबंध है, इसे स्मृति समन्वाहार कहते हैं। इस तरह आर्तध्यान के पहले भेद का कथन किया।

आगे दूसरे भेद का लक्षण सूत्र कहते हैं –

।। विपरीतं मनोज्ञस्य ।। ९–३१ ।।

अर्थ : मनोज्ञ वस्तु का वियोग होने पर उसके संयोग (प्राप्ति) के लिये बारबार चिंतवन का रहना, आर्तध्यान का दूसरा भेद है। यह पहले भेद में कहा उससे विपरीत है। अत: ऐसा अर्थ हुआ कि मनोज्ञ – प्यारा अपना पुत्र, स्त्री, धन आदि वस्तु का वियोग होने पर उनका संयोग होने के लिये संकल्प का रहना, बारबार चिंता का प्रबंध होना, आर्तध्यान का दूसरा भेद है।

आगे आर्तध्यान के तीसरे भेद का लक्षण कहने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। वेदनायाश्च ।। ९–३२ ।।

अर्थ : वेदना अर्थात् रोग की पीड़ा का बार–बार चिंतवन रहना आर्तध्यान का तीसरा भेद है। वहाँ वेदना शब्द का अर्थ सुख और दु:ख दोनों ही होते हैं; परन्तु यहाँ आर्तध्यान का प्रकरण है, अत: दु:ख अर्थ को ही ग्रहण करना। इस तरह वात आदि रोगविकारों से उत्पन्न वेदना का मेरे कैसे नाश हो ? ऐसा संकल्प चित्त प्रबंध हो, वह आर्तध्यान का तीसरा भेद है।

आगे आर्तध्यान के चौथे भेद के लक्षण का सूत्र कहते हैं –

।। निदानं च ।। ९–३३।।

अर्थ : आगामी (भविष्य में) भोग मिलने की वांछा को निदान कहते हैं। उसके चिंतवन का रहना आर्तध्यान का चौथा भेद है। भोगों की वांछा से आतुर पुरुष के आगामी काल में विषयों की प्राप्ति के प्रति संकल्प का रहना, बारबार ऐसे चिंतवन का रहना आर्तध्यान का चौथा भेद है।

यहाँ **कोई कहता है** – मनोज्ञ वस्तु के संयोग की वांछा तो दूसरे भेद में कही ही थी तब उसमें और इसमें क्या अंतर है ?

उससे कहते हैं – पहले न प्राप्त किये विषयों की वांछा तो निदान है और प्राप्त हुये का वियोग हुआ हो उसके संयोग की वांछा, वह दूसरा भेद (इष्ट वियोगज) है ऐसा विशेष है।

आगे ये आर्तध्यान के चार भेद किन–किन को होते हैं ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ।। ९–३४ ।।

अर्थ : ये चार प्रकार के ध्यान (आर्तध्यान) अविरत अर्थात् असंयमी देशविरत अर्थात् संयमासंयमी प्रमत्तसंयत अर्थात् प्रमाद सहित संयमी के होते है। यहाँ अविरत तो मिथ्यादृष्टि गुणस्थान

से लेकर अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक जानना। देशविरत संयमासंयम वाले श्रावक हैं। प्रमत्तसंयत पन्द्रह प्रकार के प्रमाद सहित मुनिपने की आहार-विहार आदि क्रिया सहित तथा आचार्यपद की क्रिया का आचरण करने वाले हैं। वहाँ अविरत और देशविरत के तो चारों ही प्रकार का आर्तध्यान होता है, इससे ये असंयम परिणाम सहित है। प्रमत्तसंयमी को निदान को छोड़कर तीन ही प्रकार के आर्तध्यान होते हैं। वह भी जिस काल प्रमाद का तीव्र उदय आ जावे, उस काल होते हैं, सदा ही नहीं होते रहते।

इसका विशेष इस प्रकार है - आर्तध्यान जब तीव्र होता है, तब कृष्ण, नील, कापोत लेश्या के बल से होता है। अज्ञान से उत्पन्न होता है। पुरुष के परिणाम इसमें लीन होते है। पाप के प्रयोग के आश्रय से होते हैं। बाह्य विषय के प्रसंग (निमित) से होते हैं। इसमें अनेक संकल्प पाये जाते हैं। धर्म का आश्रय छुटाने वाले कषायों के आश्रय से होते हैं। कषाय को तीव्र बढाने वाले होते हैं। प्रमाद इनका मूल है। इनसे पापकर्म का ग्रहण होता हैं। इनका फल कडुआ है। तिर्यंचगति का कारण है। ऐसा तो मिथ्यादृष्टि के होता है तथा सम्यग्दृष्टि देशव्रती संयमी के उत्तरोतर मंद होते हैं।

आर्तध्यान का कथन तो संज्ञा आदि पूर्वक कहा। अब आगे दूसरे ध्यान की संज्ञा हेतु स्वामी के निर्धारण हेतु सूत्र कहते हैं -

।। हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयो ।। ९-३५ ।।

अर्थ : हिंसा, अनृत, स्तेय, विषय की रक्षा - इनसे रौद्रध्यान होता है। इसलिये इसके भी चार भेद हैं। यह अविरत और देशविरत इन दोनों के होता है। हिंसा आदि का स्वरूप तो पहले कह ही चुके हैं। ये रौद्रध्यान की उत्पत्ति का कारण होते हैं। इस ही लिये सूत्र में पंचमी विभक्ति करके हेतु का निर्देश किया है। यहाँ स्मृति समन्वाहार अर्थात् चिंताप्रबंध को साथ लेना जैसे हिंसा का स्मृतिसमन्वाहार इत्यादि। यह रौद्रध्यान अविरत और देशविरत दोनों के होता है।

यहाँ **प्रश्न :** अविरत को तो रौद्रध्यान होना योग्य है, देशविरत के कैसे कहा ?

उत्तर : देशविरत के हिंसा आदि का आवेश पाया जाता है, विरत आदि की रक्षा के आधीन है; अत: कदाकाल (कभी कभी) होता है, अत: (उन्हें) नरक आदि दुर्गति का कारण नहीं है; क्योंकि इनके सम्यग्दर्शन की सामर्थ्य है; अत: इनका फल मंद होता है। तथा सकल संयमियों के यह होता ही नहीं है, यह हो तो संयम से च्युत हो जावे। यह रौद्रध्यान तीव्र होता है, तब अतिकृष्ण, नील, कपोत लेश्या के बल से होता है। प्रमाद इसका आश्रय है। नरकगति का कारण है। इन दोनों अप्रशस्त ध्यानों में आत्मा तप्त लोहे का पिंड जैसे जल खींचता है, वैसे कर्मों को खेंचते हैं।

आगे पूछते हैं उत्तर दो ध्यानों को मोक्ष का कारण कहा, उनमें से पहले वाले ध्यान के भेद

स्वरूप स्वामी का ज्ञान करावें। ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम् ।। ९–३६ ।।

अर्थ : आज्ञा, अपाय, विपाक, संस्थान – के विचय अर्थात् विचार के लिये चिंतवन हो, वे इस धर्म्यध्यान के चार भेद हैं। विचय, विवेक, विचारना ये सब एकार्थ हैं। आज्ञा, अपाय, विपाक, संस्थान – इन चारों का विचय। यहाँ भी स्मृति समन्वाहार की अनुवृत्ति करना अर्थात् सबके साथ अलग–अलग जोड़ लेना जैसे आज्ञा विचय स्मृति समन्वाहार इत्यादि। अब इनका कथन करते हैं –

उपदेशदाता के अभाव में अपनी मंदबुद्धि से कर्म के उदयवश जो सूक्ष्म पदार्थ है, उनका हेतु दृष्टांत आदि जाने बिना सर्वज्ञ के कहे आगम ही को प्रमाण मानकर ''यह पदार्थ का स्वरूप सर्वज्ञ भाषित है, अत: ऐसा ही है; क्योंकि जिनदेव सर्वज्ञ वीतराग हैं, अन्यथा कथन करते नहीं'' ऐसा पदार्थ के गहन श्रद्धान से अर्थ का अवधारण करना आज्ञाविचय है तथा स्वयं ने पदार्थ का स्वरूप जैसा जाना है, वैसा ही अन्य को कहने की इच्छा जिसके हो, ऐसे पुरुष के अपने सिद्धांत से अविरुद्ध तत्वार्थ को दृढ करने का जिसमें प्रयोजन है तथा तर्क, नय, प्रमाण की योजना में प्रवीणतारूप स्मृति समन्वाहार अर्थात् बार–बार चिंतवन भी आज्ञाविचय है। क्योंकि इसमें भी सर्वज्ञ की आज्ञा प्रकाशन का ही प्रयोजन होता है, अत: **आज्ञाविचय** कहा जाता है।

तथा ये प्राणी सर्वज्ञ की आज्ञा से विमुख हैं, वे सब अंधे की तरह मिथ्यादृष्टि है, मोक्ष की चाह रखते हैं, परन्तु सम्यग्मार्ग से दूर ही प्रवर्तते हैं। इस तरह समीचीन मार्ग के अपाय का चिंतवन अपायविचय है अथवा मिथ्यादर्शन ज्ञान चारित्र से कैसे दूर हो – ऐसी बार बार चिंता करना भी अपाय विचय है। अपाय अभाव को कहते हैं। अत: मिथ्यादृष्टि के सच्चे मार्ग का अभाव है, ऐसा चिंतवन तथा उनके मिथ्यामार्ग के अभाव (छूटे ऐसे) के उपाय का चिंतवन करने को **अपायविचय** कहते हैं।

तथा ज्ञानावरण आदि कर्मों के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भव के निमित्त से हुये फल के अनुभव का चिंतवन करना **विपाकविचय** है।

तथा लोक के संस्थान (की रचना) का चिंतवन रहे वह **संस्थान विचय** है।

इस तरह उत्तमक्षमा आदि को धर्म कहा था, सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र को धर्म तथा वस्तु के स्वरूप को धर्म (कहा था) उनसे सम्बन्धित धर्मध्यान को चार प्रकार का ही जानना। यह अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमतसंयत और अप्रमतसंयत को होता है।

यहाँ ऐसा जानना कि आज्ञा तो सर्वज्ञ की वाणी है। अपाय मिथ्यात्व से अपक्षरण (दूर) करना है। कर्म का फल है, वह विपाक है। लोक का आकार है, वह संस्थान है। यदि आज्ञा सामान्य का चिंतवन करें, तब एकरूप चिंतानिरोध हो। तथा अलग अलग पदार्थ (कथनों) को आज्ञा प्रमाण

करके चिंतवन करे तब अलग अलग जानना। इस ही प्रकार संस्थान में भी सामान्य विशेष का चिंतवन जानना तथा अपाय और विपाक ध्यानों में अलग अलग के ही चिंतवन में चिंतानिरोध होता है। अविरत सम्यग्दृष्टि आदि के तो गौणरूप से (धर्म्य) ध्यान है। अप्रमत्त के यह ध्यान मुख्य है। अनुप्रेक्षा तो चिंतवन रूप ही है। जब एकाग्रचिंतानिरोध हो तब ध्यान कहा जाता है। इस तरह अनुप्रेक्षा से ध्यान को भिन्न जानना।

तथा **यहाँ कोई पूछता है**–अन्यमती मिथ्यादृष्टि तथा भद्रपरिणामी के व्रत, शील, संयम आदि तथा जीवों की दया के अभिप्राय से तथा भगवान की सामान्य भक्ति में धर्मबुद्धि से चित्त को एकाग्रकर चिंतवन करने वालों के शुभ धर्मध्यान है या नहीं ?

समाधान : यहाँ मोक्षमार्ग का प्रकरण है; अत: जिस ध्यान से कर्मों की निर्जरा हो वही यहाँ (धर्मध्यान) माना जावेगा। तथा सम्यग्दर्शन के बिना कर्मों की निर्जरा होती नहीं। मिथ्यादृष्टि के शुभध्यान शुभबंध का ही कारण है। अनादि से कई बार ऐसा ध्यान कर करके शुभ कर्म बांधे हैं, परन्तु निर्जरा के बिना मोक्षमार्ग होता नहीं। अत: मिथ्यादृष्टि का ध्यान मोक्षमार्ग में सराहनीय नहीं है, ऐसा जानना।

तीन ध्यानों का निरूपण हो चुका अब (चौथे ध्यान) शुक्लध्यान का निरूपण करना है। यह भी चार प्रकार का है ऐसा कहेंगे। उनमें से शुरू के दो भेदों के स्वामी को बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। शुक्ले चाद्ये पूर्वविद: ।। ९–३७ ।।

अर्थ : शुरू के दो शुक्ल ध्यान पूर्व को जानने वालों को होते हैं। आगे जो शुक्लध्यान के चार भेद कहेंगे उनमें से शुरू के दो ध्यान पूर्व का जिनको ज्ञान होता है, उनको होते हैं। यहाँ पूर्वविद् शब्द से श्रुतकेवली कहा समझना तथा सूत्र में 'च' शब्द से यह समझना कि श्रुतकेवलियों को धर्मध्यान भी होता है, क्योंकि सूत्र के व्याख्यान से विशेष की प्रतिपत्ति होती है ऐसा वचन (शास्त्र में कथन) है, अत: प्रमत्त, अप्रमत गुणस्थानवर्ती मुनि भी पूर्व को जानने वाले होते हैं। उनके धर्मध्यान भी होता है; क्योंकि श्रेणी चढने से पहले तो धर्मध्यान है और श्रेणी चढते हैं तब शुक्लध्यान होता है, ऐसा व्याख्यान (शास्त्रों में कथन) है। अत: 'च' शब्द से श्रुतकेवली को प्रमत्त – अप्रमत (गुणस्थानों) में धर्मध्यान होता है, ऐसा समुच्चय किया है।

आगे पूछते हैं कि शेष दो शुक्लध्यान किनको होते हैं ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। परे केवलिन: ।। ९–३८ ।।

अर्थ : परे अर्थात् बाद के दो शुक्लध्यान केवलज्ञानी को होते हैं। जिनके समस्त ज्ञानावरण, दर्शनावरण (आदि घाति चार कर्मों) का क्षय हुआ हो – ऐसे सयोगकेवली तथा अयोगकेवली के ये बाद वाले दो शुक्लध्यान यथासंभव जानना। सयोगकेवली को तीसरा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति

नामका शुक्लध्यान होता है और अयोगकेवली को चौथा व्युपरतक्रियानिवर्ति नामका चौथा शुक्लध्यान होता है।

आगे शुक्लध्यान के भेद कहने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवर्तीनि ।। ९–३९ ।।

अर्थ : पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, व्युपरतक्रियानिवर्ति – ये शुक्लध्यान के चार भेद हैं। इनका अर्थ आगे कहेंगे। उस अपेक्षा अन्वर्थ अर्थात् जैसा इनका नाम है, वैसा ही अर्थ है।

आगे इनके भिन्न–भिन्न योगों का अवलम्बन है। यह बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम् ।। ९–४० ।।

अर्थ : (शुक्लध्यान के चारों भेदों में से) पहला भेद तो तीनों योगों में होता है। दूसरा भेद तीनों में से किसी एक योग में होता है। तीसरा भेद केवल काययोग में ही होता है। चौथा भेद योगरहित होता है। योग तो मन–वचन–काय की क्रिया है, इनका स्वरूप पहले कहा ही था। शुक्लध्यान के चार भेद कहे, उनके तीनों योग, एक योग, काययोग, अयोग इस तरह यथाक्रम कहे जानना। अत: ऐसा समझना कि जिसको तीनों योग प्रवर्ते उसके तो पृथक्त्ववितर्क (शुक्लध्यान) होता है। जिसके तीनों योग में से एक योग हो, उसके एकत्व वितर्क होता है। जिसके काय योग ही प्रवर्ते उसको सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती (शुक्लध्यान) होता है। जिसके योग नहीं प्रवर्तते हों, उसके व्युपरतक्रिया निवर्ति (शुक्लध्यान) होता है।

आगे शुरू के दो शुक्लध्यानों का विशेष बताने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे ।। ९–४१ ।।

अर्थ : पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क ये दोनों ध्यान एकाश्रय अर्थात् श्रुतकेवली के आश्रय होते हैं, जो वितर्क और वीचार सहित होते हैं। जिनका एक आश्रय है, वे एकाश्रय कहे जाते हैं। इन दोनों को ही जिनके श्रुतज्ञानपूर्ण हो वे ही आरंभते (शुरू करते) हैं तथा वितर्क और वीचार – इन दोनों सहित हों वे सवितर्क हैं। ऐसे (ध्यान) शुरू में कहे पृथक्त्व वितर्क वीचार और एकत्ववितर्क – ये दो हैं।

आगे इस सूत्र में वितर्क वीचार का यथाक्रम का प्रसंग आ सकता है, अत: उसके निषेध के लिये सूत्र कहते हैं –

।। अवीचारं द्वितीयम् ।। ९–४२ ।।

अर्थ : द्वितीय अर्थात् दूसरा जो एकत्ववितर्क (शुक्लध्यान) है, वह अवीचार है। इसमें वीचार नहीं है। शुरू के दो शुक्लध्यानों में दूसरा वीचार रहित है। अत: ऐसा अर्थ हुआ कि शुरू का

(पहला) तो वितर्क सहित और वीचार सहित है और दूसरा वितर्क सहित है अवीचार है।

आगे वितर्क और वीचार में क्या भेद हैं ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। वितर्कः श्रुतम् ।। ९–४३ ।।

अर्थ : वितर्क श्रुत को कहा जाता है। तर्कण अर्थात् समूहन जिसमें विशेष रूप से हो, उसे वितर्क कहते हैं। यह श्रुतज्ञान का नाम है। यहाँ श्रुतज्ञान शब्द श्रवणपूर्वक ज्ञान का ग्रहण है तथा मतिज्ञान के भेद चिंता का नाम भी तर्क है, उसका यहाँ ग्रहण नहीं है।

आगे पूछते हैं –वीचार क्या है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। वीचारोऽर्थव्यंजनयोग संक्रान्ति ।। ९–४४ ।।

अर्थ : अर्थ, व्यंजन, योग इन तीनों की संक्रांति अर्थात् पलटना वीचार है। 'अर्थ' कहने से अभिधेय वचन से कहने योग्य वस्तु है। इसमें द्रव्य और पर्याय दोनों लिये जाते हैं। व्यंजन शब्द से वचन का कथन है तथा काय–वचन–मन की क्रिया को योग कहते हैं। तथा संक्रांति का अर्थ परिवर्तन–पलटना है। वहाँ (चिंतवन) द्रव्य को छोड़कर पर्याय पर आ जावे, पर्याय को छोड़कर द्रव्य में आ जाना तो **अर्थसंक्रांति** है तथा श्रुत के एक वचन को ग्रहण करके उसे छोड़कर दूसरे श्रुतवचन का आलंबन करे, फिर उसे छोड़कर अन्य वचन का आलंबन करे, यह **व्यंजन संक्रांति** है तथा काययोग के आलंबन को छोड़कर वचनयोग तथा मनोयोग का अवलम्बन करे, अन्य योग को छोड़कर पुनः काययोग का अवलंबन करे, यह **योग संक्रांति** है। इस प्रकार के परिवर्तन (चिंतवन में होना) वीचार है।

यहाँ **प्रश्न :** इस प्रकार पलटने पर ध्यान कैसे कहा जा सकेगा ? ध्यान तो एकाग्र होता है।

समाधान : एक का अवलम्बन करके कुछ समय ठहरे बाद में दूसरे का अवलम्बन करे, वहाँ ठहरे। ध्यान तो ठहरने को कहते हैं, परन्तु यहाँ पहले ठहरा, पुनः ठहरा इस प्रकार ध्यान की संतती है, वह ध्यान ही है, अतः दोष नहीं है। यह सामान्यविशेष रूप से कहे चार प्रकार के धर्मध्यान और चार प्रकार के शुक्लध्यान पहले कहे गुप्ति आदि स्वरूप अनेक प्रकार के ध्यान के उपायों द्वारा जिन मुनियों ने उद्यम किया है, वे संसार के नाश के लिये ध्यान करने योग्य होते हैं। यहाँ जिसने द्रव्यपरमाणु अथवा भावपरमाणु को ध्याते श्रुतज्ञान के वचन स्वरूप वितर्क की सामर्थ्य ली है, ऐसे अर्थ व व्यंजन तथा काय एवं वचन के पृथक्त्व अर्थात् भिन्नरूप से पलटता मन कैसा है ? जैसे कोई पुरुष् कार्य करने का उत्साह करे, जितना अपना बल हो उतने काल कार्य करता ही रहे, बैठा न रहे; वैसे ही मन का बल हो वैसे ध्यान का पलटना होता रहे बैठा न रहे। इस तरह मन से ध्यावता हुआ मोह की प्रकृतियों का उपशम करता हुआ तथा क्षय करता हुआ पृथक्त्ववितर्क विचार ध्यान का धारी होता है।

यहाँ दृष्टांत कोई वृक्ष को काटने लगा, उसके शस्त्र कुल्हाड़ी आदि तीक्ष्ण न हों तब वह अनुक्रम से थोड़ा थोड़ा काटता है, उस ही प्रकार ध्यान में मन का पलटना ही शक्ति का विशेष है, अत: अनुक्रम से मोह की प्रकृति का क्षय तथा उपशम करता है तथा वह ही ध्यानी जब समस्त मोहनीय कर्म को दग्ध करने के लिये उत्साहित हुआ, तब अनन्तगुणी विशुद्धता के विशेष का आश्रयकर बहुत जो ज्ञानावरण कर्म की सहायता करने वाली कर्मप्रकृतियों की बंध की स्थिति को घटाता तथा क्षय करता हुआ अपने श्रुतज्ञान के उपयोगरूप होता हुआ जिसने अर्थ व्यंजनयोग का पलटना नहीं रचा (किया) है, ऐसे निश्चल मनस्वरूप होता हुआ जिसके कषाय क्षीण हुये है, ऐसा वैडूर्यमणी की तरह मोह के लेप से रहित हुये ध्यान से पुन: उससे निवर्तित न हो, पलटे नहीं, ऐसा एकत्ववितर्क अवीचार नामक दूसरा ध्यान होता है। इस ही प्रकार उस ध्यानी ने एकत्ववितर्क शुक्लध्यानरूप अग्नि से घातियाकर्मरूप ईधन को दग्ध किया और जिसके केवलरूपी किरणों का मण्ड (केवलज्ञान) दैदीप्यमान हुआ है, जैसे बादलरूप पिंजरे में छिपा सूर्य उन (बादलों) के दूर रहने पर बाहर निकलकर बहुत दैदीप्यमान शोभित होता है वैसे शोभित होता हुआ वह भगवान तीर्थङ्कर अथवा अन्य केवली होकर इन्द्रों के आने योग्य, स्तुति करने योग्य, पूजने योग्य कुछ कम कोटिपूर्व की आयु की स्थिति तक विहार करता है तथा जब आयु अन्तर्मुहूर्त मात्र शेष रह जाती है, तब यदि आयुकर्म की स्थिति के समान ही वेदनीय, नाम और गौत्र कर्म की स्थिति रह जावे, तब तो सर्व वचन-मन योग और बादरकाय योग का निरोध करके सूक्ष्म काययोग का अवलम्बन करे तब सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यान को ध्याने योग्य होता है तथा जब आयुकर्म की स्थिति अन्तर्मुहूर्त मात्र रहे तब वेदनीय, नाम, गौत्र की स्थिति अधिक रही हो, तो वे सयोगी भगवान अपने उपयोग के अतिशय से शीघ्र कर्म को पकाने की शेष कर्मरज को झाड़ने की शक्ति के स्वभाव से दंड, कपाट, प्रतर, लोकपूरण - इन चार क्रियाओं से आत्मा के प्रदेशों को चार समयों में फैलाने और चार ही समयों में फैलाये प्रदेशों को पुन: समेटकर चार अघातिया कर्मों की स्थिति को समान करके पहले जो शरीर का प्रमाण था उस ही प्रमाण होकर सूक्ष्मकाय योग में सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान को ध्याते हैं। यह (ऐसा) केवली समुद्धात में होता है। यहाँ उपयोग के अतिशय के विशेष इस प्रकार है - उनके सामायिक का सहाय है, उनके विशेष कारण अथवा परिणाम है और महासंवर स्वरूप है - इस तरह तीन विशेषणों वाला उनके उपयोग का अतिशय है।

इसके तुरन्त बाद (वे केवली भगवान) समुच्छिन्न क्रियानिवर्ति ध्यान का आरंभ करते हैं। उच्छिन्न अर्थात् श्वासोच्छवास के प्रवर्तन का दूर होना और सर्व काय-वचन-मन योग सर्व प्रदेशों के चलन का दूर होना, जहाँ ऐसा हो वहाँ समुच्छिन्न क्रियानिवर्ति (ध्यान) कहा जाता है। इस ध्यान में

सर्व बंध और सर्व आस्रव के निरोध एवं अवशेष कर्मों को झाड़ने की सामर्थ्य होती है। इन अयोगकेवली भगवान के संपूर्ण यथाख्यात चारित्र ज्ञान दर्शन हुये हैं, वे सर्व संसार के दु:ख के जाल के संबंध को नाश करने वाले हैं, तुरंत ही साक्षात मोक्ष के कारण हैं, वे प्रकट हुये हैं। इन भगवान के उस काल में उस ध्यान की अतिशयरूप अग्नि से सर्व कर्मरूप मल का कलंक दग्ध हुआ है। जैसे अग्नि के प्रयोग से जब धातुपाषाण रूप समस्त कीट जल जाता है तब शुद्ध स्वर्ण निकल आता है, उसी प्रकार ये (भगवान) आत्मस्वरूप को प्राप्तकर निर्वाण को प्राप्त होते हैं। इस तरह यह दो प्रकार का बाह्य अभ्यंतर तप है, वह नवीन कर्म के आस्रव के निरोध का कारण होने से संवर का कारण है तथा पूर्व बंधी कर्मरज को उड़ाने के लिये कारण है, अत: निर्जरा का भी कारण है।

यहाँ **विशेष कथन करते हैं** – केवली (भगवान) के चिंतानिरोध का अभाव है, क्योंकि क्षयोपशम ज्ञान की मन के द्वारा प्रवृत्ति होती है, सो चिन्ता है और क्षायिक ज्ञान में उपयोग निश्चल है और ध्यान का लक्षण एकाग्र चिन्ता निरोध कहा है, वह केवली के है नहीं। अत: उपचार से ही ध्यान कहा जाता है। ध्यान का कार्य योग को रोकना, अघातिकर्मों का नाश करना है जो यहाँ उपचार के लिये निमित है, अत: उपचार कहना बन जाता है तथा उनके सकलपदार्थ साक्षात हुये है, अत: ध्यानेयोग्य ध्येय कुछ नहीं है। उपयोग नित्य निश्चल हुआ है, अत: सदा ध्यानरूप ही है अत: इस अपेक्षा निश्चलध्यानी भी कहे जाते हैं। स्याद्वादियों के कुछ विरोध नहीं है, मोह के नाश से सुख है, ज्ञानावरण-दर्शनावरण के नाश से अनंत ज्ञान-दर्शन है और अन्तराय के नाश से अनन्तवीर्य है। मुक्त होने के बाद आयुकर्म के अभाव में जन्म मरण रहित है। नाम कर्म के अभाव से अमूर्तिकपना प्रकट होता है। गौत्रकर्म के अभाव में ऊँच – नीच कुल नहीं है। वेदनीय कर्म के अभाव में इन्द्रियजनित सुख दु:ख नहीं है। ऐसे ध्यान के प्रभाव से आत्मा ऐसा (ऐसे गुणों वाला) होता है।

तथा मुनि ऐसे ध्यान का उद्यम करते हैं। तब उत्तमसंहनन होने से अपने में परिषह सहने की शक्ति जाने तब ध्यान योग्य परिचय करते हैं। वह बताते हैं – पर्वत, गुफा तथा दरी कंदरा जहाँ पर्वत में जल का प्रवेश निकट (संभवत: यहाँ न होना चाहिये) हो, ऐसी कंदरा अथवा वृक्ष का कोटर, नदी का पुल, श्मशान भूमि, जीर्ण उद्यान, सूना घर इत्यादि किसी एक जगह जहाँ अवकाश (स्थान) हो सर्प, पशु – पक्षी, मनुष्य का आवागमन नहीं हो, निवास नहीं हो अति उष्णता नहीं हो, अतिशीत नहीं हो, अतिपवन नहीं हो, वर्षा आताप नहीं हो, सब तरफ बाह्य अभ्यंतर विशेष कारण से रहित भूमितल हो, पवित्र हो, जहाँ स्पर्श भी अनुकूल ही हो, बाधाकारी न हो, वहाँ सुखरूप निराकुलता के कारण रूप आसन से अथवा पल्यंकासन से शरीर को सरल करके अपने अंक में बायें हस्ततल (हथेली) को रखे, उसके ऊपर दायें हस्ततल को धरे, नेत्र न अधिक खुले हो न अधिक बंद हों, दांतों से दांतों का

अग्रभाग धारकर किंचित ऊँचा मुख किये सरल सीधी किये स्तंभ की तरह (स्थित हो) जिनकी मूर्ति हो और उन मुनि की वाणी अन्त:करण के अभ्यास से गंभीर हो, मुखवर्ण प्रसन्न हो, नेत्र टिमकार रहित हों, दृष्टि सौम्य हो तथा उनके निद्रा, आलस्य, काम, राग, रति, शोक, अरति, हास्य, भय, द्वेष, ग्लानि दूर हुये हों, श्वासोच्छवास का संचार मंद मंद हो इत्यादि क्रिया सहित साधु नाभि के ऊपर हृदय में तथा मस्तक में तथा अन्य प्रदेशों में मन की वृत्ति को स्थापितकर जैसा परिचय विचारे वैसे ही विषय में मन को लगाकर मोक्ष का इच्छुक (मुनि) प्रशस्त ध्यान को ध्याता है।

यहाँ **कोई पूछता है** – शुक्लध्यान ध्याता है, उसको ध्येय को ध्याने की इच्छा है या नहीं ?

समाधान : इच्छा मोह के उदय का कार्य है; अत: जहाँ तक अनुभव में मोह का उदय रहता है, वहाँ तक तो इच्छा व्यक्तरूप रहती है और जब मोह का उदय अतिमंद हो जाता है, तब इच्छा भी अव्यक्त हो जाती है, अपने अनुभव में इच्छा दिखाई नहीं देती तथा मोह का जहाँ उपशम अथवा क्षय हो जाता है, वहाँ इच्छा का अभाव है। ऐसा होने पर सातवें गुणस्थान अर्थात् अप्रमत्तगुणस्थान में ध्यान होता है, उसको धर्मध्यान कहा है। उसमें इच्छा अनुभवरूप है, अपने स्वरूप में लीन होने की इच्छा है। यहाँ तक सरागचारित्र व्यक्तरूप कहा गया है। तब श्रेणी चढता है, तब अष्टम अपूर्वकरण गुणस्थान होता है। वहाँ मोह के अतिमंद हो जाने से इच्छा भी अव्यक्त हो जाती है। वहाँ शुक्लध्यान का पहला भेद प्रवर्तता (होता) है। इच्छा के अव्यक्त होने से कषायमल अनुभव में रहता नहीं, उज्ज्वल होता है, इस ही कारण इसका नाम शुक्ल है तथा उपयोग क्षयोपशमरूप है, वह मन के द्वार होकर प्रवर्तता है। मन का स्वभाव चंचल है, एक ज्ञेय पर ठहरता नहीं है। इस ही लिये इस पहले ध्यान में अर्थ व्यंजन योग में उपयोग का पलटना इच्छा के बिना ही होता है। ध्यानी अपने स्वरूप में लीन हुआ, ज्ञाता–दृष्टा हुआ देखता है। यह (उपयोग का) पलटना भी पहले से श्रुतज्ञान का अभ्यास है, उस ही के अनुसार वचनों में तथा वचनों की अर्थद्रव्यपर्याय स्वरूप में योगों के द्वारा होता है। जैसे तैसे नहीं होता है।

इस ध्याता के ऐसे विशेषण कहे हैं – उसके राग, द्वेष, मोह, एकाग्र मन होकर उपशांत हुये हैं, उसने निपुणता से शरीर की क्रिया को रोका है, उसका श्वासोच्छवास मंद होता है, उसने अपने अभिप्राय को भले प्रकार निश्चित किया है, क्षमावान है, परिषहों से चलायमान नहीं होता, ऐसा होकर बाह्य अर्थात् अन्य द्रव्य संबंधी द्रव्यपरमाणु भावपरमाणु एवं अभ्यंतर अर्थात् अपने द्रव्यपर्याय को ध्याता हुआ अर्थ, व्यंजन, काय, वचन को पलटता हुआ ध्याता है। इससे ही ऐसा जाना जाता है कि इसके व्यक्त इच्छा नहीं है, क्षयोपशम उपयोग मन के द्वारा बिना इच्छा पलटता है, स्वयं तो ज्ञाता–द्रष्टा ही है।

आगे पूछते हैं कि सभी सम्यग्दृष्टि के कर्मों की निर्जरा एक जैसी ही होती है या कुछ विशेष है ?

ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानंतवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशांतमोहक्षपक क्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुण निर्जराः ।। ९–४५ ।।

अर्थ : १. सम्यग्दृष्टि २. श्रावक ३. विरत ४. अनन्तानुबंधी का वियोजक ५. दर्शनमोह क्षपक ६. उपशमक तीन गुणस्थानों वाले ७. उपशान्त मोह ग्यारहवां गुणस्थान ८. क्षपक तीन गुणस्थान वाले ९. क्षीणमोह बारहवां गुणस्थान १०. जिनकेवली – इस तरह दश स्थानों में अनुक्रम से असंख्यात गुणी कर्म की निर्जरा होती है। ये सम्यग्दृष्टि से लेकर जो दश स्थान कहे हैं, उनमें अनुक्रम से असंख्यात गुणनिर्जरा असंख्यातगुण निर्जरा है। वही बताते हैं –

जो भव्य पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक हैं और जिसको पहले कही काललब्धि आदि लब्धियों का सहाय है तथा जो परिणामों की विशुद्धता से वर्द्धमान हैं। अनुक्रम से अपूर्वकरण आदि करण के परिणामरूप सीढी से ऊपर चढते जीव के जो अतिशयरूप बहुत निर्जरा होती है, वहाँ अर्थात् इस स्थान से आगे दश (उपरोक्त) स्थानों में क्रम से असंख्यात का गुणाकार है। ऐसा जीव जब प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति के निमित्त के निकट (सम्यक्त्वसम्मुख मिथ्यादृष्टि) होता हुआ सम्यग्दृष्टि होता हुआ असंख्यात गुण निर्जरा वाला होता है तथा वही जीव चारित्रमोह के भेद अप्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम परिणाम की प्राप्ति के काल में श्रावक (पंचम गुणस्थानवर्ती) होता है, तब (सम्यग्दृष्टि से) असंख्यातगुण निर्जरा वाला होता है तथा वही जीव चारित्रमोह के भेद प्रत्याख्यावरण कषाय के क्षयोपशम की प्राप्ति के काल में विशुद्ध परिणामों के योग के कारण विरत नाम पाता है, तब उस श्रावक से असंख्यातगुण निर्जरा वाला होता है। तथा वही जीव अनन्तानुबंधी कषाय चौकड़ी को परिणामों की विशुद्धता के बल से अप्रत्याख्यानावरण आदि कषायों में संक्रमता, परिणमता हुआ अनन्तानुबंधी का वियोजक कहलाता हुआ उस विरत संयमी मुनि से असंख्यातगुण निर्जरावान मुनि होता है तथा वह ही जीव दर्शनमोह की तीनों प्रकृतियोंरूप तृण के समूह को दग्ध करता हुआ परिणामों की विशुद्धता के अतिशय के योग से दर्शनमोहक्षपक (क्षायिक सम्यग्दृष्टि) नाम पाता है, तब उस विरत (अनंतानुबंधी के वियोजक) से असंख्यातगुण निर्जरा वाला होता है। इस तरह वह क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर श्रेणी चढने के सम्मुख हो, तब चारित्र मोह का उपशम करने के व्यापार रूप होता (उद्यम करता) हुआ परिणामों की विशुद्धता के योग से उपशमक नाम प्राप्त करता हुआ उस क्षपक (क्षायिक सम्यग्दृष्टि) असंख्यात गुणनिर्जरा वाला होता है। वह ही जीव समस्तचारित्र मोह का उपशम करने के निमित्त के निकट होता है तब उपशांत कषाय नाम प्राप्त करता है वह उपशमक से असंख्यात गुण निर्जरा वाला होता है। तथा वही जीव समस्त–चारित्र मोह की क्षपणा के प्रति सम्मुख होता हुआ

परिणामों की विशुद्धता से बढता हुआ क्षपक नाम प्राप्त करता हुआ उस उपशांत कषाय से असंख्यातगुण निर्जरा वाला होता है और वही जीव चारित्र मोह की समस्त क्षपणा के कारण परिणामों के सम्मुख होता हुआ क्षीण कषाय नाम प्राप्त करता हुआ उस क्षपक से असंख्यातगुण निर्जरावान होता है तथा वही जीव द्वितीय शुक्ल ध्यान रूप अग्नि से घातिकर्मों के समूह को दग्ध करता हुआ जिन नाम प्राप्त करता है, तब वह क्षीणमोह से असंख्यातगुण निर्जरावान होता है।

यहाँ विशेष – ये ग्यारह स्थान एक जीव की अपेक्षा कहे, वैसे ही नाना जीव अपेक्षा जानना। इनका विशेष कथन गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार ग्रंथों से जानना।

आगे पूछते हैं – सम्यग्दृष्टि होने पर (उपरोक्त स्थानों में) अनुक्रम से प्रत्येक स्थान में असंख्यात गुणी निर्जरा कही, अत: परस्पर समानता तो है नहीं। यहाँ विरत आदि के गुण भेद है। अत: जैसे श्रावक निर्ग्रन्थ नहीं है, वैसे ये मुनि संयमी भी निर्ग्रन्थ नहीं कहे जा सकेंगे, क्योंकि बाह्य अभ्यंतर ग्रंथ जिनके नहीं है ऐसे निर्ग्रन्थ तो ग्यारहवें बारहवें गुणस्थानवर्ती हैं, नीचे के गुणस्थान वाले तो सग्रन्थ ही हैं।

आचार्य कहते हैं – ऐसा नहीं है, क्योंकि गुण के भेद से परस्पर गुण का विशेष है। नैगम आदि नय के व्यापार से सब ही संयमी मुनि निर्ग्रन्थ हैं, ऐसा सूत्र कहते हैं –

।। पुलाकवकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्था: ।। ९–४६ ।।

अर्थ : पुलाक, वकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ, स्नातक – ये पांच प्रकार के मुनि हैं, वे सभी निर्ग्रन्थ हैं। जिनका मन उत्तर गुणों की भावना से रहित है एवं व्रतों में भी किसी क्षेत्र में, किसी काल में परिपूर्णता को प्राप्त नहीं होते हैं, वे पुलाक कहे जाते हैं। पुलाक नाम पराल सहित शाली (छिलके सहित चावल) का है, उसकी उपमा इन्हें देकर इन्हें 'पुलाक' नाम दिया है। इनके मूलगुणों में किसी क्षेत्र किसी काल में विराधना होती है। अत: मूलगुण में अन्य की मिलावट हुई, केवल (मूलगुण) नहीं (पूर्ण) हुये, अत: यह उपमा देकर नामकरण किया है।

तथा निर्ग्रन्थता अर्थात् बाह्य अभ्यंतर परिग्रह का अभाव का जिनके उद्यम है और जिनके व्रत अखंडित हैं मूलगुणों को खंडित नहीं करते हैं। पर शरीर उपकरण की विभूषा अर्थात् सुन्दरता के अनुवर्ती हैं, सुन्दरता का कुछ अनुराग है, जिसके कारण जो संघ के नामक आचार्य होते हैं, उनको प्रभावना आदि का अनुराग होता है, उसके निमित से शरीर कमण्डल, पिच्छिका, पुस्तक तथा उसके बांधने वाले (वस्त्र आदि) की सुन्दरता की अभिलाषा उत्पन्न होती है। चैत्यालय के उपकरण आदि की सुन्दरता का अनुराग होता है तथा संघनायक को शरीर की सुन्दरता का अनुराग कदाचित् उत्पन्न होता है, अत: शरीर उपकरणानुवर्ती कहे जाते हैं। तथा परिवार के अनुमोद अर्थात् हर्षरूपी छेद नहीं

मिटा है, अत: शबल अर्थात् चित्र-विचित्रता से युक्त हैं। इस विशेषण से ऐसा समझना कि पहले गृहस्थ थे, जब परिवार से अनुराग था, वही अनुराग अब संघ में हुआ, यह संघ ही परिवार है, अत: परमनिर्ग्रन्थ की अपेक्षा इनका आचरण चित्रवर्ण कहा जाता है। वीतरागता और सरागता के मिलने से चित्रलाचरण कहा, इस ही के कारण बकुश नाम है। बकुश शब्द शबल का ही पर्यायवाची है, दूसरा नाम है। (श्लोक) वार्तिक में ऐसा ही विशेषण किया है। ऋद्धि, यश और शरीर के संस्कार एवं विभूति में तत्परता है। यहाँ भी यही आशय है कि इन दिगम्बर निर्ग्रन्थ मुनि के कुछ अशुभ लौकिक संबंधी व्यवहार तो है नहीं, धर्मानुराग है। मार्ग की प्रभावना, संघ से अनुराग है, उसके लिये ऋद्धि से अनुराग है, हमें ऋद्धि प्राप्त हो जावे तो मार्ग की बड़ी प्रभावना हो तथा मार्ग का यश चाहना, शरीर का संस्कार भी चाहना, संघ को विभूति सहित देखने से प्रसन्नता होना - ऐसा अनुराग शुभराग से होता है, परमार्थ से यह भी परिग्रह ही है। अत: यह विशेषण कहा है। ऐसा नहीं समझना कि सब ही परिग्रह रखे स्वेच्छा से प्रवर्तें, यदि ऐसा हो तो श्वेताम्बर आदि भेषधारियों की तरह ही ये भी होंगे, तब अखण्डित व्रत है ऐसा विशेषण कैसे किया जा सकेगा। नाममात्र भेष से तो दिगम्बर निर्ग्रन्थ मुनियों की श्रेणी में तो शामिल हो नहीं सकते।

तथा कुशील दो प्रकार के हैं - प्रतिसेवनाकुशील, कषायकुशील। जिनके मूलगुण उत्तरगुण परिपूर्ण हैं, पर जो परिग्रह से अलग नहीं हुये हैं (जिनका ऊपर कहा गया परिग्रह नहीं छूटा है) तथा कारण विशेष से किसी प्रकार उत्तरगुणों की विराधना जिनके हो जाती है, वे तो प्रतिसेवना कुशील है। यहाँ परिग्रह शब्द का अर्थ गृहस्थ की तरह परिग्रह होना मत समझना। मुनियों को कमंडलु, पीछी, पुस्तक का आलम्बन है, गुरु शिष्य का संबंध है, यह ही परिग्रह है। इनसे अलग न हो तब तक परिग्रह सहित ही कहा जाता है तथा जिनने अन्य कषायों के उदय को वश में किया है तथा संज्वलन कषाय मात्र के अधीन हैं, वे कषाय कुशील है। यहाँ ऐसा समझना कि जिनके संज्वलन कषाय के उदय के प्रमाद की व्यक्तता हो, ऐसा जिसके उदय न हो, वे कषायकुशील है।

तथा जिनके मोह के उदय का तो अभाव हो पर अन्य कर्म का ऐसा उदय हो, जैसे जल में मंद मंद लहरों की हिलन होती है, वैसे प्रदेशों की एवं उपयोग की मंद चंचलता हो, जो व्यक्त अनुभवगोचर न हो तथा जिन्हें अन्तर्मुहूर्त बाद केवलज्ञान, केवलदर्शन उत्पन्न हो जावेगा, ऐसे मुनि निर्ग्रन्थ है।

तथा जिनके घातिकर्म अत्यंत नाश हुये है, ऐसे दो (तेरहवां और चौदहवां) गुणस्थानवर्ती केवली है, वे स्नातक हैं। स्नात वेदसमाप्तौ धातु से स्नातक शब्द है, जो सम्पूर्ण ज्ञान के अर्थ में है।

ये पांचों ही चारित्र परिणाम की हानि वृद्धि का भेद होने से नैगम, संग्रह आदि नयों की अपेक्षा निर्ग्रन्थ ही है। यहाँ विशेष कथन करते हैं, जिसमें इनका दृष्टांत इस प्रकार है -जैसे ब्राह्मण जाति

आचार, अध्ययन आदि की अपेक्षा भेद रूप है (भिन्नता) है फिर भी ब्राह्मणत्व की अपेक्षा सब ही ब्राह्मण है, वैसे ही यहाँ भी जानना। तत्त्वार्थवार्तिक में ऐसा कहा है कि सम्यग्दर्शन एवं निर्ग्रन्थरूप अर्थात् वस्त्र, आभूषण, आयुध आदि की ग्रहण रहितता – इन दो रीतियों से सभी मुनियों के समानता है। अत: पांचों ही भेदों में निर्ग्रन्थ शब्द युक्त है।

यहाँ **कोई कहता है** – ये दोनों जिसके हों, पर व्रत का भंग हुआ हो वह भी निर्ग्रन्थ कहा जावेगा तथा आपने पुलाक मुनि के मूलव्रत का किसी काल क्षेत्र के वश व्रत का भंग भी कहा है। ऐसा होने पर तो गृहस्थ के भी निर्ग्रन्थता कहनी होगी, क्योंकि व्रत के भंग वाले को निर्ग्रन्थ कहा तो गृहस्थ के भी (निर्ग्रन्थता) कहो।

समाधान : गृहस्थ के निर्ग्रन्थ रूप जैसी कही वैसी नग्न दिगम्बर मुद्रा नहीं है। अत: उसके निर्ग्रन्थता का प्रसंग नहीं आता।

कोई कहे – यदि किसी के नग्नलिंगी भेष हो उसके निर्ग्रन्थता कहनी पड़ेगी।

उससे कहते हैं – जिसके सम्यग्दर्शन नहीं है, उसके नग्न होने पर भी निर्ग्रन्थता नहीं है। दोनों होने पर निर्ग्रन्थ नाम पाता है।

तथा ''श्लोकवार्तिक'' में कहा है – इन पुलाक आदि पांचों को ही निर्ग्रन्थ निश्चय-व्यवहार दोनों नयों से साधकर कहा है, अत: जो वस्त्र आदि ग्रंथ संयुक्त हैं, वे निर्ग्रन्थ नहीं हैं, क्योंकि बाह्य परिग्रह का सद्भाव होने पर अभ्यंतर के ग्रंथ का अभाव होता नहीं है। जो श्वेताम्बर आदि बाह्य परिग्रह वस्त्र आदि होने पर भी जैसा निर्ग्रन्थपना आगम युक्ति से सिद्ध होता है, वैसा कहते हैं और उसके लिये वे ये हेतु देते हैं कि परिग्रह तो मूर्च्छा (का होना) है, उन्हें वस्त्र आदि में मूर्च्छा नहीं है, अत: वे परिग्रह संज्ञा को प्राप्त नहीं होते। ऐसा कहने वालों से कहते हैं कि बाह्य परिग्रह के होने पर भी मूर्च्छा नहीं है, ऐसा कहते हो तो स्त्री, धन आदि बाह्य वस्तुओं के होने पर भी मूर्च्छा नहीं होती होगी, उनको रखने वाले भी निर्ग्रन्थ कहे जा सकेंगे। अत: श्वेताम्बर आदि का ऐसा कथन युक्त नहीं है, क्योंकि विषय का ग्रहण तो कार्य है और मूर्च्छा उसका कारण है। बाह्य परिग्रह का ग्रहण करता है, वह मूर्च्छा से ही करता है। जिसके मूर्च्छा कारण नष्ट हो गया होगा, उसके बाह्य परिग्रह का ग्रहण कदाचित् भी नहीं होगा तथा जो विषय ग्रहण को तो कारण कहते हैं और मूर्च्छा को कार्य कहते हैं, उनके मत में विषय रूप परिग्रह उनके न होने पर मूर्च्छा का उदय भी सिद्ध नहीं होगा। अत: जिसको मोह के उदय से मूर्च्छा होती है, उससे परिग्रह का ग्रहण होता है और जो स्वयं परिग्रह को ग्रहण करे, उसके निर्ग्रन्थता कदाचित् भी नहीं है, यह निश्चय है।

आगे उन पुलाक आदि मुनियों के पुन: विशेष को प्रतिपत्ति के लिये सूत्र कहते हैं –

।। संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपादस्थान विकल्पत: साध्या: ।। ९–४७ ।।

अर्थ : संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिंग, लेश्या, उपपाद, स्थान – इन आठ भेद वाले अनुयोगों से पुलाक आदि निर्ग्रन्थ मुनियों को साधना (अर्थात् व्याख्यान करना) चाहिये।

उनमें पुलाक, वकुश, प्रतिसेवना कुशील – ये तीनों तो सामायिक, छेदोपस्थापना इन दो संयमों में वर्तते हैं। कषायकुशील हैं, वे सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय – इन चार संयमों में वर्तते हैं। तथा निर्ग्रन्थ और स्नातक ये दोनों यथाख्यातसंयम में वर्तते हैं।

तथा पुलाक, वकुश, प्रतिसेवना कुशील – इन तीनों के उत्कृष्ट दशपूर्व तक श्रुत है तथा कषाय कुशील एवं निर्ग्रन्थ चौदहपूर्व तक है और जघन्य रूप से पुलाक के तो आचारांग ही में आचारवस्तु तक है। वकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ के आठ प्रवचनमातृका तक है। पांच समिति, तीन गुप्ति के व्याख्यान का अधिकार आचारांग में है, वहाँ तक है तथा स्नातक केवली के श्रुतज्ञान नहीं है। तथा प्रतिसेवना कुशील के पांच महाव्रत, एक रात्रिभोजन के त्याग –इन छह व्रतों में अन्य के वश से जबरन से एक व्रत की विराधना होती है।

यहाँ **कोई पूछता है** – विराधना कहाँ होती है।

वहाँ कहते है – महाव्रत की प्रतिज्ञा मन–वचन–काय, कृत–कारित–अनुमोदना से त्याग करने की है, अत: दोष लगने के अनेक भंग हैं। अत: किसी भंग में अन्य के वश से विराधना हो जाती है। सामर्थ्यहीनता से दूषण लगते हैं तथा वकुश दो प्रकार के हैं – उपकरणवकुश, शरीरवकुश। उपकरणवकुश को तो बहुत विशेषों सहित कमंडलु, पीछी, पुस्तक बंधन आदि धर्मोपकरणों की अभिलाषा हो, यह तो प्रतिसेवना है तथा शरीर वकुश को कदाचित् शरीर का संस्कार करे, तब प्रतिसेवना है।

तथा प्रतिसेवना कुशील मूलगुणों की विराधना तो करता नहीं तथा उत्तरगुणों में कुछ विराधना लगाता है, वह प्रतिसेवना है तथा कषायकुशील, निर्ग्रन्थ, स्नातक के प्रतिसेवना है नहीं। जिसका त्याग हो, उसको किसी कारण से ग्रहण कर ले, तो तत्काल सावधान होकर पुन: न करे, यह प्रतिसेवना कहा जाता है, इसे विराधना भी कहते हैं।

तथा तीर्थ अपेक्षा सभी तीर्थङ्करों के समय में सभी ही (पांचों ही प्रकार के मुनि) होते हैं।

तथा लिंग दो प्रकार से हैं – द्रव्यलिंग, भावलिंग। भावलिंग की अपेक्षा तो पांचों ही प्रकार के मुनि भावलिंगी हैं, सम्यक्त्व सहित हैं। मुनिपने में निरादरभाव किसी को भी नहीं है तथा द्रव्यलिंग से उनमें भेद है। कोई आहार करता है, कोई अनशन आदि तप करता है, कोई उपदेश करता है, कोई अध्ययन करता है, कोई तीर्थविहार करता है, कोई ध्यान करता है, उसके अनेक आसन करता है, किसी

के दोष लगते हैं, प्रायश्चित्त लेता है, कोई दोष नहीं लगाता है, कोई उपाध्याय है, कोई प्रवर्तक है, कोई निर्यापक है, कोई वैयावृत्य करता है, कोई ध्यान में श्रेणी का प्रारंभ करता है, किसी को केवलज्ञान उत्पन्न होता है, उसकी बाहर में बड़ी विभूति सहित महिमा होती है इत्यादि मुख्य गौण बाह्य प्रवृत्ति की अपेक्षा लिंगभेद है। ऐसा नहीं समझना कि नग्न दिगम्बर यथाजातरूप समानता सभी के है, अत: यह तो सभी के समान है, ऐसा नहीं है। कोई श्वेत, पीत, रक्त, श्याम आदि वस्त्र धारण करे, जटा धारण करे, कोपीन धारण करे, कोई दंड धारण करे, कोई शस्त्र धारण करे, कोई पालकी पर चढे, कोई रथ पर चढे इत्यादि स्वरूप लिंग भेदों (की यहाँ बात) नहीं है, ये तो सभी अन्यमतियों के भेद है तथा इस पंचमकाल में जिनमत में भी जैनाभास हुये हैं, जिनसे भेद पड़ा है। यह काल दोष है।

तथा पुलाक के तो तीनों शुभ लेश्या ही होती है, क्योंकि इनको बाह्य प्रवृत्ति का विशेष अवलम्बन नहीं है। अपने मुनिपने से ही कार्य है तथा बहुत तीव्र मंद परिणाम नहीं होते हैं। वकुश, प्रतिसेवना कुशील के छहों भी होती है। यहाँ अपि शब्द से यह ज्ञान कराया है कि अन्य कुछ आचार्य तीन शुभ लेश्या भी कहते हैं तथा कषाय कुशील के कपोत से लेकर शुक्ल तक चार होती है। यहाँ भी अन्य आचार्यों की अपेक्षा तीन लेश्या ही जानना तथा निर्ग्रन्थ और स्नातकों के केवल शुक्ल लेश्या ही है। कषायों के मंद तीव्र स्थानों की अपेक्षा लेश्या के स्थान असंख्यात लोक प्रमाण कहे हैं। इनका पलटना सिद्धांत ग्रंथों से जानना।

तथा उपपाद के कथन में **पुलाक** तो उत्कृष्ट रूप से उत्कृष्ट स्थिति वाले सहस्रार स्वर्ग के देवों में उत्पन्न होता है, वहाँ अठारह सागर की आयु प्राप्त करता है तथा **वकुश, प्रतिसेवना कुशील** उत्कृष्ट रूप से बाईस सागर की स्थिति वाले आरण, अच्युत देवों में उत्पन्न होता है तथा **कषाय कुशील** और **निर्ग्रन्थ** तेंतीस सागर की स्थिति वाले सर्वार्थसिद्धि के देवों में उत्कृष्ट रूप से उत्पन्न होता है तथा जघन्यरूप से तो सभी सौधर्म स्वर्ग में दो सागर की स्थिति प्राप्त करते हैं। मध्य के यथासंभव नानाभेद हैं तथा **स्नातक** निर्वाण को ही प्राप्त करते हैं।

तथा स्थान अर्थात् संयम के लब्धि स्थान जिन्हें कषाय की तीव्रता-मंदता निमित्त है, वे असंख्यात हैं। उनमें सर्वजघन्य संयम स्थान पुलाक, कषायकुशील इन दोनों के समान हों, वे असंख्यात स्थानों तक साथी रहते हैं, बाद में पुलाक का व्युच्छेद है। इसे अगले स्थान नहीं हैं तथा अगले असंख्यात स्थान केवल कषायकुशील को ही होते हैं; अन्य के वे स्थान नहीं है तथा आगे असंख्यात स्थानों तक कषायकुशील और प्रतिसेवनाकुशील साथ रहते हैं। दोनों के समान स्थान हैं, बाद में प्रतिसेवना कुशील का व्युच्छेद है। इसको अगले स्थान नहीं होते। आगे के असंख्यात स्थान कषाय कुशील के ही होते हैं। इस तरह बाद में कषायकुशील का व्युच्छेद है। इससे ऊपर कषाय

रहित स्थान हैं, वे निर्ग्रन्थ को ही होते हैं। वे स्थान भी असंख्यात हैं। आगे निर्ग्रन्थ का भी व्युच्छेद है। आगे एक ही स्थान है, जिसे प्राप्त करके स्नातक केवली निर्वाण को प्राप्त होते हैं। इस तरह ये संयम स्थान हैं। इनमें अविभाग प्रतिच्छेदों की अपेक्षा प्रत्येक स्थान में अनन्त का गुणा है। इस तरह नवमें अध्याय में संवर-निर्जरा का स्वरूप और उनके कारणों के भेद स्वरूप अनेक प्रकार गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषह का जीतना, चारित्र, तप का व्याख्यान किया। इन्हें भले प्रकार जानकर श्रद्धानकर भव्य जीव इन्हें धारण करते हैं। मोक्ष प्राप्ति का यही उपाय है। इनमें तत्पर होना योग्य है। ऐसा श्रीगुरु का उपदेश है।

।। सवैया इकतीसा ।।

आस्रवनिरोध रीति संवर सुबोधनीति
कारण विबोध गीत जानिये सुज्ञान तैं।
गुपति समिति धर्मजानूं अनुप्रेक्षा मर्म
सहन परीषह परीस्या श्रम ठानिये उठानतैं।।
संयम संभारि करौ तप अविकार धरौ
उद्यम विचारि ध्यान धारिये विधानतैं।
नवमां अध्याय मांहि भाषे विधिरूप ताहि
जानि धारि कर्म टारि पावौ शिवमान तैं।।

इसप्रकार तत्त्वार्थ का जिसमें अधिगम है, ऐसे मोक्षशास्त्र में नवमा अधिकार पूर्ण हुआ।

दसवां अध्याय

दोहा

अष्टकर्म कूं नष्ट करि, भये सुसिद्ध अनन्त।
नमि तिनकूं व्याख्यान करूं, मोक्षपदारथ अंत।।

इस प्रकार मंगल के लिये सिद्धों को नमस्कार करके दशवें अध्याय की वचनिका लिखते हैं। यहाँ सर्वार्थसिद्धि टीकाकार का कथन है–शिष्य कहता है कि अन्त में कहे मोक्षपदार्थ के स्वरूप का कथन करने का अवसर है।

तब **आचार्य कहते हैं** – यह सत्य है, परन्तु मोक्ष की प्राप्ति केवलज्ञान की प्राप्तिपूर्वक होती है, अत: पहले केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण बताते हैं, उसका सूत्र–

।। मोहक्षयात् ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ।।१०–१ ।।

अर्थ– मोह का क्षय होने पर तथा (फिर) ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय इन तीनों का क्षय होने पर केवलज्ञान प्रकट होता है।

यहाँ **प्रश्न**– इस सूत्र में समास करना न्याय था जिससे सूत्र छोटा होता। वह बताते हैं–इसमें क्षय शब्द दो बार आता है, तब एक तो क्षय शब्द कम हो जाता तथा दूसरी विभक्ति घटती एवं च शब्द भी नहीं होता, तब मोहज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयात्केवलम् – ऐसा छोटा सूत्र बनता।

आचार्य उसका **समाधान** करते हैं–यह तो सत्य है, पर यहाँ कुछ विशेष है। पहले तो चार घातिकर्म का अनुक्रम से क्षय बताने के लिये वाक्यभेद करके निर्देश किया (कथन किया) है। पहले मोह का क्षय करके अन्तर्मुहूर्त के लिये क्षीणकषाय (गुणस्थान) पाकर उसके बाद युगपत् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय इन तीनों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रकार (क्रम से) इनका क्षय होने पर केवलज्ञान के उत्पत्ति होती है। इसीलिये जिसका लक्षण हेतु है ऐसी पंचमीविभक्ति का निर्देश किया है।

यहाँ **प्रश्न**– मोह का क्षय पहले किस रीति से होता है ?

वह बताते हैं– प्रथम तो भव्य हो, सम्यग्दृष्टि हो, परिणामों की विशुद्धता में वर्द्धमान हो, वह जीव असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्त, अप्रमत्त इन चार गुणस्थानों में से किसी गुणस्थान में मोह ही सात प्रकृतियाँ १. मिथ्यात्व २. सम्यग्मिथ्यात्व ३. सम्यक्त्वप्रकृति तथा ४. अनन्तानुबंधी

क्रोध ५. अनन्तानुबंधी मान ६. अनन्तानुबंधी माया ७. अनन्तानुबंधी लोभ – इनका क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर जब क्षपक श्रेणी चढने के सन्मुख होता है तब अध: प्रवृत्तिकरण के लिये अप्रमत्तगुणस्थान को पाकर अपूर्वकरण परिणाम का प्रयोग करके अपूर्वकरण नामक क्षपकश्रेणी के गुणस्थान को भोगकर वहाँ शुभपरिणाम जिनसे पापकर्म प्रकृतियों के स्थिति अनुभाग जिसने क्षीण किये हैं तथा शुभकर्म का स्थिति अनुभाग बढाया है ऐसा होकर अनिवृत्तिकरण परिणाम की प्राप्तिकर अनिवृत्तिबादर सांपराय नामक नवमें गुणस्थान में चढकर वहाँ कषायों के अष्टक अर्थात् अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण कषायों को सत्ता में से नाश कर फिर नपुंसकवेद का नाश कर, फिर स्त्रीवेद का क्षय करके तथा नोकषाय षट्क अर्थात् हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा को पुरुषवेद में क्षेपण कर क्षय करता है तथा पुरुषवेद को संज्वलन क्रोध में क्षेपता है। तथा संज्वलन क्रोध का संज्वलन मान में क्षेपण करता है तथा संज्वलन मान का संज्वलन माया में क्षेपण करता है तथा संज्वलन माया का संज्वलन लोभ में क्षेपण करता है। इस प्रकार संक्रमण विधान से अनुक्रम से क्षय करके बादरकृष्टि विभाग करके संज्वलन लोभ को सूक्ष्म करता है। फिर सूक्ष्मसांपराय नामक दसवें क्षपक गुणस्थान को भोगकर वहाँ समस्त ही मोहनीय कर्म का मूल से नाश कर क्षीणकषाय गुणस्थान को प्राप्त करके जिसमें मोहनीय कर्म के बोझ को उतारा है, उस बारहवें गुणस्थान के उपान्त अर्थात् अंतिम से पहले वाले समय में निद्रा, प्रचला नामक दो प्रकृतियों का क्षय करके तथा बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में ज्ञानावरणी की पांच, दर्शनावरणी की चार और अन्तरायकर्म की पांच इन चौदह प्रकृतियों का क्षय करके उसके अनन्तर ही जिसका ज्ञानदर्शन ही स्वभाव है ऐसे अचिंत्य केवल नामक आत्मा की पर्याय को, जिसमें विभूति का विशेष है, ऐसी अवस्था को प्राप्त करता है। यहाँ तरेसठ प्रकृतियों का सत्ता में से नाश करके केवलज्ञान उत्पन्न करता है। (इन तरेसठ प्रकृतियों में) घाति कर्मों की सभी सैंतालीस, आयुकर्म की तीन और नाम कर्म की तेरह प्रकृतियाँ हैं।

आगे शिष्य पूछता है– मोक्ष किस हेतु से होता है और उसका लक्षण क्या है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं–

।। बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष: ।।१०–२ ।।

अर्थ : बंध के कारण जो मिथ्यात्व आदि हैं उसका अभाव और निर्जरा – इन दोनों से समस्त कर्म का अत्यंत अभाव होना ही मोक्ष है। मिथ्यादर्शन आदि जो बंध के कारण हैं उनका अभाव होने से तो नवीन कर्म नहीं बंधते हैं तथा पहले जो निर्जरा के कारण बताये थे, उनके निकट होने पर पूर्व बंधे कर्मों का अभाव होता है। इस तरह ये दोनों कारण हों, तब भव अर्थात् पर्याय की स्थिति का कारण जो आयुकर्म है, उसकी स्थिति के समान जिनने अवशेष कर्मों की स्थिति की है – ऐसे केवली

भगवान के एककाल में अवशेष समस्त कर्मों का विप्रमोक्ष अर्थात् अत्यंत अभाव होता है, वही मोक्ष है। ऐसी प्रतीति करना। यहाँ ज्ञान कराते हैं कि कर्म का अभाव दो प्रकार से होता है-१. यत्नसाध्य २. अयत्नसाध्य। वहाँ चरमशरीरी आत्मा के नरक, तिर्यंच, देव इन **तीन** आयुओं का बंध तो होता नहीं है; अत: पहले से ही अभाव है, यह तो अयत्न साध्य है। अब यत्नसाध्य का कथन करते हैं- असंयत सम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानों में से किसी एक गुणस्थान में मोहनीय कर्म की **सात** प्रकृतियों का क्षय करता है तथा निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, नरक-तिर्यंचगति, एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय ये चार जाति, नरक-तिर्यंचगति प्रायोग्यानुपूर्वी, आताप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण – इन सोलह प्रकृतियों का अनिवृत्तिबादरसांपराय गुणस्थान में युगपत् क्षय करता है तथा इसके बाद इस ही गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण की आठ कषायों का क्षय करता है तथा इस ही गुणस्थान में क्रम से नपुंसकवेद और स्त्रीवेद का क्षय करता है। तथा वहाँ ही नोकषाय षट्क हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा इनका एक ही काल में क्षय करता है। इसके बाद इस ही गुणस्थान में क्रम से पुरुषवेद, संज्वलन क्रोध, मान, माया इनका अत्यंत नाश करता है। इस तरह **छत्तीस (३६)** प्रकृतियों की नवमें गुणस्थान में व्युच्छित्ति है तथा संज्वलन लोभ एक प्रकृति सूक्ष्मसांपराय नामक दशमें गुणस्थान में नाश को प्राप्त होता है तथा बारहवां गुणस्थान क्षीणकषाय जो छद्मस्थ वीतराग के उपान्तसमय अर्थात् अन्तिम समय से पहले वाला समय में निद्रा, प्रचला इन **दो** का क्षय करता है। तथा इसके अन्तिम समय में ज्ञानावरण की पांच, दर्शनावरण की चार, अन्तराय की पांच – इन **चौदह** प्रकृतियों का क्षय होता है। यहाँ तक तरेसठ (६३) प्रकृतियों का क्षय हुआ।

इसके बाद अयोगकेवली नामक चौदहवें गुणस्थान में पिचासी (८५) प्रकृतियों का क्षय होता है। उनमें से अन्तिम से पहले अर्थात् उपान्त समय में बहत्तर (७२) प्रकृतियों का क्षय होता है। उनके नाम- वेदनीय की दो प्रकृतियों में से कोई एक, देवगति, औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस, कार्माण – इन पांचों शरीरों के ५ बंधन, इनके पांच संघात, छह संस्थान, औदारिक, वैक्रियक, आहारक शरीर के तीन अंगोपांग, छह संहनन, पांच वर्ण (प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों), दो गन्ध, प्रशस्त अप्रशस्त पांचों रस, आठ स्पर्श, देवगतिप्रायोग्यपूर्वा, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास प्रशस्त-अप्रशस्त विहायोगति, पर्याप्तक, प्रत्येक शरीर, स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ, दुर्भग, सुस्वर-दुस्वर, अनादेय, अयश:कीर्ति, निर्माण, नीच गौत्र- इस तरह बहत्तर तथा अन्त समय में तेरह प्रकृतियों का क्षय करता है, जिनके नाम- १. वेदनीय की दो में से शेष रही एक, २. मनुष्यगति, ३. मनुष्य आयु, ४. पंचेन्द्रिय जाति, ५. मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वा, ६. त्रस, ७. बादर, ८. पर्याप्तक, ९.

सुभग, १०. आदेय, ११. यश:कीर्ति, १२. तीर्थंकर, १३. उच्च गोत्र है। इस तरह सभी कर्मों का अत्यन्त अभाव है, वही मोक्ष है।

कई अन्यवादी (मोक्ष को) अन्यथा प्रकार कल्पित करते हैं, वह नहीं है। तथा ऐसा कहने की सामर्थ्य से ऐसा भी सिद्ध होता है कि एकदेश कर्मों का क्षय है, वह निर्जरा है, इस ही लिये निर्जरा का लक्षण बताने के लिये अलग से सूत्र नहीं कहा।

यहाँ **प्रश्न**– कर्म तो अनादि से हैं, अत: जिनकी आदि नहीं उनका अन्त भी नहीं होना चाहिये, अत: कर्म के नाश की कल्पना युक्त नहीं है।

समाधान– ऐसा एकान्त है नहीं; क्योंकि जिसका आदि नहीं उसका अन्त प्रत्यक्ष देखा जाता है जैसे–अन्न आदि के बीज हैं उनकी संतान तो आदि रहित है और अग्नि आदि से बीज को जला दिया जावे तो फिर संतान होगी नहीं। उसी प्रकार मिथ्यादर्शन आदि का संतान अनादि है, तब ध्यानरूप अग्नि से कर्म बीज को दग्ध कर दिये जाने पर संसार रूप अंकुर के उपजने का अभाव होता है वही मोक्ष है तथा द्रव्यकर्म हैं वे द्रव्य पुद्गल परमाणु के स्कन्ध हैं और कर्मरूप उनका परिणमना पर्याय है, उस पर्याय का नाश है। जीव से उसके सम्बन्ध का अत्यंत विनाश है, पुद्गलद्रव्य अपेक्षा विनाश नहीं है। तथा मोक्ष शब्द मोक्ष असने धातु से बना है, जो भावसाधन है। आत्मा से कर्म के (सर्वथा) अलग होने मात्र क्रिया को मोक्ष कहते हैं, ऐसा जानना।

आगे पूछते हैं कि द्रव्यकर्म की प्रकृतियाँ जो पुद्गलमय है, उनके अभाव ही से मोक्ष हो जाता है या भावकर्म का भी अभाव होना आवश्यक है। ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं–

।। औपशमिकादिभव्यत्वानां च ।।१०–३ ।।

अर्थ : पहले जीव के औपशमिक आदि भाव कहे थे उनमें औपशमिक और आदि शब्द होने से अन्य तथा पारिणामिक में भव्यत्व इनका भी अभाव होने पर मोक्ष है। यहाँ भव्य तो अन्य पारिणामिक भावों के निषेध के लिये कहा है। जीवत्व आदि पारिणामिक भावों का मोक्ष में अभाव नहीं है। अत: पारिणामिक भाव में तो भव्यत्व का तथा औपशमिक आदि भावों के अभाव से मोक्ष होता है, ऐसा समझना।

यहाँ **तर्क**– द्रव्यकर्म का नाश होने पर भावकर्म का नाश तो सामर्थ्य से ही जाना जाता है, क्योंकि भाव हैं वे तो द्रव्यकर्म के निमित्त से होते है। जब द्रव्यकर्म का नाश हुआ, तब भावकर्म का नाश होता ही है।

समाधान– ऐसा एकान्त नहीं है कि कारण का अभाव होने पर कार्य का भी अभाव हो (ही हो)। जैसे घट कार्य है वह दण्ड आदि कारणों से उत्पन्न होता है, पर दण्ड आदि का अभाव होने पर

घट का नाश नहीं होता देखा जाता है, ऐसा सामर्थ्य से जाना जाता है, तब उसे स्पष्ट करने के लिये पुनः कहने में दोष नहीं है।

आगे **शिष्य कहता है** कि भावों का अभाव होने से मोक्ष होता है तो औपशमिक आदि भावों के अभाव की तरह सभी क्षायिक भावों की निवृत्ति मुक्त जीव को प्राप्त होगी, तब मोक्ष अभाव मात्र होगा।

तब **आचार्य कहते हैं**– ऐसा तो तब हो जब कुछ विशेष न हो। यहाँ विशेष हैं। इस तरह पूर्व सामान्य सूत्र का विशेष बताने के लिये सूत्र कहते हैं–

।। अन्यत्र केवल सम्यक्त्व ज्ञानदर्शन सिद्धत्वेभ्यः ।।१०–४ ।।

अर्थ : केवल (क्षायिक) सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और सिद्धत्व इन भावों के अतिरिक्त अन्य भावों का यहाँ अन्यत्र शब्द की अपेक्षा पंचमी विभक्ति का निर्देश है। अतः ऐसा जाना जाता है कि केवलसम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन सिद्धत्व को छोड़कर अन्य में पूर्वसूत्र की विधि (लागू होता) है। यहाँ अन्यत्र शब्द वर्जन (निषेध) के अर्थ में है। तथा अन्य शब्द पर वल प्रत्यय है वह स्वार्थ में है।

यहाँ **प्रश्न** – मोक्ष हो जाने पर ये चार ही भाव शेष रहते बताते हो तो अनन्तवीर्य आदि का भी अभाव प्राप्त होगा।

समाधान– यह दोष नहीं है; क्योंकि अनंतवीर्य आदि है, वे ज्ञान, दर्शन के अविनाभावी हैं, अतः इन (ज्ञान, दर्शन) का कथन करने पर उन (अनन्तवीर्य आदि) को भी शामिल कर लेना। अतः विशेष (अलग से) नहीं कहा है, क्योंकि अनन्तवीर्य की सामर्थ्य से हीन (जीव) को तो अनन्तज्ञानदर्शन की प्रवृत्ति होती नहीं है तथा सुख है वह ज्ञानमय है, ज्ञान से रहित जड़ को वेदना (सुख दुःख की अनुभूति) होती नहीं।

पुनः **प्रश्न** – मुक्त हो जाने के बाद कुछ आकार तो होता नहीं, अतः अनाकार है, अर्थात् अभाव ही है।

समाधान – अनाकार नहीं है। जिस शरीर से मुक्त हुये हैं, उस शरीर के आकार रूप जीव के अमूर्तिक प्रदेशों का आकार है।

पुनः **प्रश्न** – शरीर के आकार तो शरीर में रहे तब तक रहता है और स्वाभाविक रूप से जीव के प्रदेश लोक के आकार हैं अतः जब शरीर का अभाव हुआ तो (जीव के प्रदेश) लोकाकाश के प्रदेश परिमाण फैल जाने का प्रसंग प्राप्त होगा।

समाधान – यह दोष नहीं है, क्योंकि विसर्पणा (फैल जाने) के कारण का अभाव हुआ। तब फिर संकोच विस्तार होने का अभाव है।

पुन: **प्रश्न** – यदि ऐसा है कारण के अभाव में संकोच विस्तार का अभाव है तो गमन के कारण का भी अभाव है, अत: ऊर्ध्वगमन भी प्राप्त नहीं होगा। जिसप्रकार ऊपर तिर्यग्गमन नहीं है, उसी प्रकार ऊर्ध्वगमन भी नहीं होगा। ऐसा होने से जहाँ से मुक्त हुआ वहाँ ही अवस्थान (रहना होना) चाहिये। इसके समाधान के लिये सूत्र कहते हैं–

।। तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् ।। १०–५ ।।

अर्थ – सर्व कर्मों का अभाव हो जाने के बाद जीव ऊर्ध्वगमन करता है तथा लोक के अंत तक जाता है।

यहाँ तदनंतर अर्थात् उसके अनन्तर, वह कौन है ? सर्वकर्मों का अभाव होने के बाद। यहाँ आलोकान्तात् में आङ् उपसर्ग है, वह अभिविधि अर्थ में है। अत: ऐसा अर्थ हुआ कि लोक के अन्त तक गमन है आगे अलोक में नहीं है। इससे ऐसा भी जाना जाता है कि मुक्त होकर वहाँ स्थित भी नहीं होता और अन्य दिशाओं में गमन भी नहीं करता।

आगे पूछते है कि ऊर्ध्वगमन का हेतु बताये बिना कैसे यह निश्चय किया जावे ? ऐसा पूछने पर उसके निश्चय के लिये हेतु कहते हैं–

।। पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च ।। १०–६ ।।

अर्थ : पूर्व के प्रयोग से, असंगपने से, बंध से रहित होने से, वैसे ही गति परिणाम से – इन चार हेतुओं से ऊर्ध्वगमन निश्चित करना।

आगे कहते हैं कि हेतु से अर्थ पुष्ट भी होता हो तो भी दृष्टांत और समर्थ के बिना साध्य को सिद्ध करने में समर्थ नहीं होता। तब वांछित साधने के लिये सूत्र कहते हैं –

।। आविद्धकुलालचक्रवद् व्यपगतलेपालाम्बुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च ।। १०–७ ।।

अर्थ : ऊपर कहे हेतुओं के ये चार दृष्टांत हैं। १. फिरते कुम्हार के चाक की तरह, २.लेप रहित हुयी तूंबी की तरह, ३. एरंड के बीज की तरह, ४. अग्निशिखा की तरह – इन चार दृष्टांतों से ऊर्ध्वगमन का निश्चय करना। पिछले सूत्र में कहे चार हेतुओं और इस सूत्र में कहे चार दृष्टांतों को यथाक्रम कहा समझना। वही बताते हैं –जैसे कुम्हार के प्रयोग से हुआ हाथ का, दंड का और चाक का संयोग, उससे हुये चाक का फिरना (घूमना), उसे कुम्हार ने घुमाना बंद कर दिया, तो पहले प्रयोग से जब तक उसके फिरने का संस्कार न मिटे वहाँ तक फिरता ही रहता है, इसी प्रकार संसार में स्थित जीव ने मुक्ति की प्राप्ति के लिये बहुत बार परिणाम चिंतवन अभ्यास कर रहा था, तब मुक्त हो जाने के बाद उस अभ्यास का अभाव हुआ। तहाँ पहले के अभ्यास के कारण मुक्त जीव का (ऊर्ध्व) गमन होता है वह निश्चय किया जाता है।

तथा जैसे मिट्टी के भारी लेप से भरा तूंबा जल के अन्दर नीचे पड़ा हो, बाद में जल के सम्बन्ध से मिट्टी हट जावे तब हलका होकर जल के ऊपर आ जाता है, वैसे ही कर्म के भार से दबा परवश आत्मा उस कर्म के सम्बन्ध (कारण) संसार में नियम से पड़ा है। जब कर्म का मिलाप दूर हो जावे तब ऊर्ध्वगमन ही होता है।

तथा जैसे एरंड का बीज एरंड के डोडे में बंद था, जब डोडा सूख कर तड़क जाता है तब (वह बीज) बंधन से मुक्त हुआ उछलकर ऊर्ध्व जाता है, वैसे ही मनुष्य आदि भवों की प्राप्ति कराने वाले गति, जाति आदि सर्व ही कर्म की प्रकृतियों के बंधन में यह आत्मा है, जब यह बंध छिद जावे (हट जावे) तब मुक्त जीव के ऊर्ध्व गमन का ही निश्चय होता है।

तथा सर्व तरफ गमन करने वाले पवन के सम्बन्ध से रहित दीपक की शिखा अपने स्वभाव से ही ऊँची ही उठती है, वैसे ही मुक्त जीव भी सब तरफ गमन रूप विकार के लिये कारण जो कर्म हैं उसके दूर होने पर अपने ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण उसका गमन ऊँचा ही होता है।

आगे पूछते हैं कि मुक्त हुये आत्मा का ऊर्ध्वगमनस्वभाव है तो लोक के अन्त से ऊँचा क्यों नहीं जाता ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं –

।। धर्मास्तिकायाभावात् ।। १०–८ ।।

अर्थ : मुक्त आत्मा लोक के अन्त तक ही जाता है, आगे अलोक में नहीं जाता, क्योंकि वहाँ धर्मास्तिकाय का अभाव है। गति उपग्रह का जो धर्मास्तिकाय है वह लोक से ऊपर नहीं है, अत: मुक्तात्मा का अलोक में गमन का अभाव है। यदि सर्वत्र ही धर्मास्तिकाय का अभाव माना जावे तो लोक, अलोक के विभाग का प्रसंग प्राप्त होगा, ऐसा जानना।

आगे पूछते हैं कि ये निर्वाण को प्राप्त हुये जीवों को गति, जाति आदि तो कारण नहीं हैं, तब इनसे भेद का व्यवहार नहीं है या कुछ भेद व्यवहार किया जाता है ?

उत्तर : कथंचित् भेद भी किया जाता है, वह किस तरह ? इसका सूत्र कहते हैं –

।। क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनान्तर–
संख्याल्पबहुत्वत: साध्या: ।। १०–९ ।।

अर्थ : १.क्षेत्र, २. काल, ३. गति, ४. लिंग, ५. तीर्थ, ६. चारित्र, ७. प्रत्येक बुद्धबोधित, ८. ज्ञान, ९. अवगाहना, १०. अन्तर, ११. संख्या, १२. अल्पबहुत्व – इन बारह अनुयोगों से सिद्ध जीवों में भेद करना योग्य है। क्षेत्र आदि बारह अनुयोगों से सिद्धों में विभाग करना।

यहाँ दो नय लगाना –१. प्रत्युत्पन्नग्राहक नय, २. भूतप्रज्ञापन नय। इन दो नयों की विवक्षा से भेद समझना। वही बताते हैं –

प्रथम ही क्षेत्र अपेक्षा तो किस क्षेत्र से सिद्ध हुये हैं, प्रत्युत्पन्नग्राही नय की अपेक्षा सिद्धक्षेत्र से अथवा अपनी आत्मा के प्रदेशों से सिद्ध हुये हैं अथवा आकाश के किन प्रदेशों से सिद्ध हुये हैं, ऐसा कहना और भूतप्रज्ञापन नय की अपेक्षा जन्म की अपेक्षा तो पन्द्रह कर्मभूमियों में जन्मा जीव ही सिद्ध होता है अथवा वहाँ के जन्में को कोई देव आदि अन्य क्षेत्र में ले जावे तो ढाईद्वीप ही मनुष्यों का क्षेत्र है, उस सर्व ही क्षेत्र से सिद्ध होते हैं। यहाँ प्रत्युत्पन्नग्राही नय वर्तमान मात्र पदार्थ का ग्रहण करता है और ऐसा नय ऋजुसूत्रनय है। तथा शब्द, समभिरूढ और एवंभूतनय भी इस ही नय के परिवार हैं तथा भूतनय नैगम नय है।

तथा काल अपेक्षा कौनसे काल में सिद्ध हुये हैं ? वहाँ प्रत्युत्पन्नग्राही नय की अपेक्षा तो एक समय में ही सिद्धगति को प्राप्त होते हैं तथा भूत प्रज्ञापन नय की अपेक्षा तो सामान्य से उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी इन दो ही काल में सिद्ध होता है तथा विशेष अपेक्षा अवसर्पिणी के सुखमादु:खमा जो तीसरा काल, उसके अन्त के भाग में उत्पन्न तथा दु:खमासुखमा जो चौथा काल है, उसमें सर्व में ही उत्पन्न हुये जीव सिद्धगति को प्राप्त होते हैं अथवा (ऐसे जीव जो चतुर्थ काल में जन्मे हैं) पंचम दु:खमा काल में भी मोक्ष प्राप्त करते हैं तथा पंचम दु:खमाकाल में जन्में उस काल में तथा अन्यकाल में सिद्धगति प्राप्त नहीं करते हैं। तथा कोई देव आदि का ले गया जीव सर्व ही उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालों में सिद्धगति प्राप्त करता हैं।

तथा गति अपेक्षा प्रत्युत्पन्नग्राही नय की अपेक्षा सिद्धगति ही में सिद्ध होते हैं। भूतग्राही नय की अपेक्षा मनुष्य गति से सिद्धगति प्राप्त करते हैं।

तथा लिंग अपेक्षा प्रत्युत्पन्नग्राही नय अपेक्षा वेदरहित सिद्धगति है। तथा भूतग्राही नय अपेक्षा तीनों ही भाववेदों से क्षपकश्रेणी चढकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। द्रव्यवेद अपेक्षा पुरुषवेद से ही मुक्ति प्राप्त करते हैं अथवा निर्ग्रंथ लिंग से ही सिद्धगति होती है। तथा भूतनय की अपेक्षा सग्रन्थलिंग से भी मोक्ष होता है।

तथा तीर्थ दो प्रकार के हैं - कोई तो तीर्थङ्कर होकर मोक्ष पाते हैं और कोई सामान्य केवली होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। वह भी दो प्रकार से है, कोई तो तीर्थङ्कर विद्यमान हों, उस समय मोक्ष पाता है और कोई जिसकाल में तीर्थङ्कर विद्यमान न हों, उस काल में मोक्ष पाता है।

तथा चारित्र में प्रत्युत्पन्नग्राही नय की अपेक्षा तो चारित्रों का अभाव होकर ही सिद्ध होता है, वहाँ चारित्र नहीं है। तथा भूतग्राहीनय की अपेक्षा अनन्तर अपेक्षा तो यथाख्यातचारित्र से ही मोक्ष पाता है तथा अन्तर अपेक्षा सामायिक, छेदोपस्थापन, सूक्ष्मसांपराय, यथाख्यात - इन चारों ही से मोक्ष कहा जाता है। तथा किसी को परिहार विशुद्धि चारित्र हुआ हो तो पांचों ही से मोक्ष कहा जाता है।

प्रत्येक बुद्ध तो अपनी शक्ति ही से स्वयं ज्ञान प्राप्त करते हैं और बोधित बुद्ध अन्य के उपदेश से

ज्ञान प्राप्त करते हैं। कोई तो प्रत्येकबुद्ध (होता है और) मोक्ष प्राप्त करता है और कोई बोधितबुद्ध (होता है और) मोक्ष प्राप्त करता है। तथा बहुत तो प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा तो केलवज्ञान से सिद्ध हैं और भूतग्राहीनय की अपेक्षा कोई तो मति, श्रुत इन दोनों ज्ञानों से ही केवलज्ञान उपजाकर मोक्ष पाता है और कोई मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय-इन चारों ज्ञानों से केवलज्ञान उत्पन्न कर मोक्ष पाता है।

तथा अवगाहना उत्कृष्ट तो पांच सौ पच्चीस (५२५) धनुष की काय, जघन्य साढे तीन (३.५) हाथ से कुछ कम है। मध्य के बहुत भेद हैं, इनमें से किसी एक अवगाहना से सिद्ध गति पाता है। प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा देशोन (कुछ कम) जानना।

तथा अन्तर कहा वह बताते हैं - सिद्ध होते हैं उनमें जघन्य अन्तर का अभाव तो दो समय है और उत्कृष्ट आठ समय है तथा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर छह महीने है।

तथा संख्या अपेक्षा जघन्य रूप से एक समय में एक ही सिद्ध होता है और उत्कृष्ट एक समय में एक सौ आठ (१०८) जीव मोक्ष पाते हैं। क्षेत्र आदि की अपेक्षा भेदों को प्राप्त जीवों की परस्पर संख्या का ज्ञान कराना अल्पबहुत्व है। वही बताते हैं - प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा सिद्धक्षेत्र ही में सिद्ध होते हैं, वहाँ अल्पबहुत्व नहीं है। भूतग्राहीनय की अपेक्षा क्षेत्र सिद्ध दो प्रकार के हैं - १. जन्मसिद्ध २. संहरणसिद्ध। संहरणसिद्ध थोड़े हैं, अल्प हैं, इनसे संख्यातगुणे जन्मसिद्ध हैं। तथा क्षेत्र के विभाग से ऊर्ध्वलोक से सिद्ध हुये अल्प हैं, उनसे संख्यात गुणे अधोलोक से सिद्ध हुये हैं। उनसे संख्यातगुणे तिर्यग्लोकसिद्ध हैं। तथा सबसे कम जीव समुद्र से सिद्ध हुये हैं, उनसे संख्यातगुणे द्वीप से सिद्ध हुये हैं। इस तरह तो सामान्य कथन किया। विशेष कथन में सब से कम जीव लवण समुद्र से सिद्ध हुये हैं, उनसे संख्यातगुणे कालोदधि से सिद्ध हुये हैं, उनसे संख्यात गुणे जम्बू द्वीप से हुये सिद्ध हैं, उनसे संख्यात गुणे धातकीद्वीप से सिद्ध हुये हैं, उनसे संख्यातगुणे पुष्करार्ध से सिद्ध हुये हैं। इसी तरह काल आदि के विभाग से अल्प बहुत हैं।

काल के विभाग अपेक्षा उत्सर्पिणी काल में सिद्ध हुये, उनसे विशेष अधिक जीव अवसर्पिणी काल में सिद्ध हुये हैं तथा उत्सर्पिणी बिना अवसर्पिणी सिद्ध हुये है, वे उनसे संख्यात गुणे हैं। प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा एक समय में सिद्ध हुये, अत: इस अपेक्षा अल्पबहुत्व नहीं है। तथा गति में प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा तो अल्पबहुत्व है नहीं और भूतनय अपेक्षा अनन्तर अपेक्षा तो मनुष्य गति ही है, अत: अल्पबहुत्व नहीं है। एक गति के अन्तर अपेक्षा तिर्यंचगति से आकर मनुष्य होकर सिद्ध हुये, वे सबसे कम हैं। उनसे संख्यातगुणे मनुष्यगति से मनुष्य होकर सिद्ध हुये हैं। इनसे संख्यातगुणे नरक गति से मनुष्य होकर सिद्ध हुये हैं। उनसे संख्यातगुणे देवगति से मनुष्य होकर सिद्ध हुये हैं।

तथा वेद में प्रत्युत्पन्न नय से तो वेदरहित ही सिद्ध होते हैं, अत: अल्प बहुत नहीं है। भूतनय

अपेक्षा सबसे कम जीव तो नपुंसकवेद से श्रेणी चढकर सिद्ध हुये हैं। उनसे संख्यातगुणे स्त्रीवेद से श्रेणी चढकर सिद्ध हुये हैं, उनसे संख्यातगुणे पुरुषवेद से श्रेणी चढकर सिद्ध हुये हैं।

तथा तीर्थ में तीर्थंकर होकर सिद्ध होने वाले अल्प हैं, उनसे संख्यातगुणे सामान्यकेवली होकर सिद्ध हुये हैं।

तथा चारित्र में प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा चारित्र बिना ही सिद्ध हुये हैं, अत: अल्पबहुत्व नहीं है। तथा भूतग्राही नय अपेक्षा अनन्तर चारित्र यथाख्यातचारित्र से ही सिद्ध होते हैं, यहाँ भी अल्पबहुत्व नहीं है। तथा अन्तर सहित चारित्र की अपेक्षा पंचचारित्र से हुये अल्प हैं। उनसे संख्यातगुणे चार चारित्र से हुये हैं।

तथा प्रत्येक बुद्ध सिद्ध हुये, वे अल्प हैं और उनसे संख्यात गुणे बोधित बुद्ध हुये सिद्ध हैं।

तथा प्रज्ञान में प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा तो केवलज्ञान से सिद्ध हुये है, अत: अल्पबहुत्व नहीं है और भूतनय अपेक्षा दो ज्ञान से सिद्ध हुये अल्प हैं, उनसे संख्यातगुणे चार ज्ञान से हुये सिद्ध हैं और उनसे संख्यातगुणे तीन ज्ञान से हुये सिद्ध हैं।

तथा अवगाहना में जघन्य अवगाहना से सिद्ध हुये सबसे कम हैं। उनसे संख्यातगुणे उत्कृष्ट अवगाहना से सिद्ध हुये हैं और उनसे संख्यातगुणे मध्यम अवगाहना से सिद्ध हुये हैं।

तथा संख्या में एक समय में एक सौ आठ (१०८) सिद्ध हुये हों, वे सबसे कम हैं। उनसे अनन्तगुणे पचास (५०) तक की संख्या में हुये सिद्ध हैं। उनसे असंख्यातगुणे उनचास से लेकर पच्चीस (४९-२५) की संख्या में हुये सिद्ध हैं और उनसे संख्यातगुणे चौबीस से लेकर एक तक की संख्या में हुये सिद्ध हैं, ऐसा जानना।

यहाँ तक टीका का व्याख्यान हुआ।

तत्त्वार्थ का ही जिसमें अधिगम है, ऐसे मोक्षशास्त्र में दशमा अधिकार पूर्ण हुआ।

× × ×

स्वर्गापवर्गसुखमाप्तुमनोभिरार्यै, जैनेन्द्रशासनवरामृतसारभूता।
सर्वार्थसिद्धिरिति सद्भिरुपात्तनामा, तत्त्वार्थवृत्तिरनिशं मनसा प्रधार्या ।।१ ।।

अर्थ : जिनका मन स्वर्ग मोक्ष को पाने का है, ऐसे आर्य अर्थात् महंत पुरुषों द्वारा यह तत्त्वार्थ की वृत्ति निरन्तर मन में धारण करने योग्य है। यह जिनेन्द्र का शासन अर्थात् मतआज्ञा-मार्गरूपी उत्तम अमृत का सार है तथा सत्पुरुषों ने इसका नाम सर्वार्थसिद्धि रखा है।

तत्त्वार्थवृत्तिमुदितां विदितार्थतत्त्वा:, श्रुण्वन्ति ये परिपठन्ति सुधर्मभक्त्या।
हस्ते कृतं परमसिद्धिसुखामृतं तैर्मर्त्यामरेश्वरसुखेषु किमस्ति वाच्यम् ।।२ ।।

अर्थ : जो पुरुष इस तत्त्वार्थवृत्ति को भले प्रकार धर्म की भक्ति से सुनते हैं, भले प्रकार पढते हैं, वे तत्त्वार्थ का यथार्थस्वरूप जानने वाले होते हुये परमसिद्धि अर्थात् मोक्ष स्वरूप अमृत को हस्तगत (प्राप्त) करते हैं। अन्य चक्रवर्ती, इन्द्र आदि पदों के सुखों के विषय में कुछ कहने योग्य रह ही क्या गया है ? कुछ भी नहीं रहा।

येनेदमप्रतिहंत सकलार्थतत्त्वमुद्योतितं विमलकेवललोचनेन।
भक्त्या तमद्भूतगुणं प्रणमामि वीरमारान्नतामर गणार्चितपादपीठम् ।।३ ।।

अर्थ : मैं टीकाकार (आचार्य पूज्यपाद) तं अर्थात् वीर वर्द्धमान अंतिम परमदेव को भक्तिपूर्वक प्रणाम करता हूँ, जिनने यह निर्बाध सकल पदार्थ का स्वरूप यथार्थ कहा प्रगट किया है। उनने निर्मल केवलज्ञानरूपी नेत्रों से साक्षात देखकर इसे कहा है। वे अद्भुत आश्चर्यकारी गुणों अर्थात् अतिशय सहित हैं। उनका सिंहासन निकट आकर नमन करने वाले देवों के समूह से पूजित हैं अर्थात् सर्वदेवों के देव हैं।

इस तरह तत्त्वार्थ वृत्ति जिसका नाम सर्वार्थसिद्धि में तत्त्वार्थ का दशवां अध्याय पूर्ण हुआ।

इसका तात्पर्य तत्त्वार्थवार्तिक में कहा है, वह यहाँ लिखते हैं –

इस तरह निसर्ग और अधिगम में से एक से उत्पन्न तत्त्वार्थश्रद्धान स्वरूप सम्यग्दर्शन, जिसके शंका आदि अतिचारों से रहित होना तथा संवेग, अनुकंपा, आस्तिक्य प्रगट लक्षण हैं, को अंगीकार करके तथा उस ही की प्राप्ति से विशुद्ध हुये सम्यग्ज्ञान को अंगीकार कर तथा नाम आदि निक्षेप, प्रत्यक्ष, प्रमाण, निर्देश आदि सत्, संख्या आदि अनुयोग और नैगम आदि नय इत्यादि जो तत्त्वार्थ को जानने के उपाय उनसे जीवों के पारिणामिक, औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक भावों के स्वतत्त्व को जानकर तथा जीव के भोग के साधन जो अचेतन (तथा चेतन) पदार्थों के उत्पत्ति विनाश स्वभाव को जानने से विरक्त, तृष्णा रहित होता हुआ तीन गुप्ति, पांच समिति, दशलक्षणधर्म के आचरण से तथा इनका फल देखने से मोक्ष की प्राप्ति के लिये श्रद्धान और संवेग की वृद्धि की है तथा भावना से अपना स्वरूप प्रकट किया है, अनुप्रेक्षा के चिंतवन से परद्रव्य के त्याग को दृढ किया है तथा आत्मा को संवररूप किया है, इस ही से आस्रव रहित जो जाने से नवीन कर्म का आना नहीं है एवं बाह्य अभ्यंतर तप से परिषहों को जीतने से कर्म के फल को भोगने से तथा सम्यग्दृष्टि से लेकर जिन तक परिणामों की विशुद्धि से असंख्यातगुणी निर्जरा की बढती की प्राप्ति से पूर्वसंचित कर्मों की निर्जरा करता हुआ सामायिक से लेकर सूक्ष्मसांपराय तक जो संयमलब्धि के स्थान हैं उनकी उत्तरोत्तर शुद्धि की प्राप्ति से पुलाक आदि निर्ग्रन्थ मुनियों का अनुक्रम से संयम पालता, उनकी उत्तरोत्तर बढते विशुद्धि के स्थान विशेष की प्राप्ति सहित होता हुआ, आर्तरौद्र ध्यान का अत्यंत अभाव कर धर्मध्यान के बल से समाधि का बल प्राप्त

कर तथा शुरू के दो शुक्ल ध्यानों में से क्रम से एक में वर्तमान हुआ, पहले कहीं ऋद्धियों से युक्त होकर उनमें अनुराग नहीं लगता हुआ, पूर्वोदित अनुक्रम से मोह आदि की प्रकृतियों का क्षय कर सर्वज्ञ ज्ञान की लक्ष्मी को भोगकर फिर समस्त कर्म के नाश से संसार के बंधन से छूटता हुआ, जैसे अग्नि जितना ईंधन होता है, उतने समस्त को जलाकर फिर जलाने को कुछ नहीं रहे, तब उपादान कारण के बिना फिर नहीं उत्पन्न होती बुझजाती है, वैसे ही पहले पाये पर्याय के वियोग से तथा आगम भव होने के कारण के अभाव से आगामी भव की उत्पत्ति के अभाव से संसार का अंत होते संसार दु:ख से रहित होकर जिसमें दु:ख नहीं है ऐसा ऐकान्तिक तथा जिसका अन्त नहीं ऐसे अनन्त और जिसकी उपमा नहीं ऐसे निरूपम तथा जिसमें हीनाधिकपना नहीं है ऐसा निरतिशय जो निर्वाण सुख है उसे यह आत्मा प्राप्त करता है। तत्त्वार्थ की भावना का ऐसा फल है।

छप्पय–

घातिकर्म कू नाश ज्ञानकेवल उपजावे। फेरि बंध के हेतु तास नीडे नहीं आवे।।
पूर्वकर्म निर्जरा ठानि सर्वकर्म नशावे। भावकर्म हूँ मेटि शेष क्षायिक रह जावे।।
तब ऊरध गमन स्वभाव लहि लोक अंत धावे सदा।
इम नित्य अनुपम अमित सुख भरे सिद्ध वंदौ मुदा।।

इस तरह इस तत्त्वार्थशास्त्र में दशम अध्याय की वचनिका पूर्ण हुई।

आगे तत्त्वार्थसूत्र के **दशों अध्यायों का संक्षेप में अर्थ** लिखते हैं –

पहले अध्याय के प्रथम सूत्र में तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता को मोक्षमार्ग कहा है। आगे दूसरे सूत्र में सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा। तीसरे सूत्र में सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति दो प्रकार से होती है यह कहा। चौथे सूत्र में सम्यग्दर्शन के विषयभूत सात तत्त्व कहे तथा फिर इनके स्थापन के लिये व्यवहार का व्यभिचार मिटाने के लिये नाम आदि चार निक्षेप बताये। आगे कहा कि प्रमाण नयों से सम्यग्दर्शन आदि तथा उनका विषय जीव आदि तत्त्वों का अधिगम होता है तथा निर्देश आदि छ: और सत् आदि आठ – इस तरह चौदह अनुयोगों से अधिगम होता है, ऐसा कहा। आगे ज्ञान के मति आदि पांच भेद कहे और उनके दो प्रकार प्रमाण कहे। परोक्ष दो, प्रत्यक्ष तीन तथा मतिज्ञान की उत्पत्ति का कारण कह उसके अवग्रह आदि चार भेद संक्षेप में कहे, जो कुल तीन सौ छत्तीस (३३६) होते हैं। फिर मन:पर्ययज्ञान का स्वरूप कहा, उसके दो भेदों का विशेष बताकर अवधि और मन:पर्ययज्ञान का विशेष (अन्तर) बताया। आगे तीन सूत्रों में पांचों ज्ञान का विषय बताया और एक जीव के एककाल में चार तक ज्ञान होते हैं, ऐसा कहा। फिर मति, श्रुत, अवधिज्ञान विपर्यय स्वरूप भी होते हैं तथा उसका कारण बताया। फिर नैगम आदि सात नयों के नाम बताये। इस तरह पहला अध्याय पूर्ण किया।

दूसरे अध्याय में जीवतत्त्व का निरूपण किया। वहाँ सबसे पहले जीव के औपशमिक आदि पांच भाव और उनके त्रेपन (५३) भेद सात सूत्रों में बताये। आगे जीव का प्रसिद्ध धर्म देखकर उपयोग को लक्षण कहा। उसके आठ भेद कहे। उपयोग दर्शन और ज्ञानोपयोगरूप से दो प्रकार हैं, उसमें दर्शनोपयोग के चार और ज्ञानोपयोग के आठ भेद हैं ऐसा जानना। आगे जीव के भेद बताये, वहाँ संसारी और मुक्त तथा संसारी में संज्ञी, असंज्ञी, त्रस-स्थावर, त्रस के भेद दो इन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक कहे। तथा पांच इन्द्रियों के द्रव्यइन्द्रिय भावेन्द्रिय से भेद उनके नाम और विषय कहे। आगे एकेन्द्रिय आदि जीवों के कितनी इन्द्रियाँ पायी जाती हैं, उनका निरूपण और संज्ञी जीव कौन है ऐसा कहा तथा जीव परभव को गमन करे उसके गमन का स्वरूप बताया। आगे जन्म के भेद, योनि के भेद और गर्भज कैसे उत्पन्न होते हैं, देव, नारकी, सम्मूर्छन कैसे उत्पन्न होते हैं, उनका निर्णय है। आगे पांच शरीरों के नाम बताये हैं और इनकी सूक्ष्मस्थूलता का स्वरूप कहा है। तथा ये किनके किस प्रकार उत्पन्न होते हैं, उनका निरूपण है। आगे जिनके जैसा वेद हो उसको कहकर जिनके उदय उदीरणा से मरण हो, उनका नियम कहकर अध्याय समाप्त किया है।

तीसरे अध्याय में जीव के रहने का जो लोक है उसके अधोलोक मध्यलोक का निरूपण है। उसमें अधोलोक में सात पृथ्वियों के नाम कहे, उनमें नारकी जीव उत्पन्न होते हैं। उनके बिलों का परिमाण कहा तथा जीवों के अशुभ परिणाम आदि कहकर उनके परस्पर और असुरों द्वारा किये दु:खों को बताकर उनकी आयु का परिमाण कहा। आगे मध्यलोक में जम्बूद्वीप आदि लवण समुद्र आदि द्वीपों और समुद्रों का व्यास और आकार कहा। तथा जम्बूद्वीप का स्वरूप कहकर उसमें मध्य में क्षेत्र हैं कुलाचल पर्वत हैं उनके नाम, वर्ण, आकार कहे। तथा कुलाचलों के ऊपर ह्रद हैं, उनके नाम, परिमाण आदि तथा उनमें कमल हैं उनके व्यास आदि तथा उनमें रहने वाली देवियों के नाम, परिवार, आयु बताई। आगे ह्रदों में से गंगा आदि नदियां निकलती हैं उनके नाम, परिवार गमन कहा। फिर भरतक्षेत्र का विस्तार कहकर अन्य क्षेत्रों का विस्तार बताया तथा भरत और ऐरावत क्षेत्र में काल घटते बढते है अन्य में एक सा रहता है, ऐसा कहकर भोगभूमि के जीवों की स्थिति बताई तथा भरत आदि क्षेत्र धातकीखंड और पुष्करद्वीप में भी हैं वे बताये। मनुष्यक्षेत्र की मर्यादा बताई। कर्मभूमि के क्षेत्र कहे। फिर मनुष्य तिर्यंचों की आयु का प्रमाण कहकर अध्याय पूरा किया है।

चौथे अध्याय में ऊर्ध्व लोक का वर्णन है। उसमें चार प्रकार के देव बताये, उनकी लश्यायें बताई तथा इन्द्र आदि दश भेद बताये। इन्द्रों की संख्या और उनके कामसेवन की रीति कही। फिर भवनवासियों के भेद, व्यंतरों के भेद, ज्योतिषियों के भेद बताये। तथा ज्योतिषियों (के विमानों) के गमन का प्रकार और मनुष्यक्षेत्र में इनके कारण काल का विभाग (वर्ष-मास-दिन आदि) होते हैं।

मनुष्यक्षेत्र से आगे (ये ज्योतिष विमान) अवस्थित हैं ऐसा ऊपर-ऊपर बढते बढते हैं और गमन आदि घटते घटते है कहकर उनकी लेश्या बतायी। ग्रैवयक से पहले कल्प कहे। पांचवें स्वर्ग में लोकान्तिक देव हैं उनके जातिभेद के नाम कहे। तथा औपपादिक मनुष्यों के अतिरिक्त रहे जीव सर्व तिर्यंच हैं ऐसा कहा। आगे उन देवों की आयु के निरूपण में भवनवासी देवों की उत्कृष्ट आयु कही और स्वर्गवासियों की उत्कृष्ट और जघन्य आयु कही। नारकियों की जघन्य आयु कही। भवनवासी व्यन्तरों की जघन्य आयु कही तथा व्यंतर ज्योतिषियों की उत्कृष्ट आयु कही। इस तरह चौथा अध्याय पूर्ण किया।

पांचवें अध्याय में प्रधानता से अजीव तत्व का निरूपण है। वहाँ धर्म आदि चार अजीवास्तिकाय कहे और जीवास्तिकाय कहा। इन पांचों को द्रव्य कहा। इनमें चार अरूपी हैं, पुद्गल रूपी है और आकाश तक तीन (धर्म, अधर्म, आकाश) एक एक द्रव्य हैं और क्रियारहित हैं ऐसा कहा। धर्म, अधर्म और एक जीव के असंख्यात प्रदेश बताये, आकाश के अनन्त प्रदेश बताये। पुद्गल स्कंध की अपेक्षा तीनों प्रकार कहे। अणु के प्रदेश नहीं हैं और आकाश का उपकार अवगाहना, धर्म अधर्म का उपकार गति स्थिति, जीव को पुद्गल के उपकार शरीर आदि जीवों के परस्पर उपकार और कालद्रव्य का उपकार वर्तना कहा। पुद्गल के स्पर्श आदि गुण, शब्द आदि पर्यायें बताईं। अणु स्कंध के भेद कहे। द्रव्य का सामान्य लक्षण सत् बताया। नित्यता का स्वरूप कहा तथा मुख्य गौण करके नयों का उपयोग करना कहा। पुद्गल के स्कंध बनने का विधान कहा। द्रव्य का विशेष लक्षण कहा तथा कालद्रव्य का कथन किया तथा गुण पर्याय का स्वरूप कहकर पांचवां अध्याय पूर्ण किया।

छठे अध्याय में आस्रव तत्व का सामान्य निरूपण है। वहाँ मन-वचन-काय योग को आस्रव कहा है। तथा पुण्य-पाप दो भेद कहे हैं। सकषायी के सांपरायिक आस्रव होता है और अकषायी को ईर्यापथ आस्रव होता है, यह कहा। सांपरायिक आस्रव के इन्द्रिय आदि भेद कहे और उनके तीव्र मंद आदि भावों के विशेष कहे तथा जीव अजीव को आस्रव का अधिकरण कहकर जीवाधिकरण के संरंभ आदि एक सौ आठ (१०८) भेद कहे तथा इनके विशेष से अनेक भेद हो सकते है यह कहा तथा अजीवाधिकरण के निर्वर्तना आदि अनेक भेद कहे। आगे अनुभाग के तीव्र मंद बंध होने की अपेक्षा आठ कर्मों के आस्रव होने के अलग अलग कारण कहे। ये बताकर छठा अध्याय पूर्ण किया।

सातवें अध्याय में पुण्यास्रव का निरूपण है। वहाँ हिंसा आदि पांच पापों का त्याग तो व्रत होता है, ऐसा कहकर उनके एकदेश से सर्व अणुव्रत है ऐसा कहा। उन व्रतों को दृढ करने के लिये पांच-पांच भावनायें बतायीं तथा इस लोक परलोक में पांच पाप दु:खदाई तथा दु:ख ही है ऐसा कहा,

उनकी भावना रखना। तथा मैत्री आदि चार भावना कही। तथा संसार देह के स्वभाव की भावना कही। आगे पांच पापों के अलग-अलग लक्षण कहे। व्रती निःशल्य होता है तथा वह मुनि और गृहस्थ हो सकता है, वहाँ गृहस्थ के अणुव्रत और दिग्विरति आदि शील कहे। तथा अन्त में सल्लेखना कही तथा एक सम्यक्त्व, पांच अणुव्रत, सात शीलव्रत और एक सल्लेखना इन चौदहों के पांच पांच अतिचार अलग-अलग सूत्रों से कहे। तथा दान का और उसका विशेष बताया। इस प्रकार सातवां अध्याय पूर्ण किया।

आठवें अध्याय में बंधतत्व का निरूपण है। वहाँ मिथ्यात्व आदि को बंध का कारण कहकर बंध का स्वरूप कहा। आगे उसके चार भेद कहकर, उनमें से पहले प्रकृति बंध की मूल प्रकृतियाँ आठ, उत्तर प्रकृतियाँ एक सौ अड़तालीस (१४८) तथा उनके अलग-अलग नाम कहे। आगे आठों कर्मों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थितियाँ अलग-अलग कहीं। तथा अनुभव (अनुभाग) बंध का स्वरूप कहा। फिर प्रदेशबंध का स्वरूप कहा। आगे पुण्य-पाप प्रकृतियों के भेद कहकर आठवां अध्याय पूरा किया।

नवमें अध्याय में संवर तत्त्व और निर्जरा तत्त्व का निरूपण है। वहाँ आस्रव के निरोध को संवर कहा है। यह संवर, गुप्ति, समिति आदि कारणों से होता है-ऐसा कहकर गुप्ति का स्वरूप, समिति का स्वरूप और भेद, धर्म के भेद, अनुप्रेक्षा के भेद, परिषह के विशेष करके भेदों का कथन कर चारित्र के भेदों का निरूपण किया। आगे तप से निर्जरा होती है यह कहा। उस तप के बारह भेदों के उत्तर भेद और ध्यान तप के चार भेदों में आर्तध्यान, रौद्रध्यान को अशुभ तथा धर्मध्यान, शुक्लध्यान को शुभ कहा, उनके भेदों का विशेष निरूपण किया। आगे सम्यग्दृष्टि आदि दश स्थानों में असंख्यातगुणी निर्जरा कही। पुलाक आदि पांच प्रकार के मुनियों का निरूपण कर नवमां अध्याय पूर्ण किया।

दशमें अध्याय में मोक्ष तत्व का निरूपण है। वहाँ केवलज्ञान की उत्पत्ति का विधान कहकर उसपूर्वक मोक्ष का स्वरूप कहा तथा द्रव्यभावरूप सर्व कर्मों के अभाव से मोक्ष होता है तथा जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव है यह कहा। ऊर्ध्वगमन के कारण लोक के अन्त में जो स्थित होता है यह कहा और उसके दृष्टांत कहे। धर्मास्तिकाय के बिना अलोक में गमन नहीं है ऐसा कहा तथा कथंचित् अपेक्षा सिद्धों में भेद कहने का सूत्र कहकर दशमा अध्याय पूर्ण किया।

ऐसे मोक्षमार्ग के निरूपणस्वरूप जो (का निरूपण करने वाला जो) तत्त्वार्थसूत्र है, उसके दश अध्यायों के कथन को भली प्रकार धारणकर भव्यजीव है, वे मोक्षमार्ग में प्रवर्तन करने का उद्यम करें तो शाश्वत सुखरूप निर्वाण की प्राप्ति हो ऐसा श्रीगुरु का उपदेश है।

आगे इस वचनिका के होने (लिखे जाने) का सम्बन्ध लिखते हैं –

(दोहा)

इष्टदेव को नमन करि, सरल चौपाई बंध।
इस भाषा के होने का , कहूँ हेतु सम्बन्ध ।।१।।

(चौपाई)

जम्बुद्वीप भरत सुनिवेश, आरिज मध्य ढुंढाहड देश।
पुर जयपुर तहां सूवस बसै, नृप जगतेश अनुपम लसै।।२।।
ताके राज मांहि सुख चैन, धरै लोक कहूं नहीं फैन।
अपने अपने मत सब चलैं, शंक नाहिं धारैं शुभ फलैं।।३।।
नृप के मंत्री सब मतिमान, राजनीति में निपुण पुरान।
सर्व ही नृप के हित कों चहैं, ईति भीति टारैं सुख लहै।।४।।
तिनमें रायचंद गुण धरै, तापरि कृपा भूप अति करे।
ताकै जैन धर्म की लाग, सब जैननिसूं अनुराग।।५।।
करि प्रतिष्ठा मंदिर नयौ, चन्द्रप्रभ जिन थापन थयौ।
ताकरि पुण्य बढौ यश भयो, सर्व जेनिनिकौ मन हरखयौ।।६।।
ताकै ढिग हम थिरता पाय, करी वचनिका यह मन लाय।
यह तो राजतणू संबंध, कह्यो सुणु अब अन्य निबंध।।७।।
शैली तेरापंथ सुपन्थ, तामें बडे गुनी गुनग्रंथ।
तिनकी संगति तैं कछु बोध, पायौ मैं अध्यातमसोध।।८।।
शास्त्रज्ञान अधिकौ नहि पढ्यौ, धर्मप्रसाद राग बहु बढ्यो।
तबै विचार भयौ हियमांहि, तत्वारथकौ ज्ञान करांहि।।९।।
भयौ बोध तब कछु चिंतयो, करन वचनिका मन उमगयौ।
सब साधरमी प्रेरण करी, ऐसैं मैं यह विधि उच्चरी।।१०।।
काल अनादि भ्रमत संसार, पायौ नर भव मैं शुभकार।
जन्म फागई लयौ सुथानि, मोतीराम पिताकै आनि।।११।।
पायौ नाम तहां जयचन्द, यह परजाय तणूं मकरंद।
द्रव्यदृष्टि मैं देखूं जवै, मेरा नाम आतमा कवै।।१२।।
गोत छाबड़ा श्रावकधर्म, जामें भली क्रिया शुभकर्म।
ग्यारह वर्ष अवस्था भई, तब जिनमारग शुधि लही।।१३।।

आन इष्ट कौ ध्यान अयोगि, अपने इष्ट चलन शुभ भोगि।
तहां दूजौ मंदि जिनराय, तेरामंथ पंथ तहां साज।।१४।।
देवधर्म गुरु सरधा कथा, होय जहां जन भाषैं यथा।
तब मो मन उमग्यो तहां चलो, जो अपनूं करनो है भलो।।१५।।
जाय तहां श्रद्धा दृढ करी, मिथ्याबुद्धि सबै परिहरि।
निमित्त पाय जयपुरमें आय, बडी जु शैली देखी भाय।।१६।।
गुणी लोक साधर्मी भले, ज्ञानी पंडित बहुत मिले।
पहले थे वंशीधर नाम, धरै प्रभाव भाव शुभ ठाम।।१७।।
टोडरमल पंडित मति खरी, गोमटसार वचनिकाकरी।
ताकी महिमा सबजन करैं, वाचै पढै बुद्धि विस्तरै।।१८।।
दौलतिराम गुणी अधिकाय, पंडितराय राजमै जाय।
ताकी बुद्धि लसै सब खरी, तीन पुराण वचनिका करी।।१९।।
रायमल्ल त्यागी गृहवास, महाराम व्रतशील निवास।
मैं हूं इनकी संगति ठानि, बुधि सारू जिनवाणी जानि।।२०।।
लखे पुराण आदि उत्तरा और पुराण चरित्र जु खरा।
गोमटसार लब्धिपण सार, क्षपणसार त्रिलोक सुसार।।२१।।
टोडरमल कृत भाषा तणां, पाय सहाय संस्कृति भणा।
मूलाचार श्रावकाचार, लखे विचारे बुद्धि अनुसार।।२२।।
समयसार अध्यातमसार, प्रवचनसार रहसि मनधरि।
पंचासतिकाया ए तीनि, नारक त्रयो कहावै वीन।।२३।।
तत्वारथ सुत्र की टीका, सर्वार्थसिद्धि नाम सुठीका।
दूजी तत्वारथवार्तिका, श्लोकरूप वार्तिक तार्तिका।।२४।।
तिनको कछू कियौ अभ्यास, बुद्धि जिसी जिम पायौ ख्याल।
पद्धति न्याय तणी इनमांहि, सो भी कछू विचारी जाहि।।२५।।
ग्रंथ परिक्षामुख संभलो, है प्रमाण कौ वर्णन भलौ।
देवागम स्तुति टीकासार, अष्टसहस्री नाम सुधार।।२६।।
आप्तपरीक्षा देखी सार, अर प्रमाणनिर्णय निरधार।
न्यायदीपिका सुगम प्रचार, सो पहलैं पढने में सार।।२७।।
देवसेन कृत गाथाबंध, है नयक्त्रक्र बढौ अर बंध।
और ग्रन्थ जिनमत में धणे, पाये जे शुभविधिवश वणें।।२८।।

ते भी कछु विचारै जबै, स्याद्वाद् मैं समझे तबै।
नयप्रमाण की कथनी महा, गुरुबिन पार न पावै जहां ।।२९ ।।
पै अभ्यास जोर बहुकियौ, बीजरूप सामान्य जु लीयौ।
और ग्रन्थ बुधिसार लखे, अपने मत पर के मत अखे ।।३० ।।
नंदलाल मेरा सुत गुनी, बालपने तैं विधा सुनी।
पंडित भयो बढौ परवीन, ताहू ने प्रेरण यह कीन ।।३१ ।।
कोई ग्रन्थवचनिका करो, जामे सब समझे इम धरो।
मैं हूं तबै विचारी एम, रची वचनिका यह धरि प्रेम ।।३२ ।।
हीनाधिक यामे कछू होय, पंडित लोग सुधारो सोय।
ख्यातिलाभ पूजा के हेतु, रचि नाहिं इम शुभफल हेतु ।।३३ ।।
बांचौ पढो पढावौ सुनूं, तत्वार्थ कूं जानूं गुनू।
करौ प्रसिद्धि सबैधरि चाव, सतपुरुषों कौ यहै स्वभाव ।।३४ ।।
हीनाधिक लखि हंसियसो नाहिं, अल्पबुद्धि में क्षमा कराहिं।
यह मेरी प्रार्थना संभारि, अपनी उत्तमता कौं धारि ।।३५ ।।

(सवैया)

शब्दकौ उच्चार सो है पुदगल विकार और अक्षर प्रकार इच्छा जीव की मिलै जवैं।
श्याही पत्र लेखनी हू पुदगल दरवि जानूं क्रिया जीव के प्रदेश इच्छातैं हलै तवै ।।
ग्रंथ रवने कौ राग मोह कौ विकार शुभ ए तौ सबै पुदगल हैं जीव कौ कहां फबै।
तातें करने कौ अभिमान तजो पंडित हो चेतनस्वरूप आप लखौ सो भलै अवैं ।।३६ ।।

(दोहा)

सेवत्सर विक्रम तणूं, शिखि रस गज शशि अंक।
चैतशुक्ल तिथि पंचमी, पूरण पाठ निशंक ।।३७ ।।

(छप्पय)

मंगलमय अरहंत सिद्ध मंगल विनिकाई।
आचारज उवझाय साधु मंगल सुखदाई ।।
वाणी मंगलरूप स्यातपद मुद्रित सांची।
धर्मशुद्ध निजरूप क्षमादिक हैं गुणवाची ।।
दु:ख पाप गालि सुख कों करै यह मंगल कौ अरथ है।
सब कारिज करि मंगल चहै हमहूं कु यह सुपंथ है ।।३८ ।।

।। समाप्त ।।